साधना और सिद्धि

2/209

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी

योग भारतवर्ष की प्राचीनतम रहस्य-विद्या है। भारत ने ही विश्व को योग-विद्या का ज्ञान दिया है। इसका आधार कठोर साधना और तपस्या है। इससे ही प्रतिभा और ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास होता है। इस विद्या से ही अनन्त सिद्धियाँ और विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस विद्या की आद्योपान्त विधि बताई गई है। इसमें सम्पूर्ण योगविद्या का संक्षिप्त विवेचन है।

यह ग्रन्थ १० अध्यायों में विभक्त है। अध्याय १ में योग के आठ अंगों का संक्षिप्त विवरण है। साथ ही ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और हठयोग की रूपरेखा दी गई है। अध्याय २ में शरीर-संस्थान के वर्णन में मस्तिष्क, हृदय, श्वसन-संस्थान, स्नायु-संस्थान, पाचन-संस्थान, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों एवं सात चक्रों का वर्णन है। अध्याय ३ में अतिलाभप्रद २५ आसनों एवं नेति-धौति आदि षट्कर्मों की पूरी विधि दी गई है। अध्याय ४ में प्राणायाम, उसके भेद, बन्ध और मुद्राओं का विस्तृत विवेचन है। अध्याय ५ में प्रत्याहार और धारणा की विविध विधियों का रोचक विवेचन है। अध्याय ६ में जैन, बौद्ध एवं श्री अरविन्द की ध्यानविधि का समन्वय करते हुए विविध ध्यान-पद्धतियों का विवेचन है। अध्याय ७ में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के कार्यों का वर्णन है। अध्याय ८ में कुण्डलिनी-जागरण और समाधि की विधियाँ दी गई हैं। अध्याय ९ में १५५ दिव्य-ज्योतियों के दर्शन की विधि दी गई है। अध्याय १० में ५० प्रमुख रोगों की चिकित्सा-विधि दी गई है।

पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी वेदों के मूर्धन्य विद्वान् होने के साथ ही उच्चकोटि के साधक हैं। उन्होंने योग और आत्मसाक्षात्कार जैसे गूढ़ विषय को अति सरल और सुबोध भाषा में प्रस्तुत कर जनहित का महान् कार्य किया है।

मूल्य : २५०.००

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
पुस्तकालय
विभाग
शान्ति कुंज, हरिद्वार
ख2/209

साधना और सिद्धि

(Yoga and Self-realisation)

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
पुस्तकालय विभाग
शान्ति कुंज, हरिद्वार

282/209

लेखक

पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी आचार्य

एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी), एम०ओ०एल०, डी० फिल्०,
पी० ई० एस० (अ० प्रा०), विद्याभास्कर, साहित्यरत्न, व्याकरणाचार्य

निदेशक

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्

ज्ञानपुर (वाराणसी)

प्रणेता—'अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन', 'संस्कृत-व्याकरण',
'संस्कृत निबन्ध-शतकम्' (तीनों उ० प्र० शासन द्वारा सम्मानित),
'भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र', 'राष्ट्र-गीताञ्जलिः' आदि।

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

SĀDHANĀ AUR SIDDHI

(Yoga and Self-realisation)

by

Dr. Kapil Deva Dvivedi

ISBN : 81-7124-332-0

प्रथम संस्करण : २००३ ई०

मूल्य : दो सौ पचास रुपये

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

फोन व फैक्स : (०५४२) २३५३०८२, २३५३७४१

E-mail : vvp@vsnl.com ● E-mail : vvp@ndb.vsnl.net.in

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
पुस्तकालय विभाग
शान्तिकुंज हरिद्वार
ख2/206

प्राक्कथन

योग-विद्या भारतवर्ष की प्राचीनतम गुप्त विद्या है। इसको ही गुह्यविद्या और रहस्य विद्या कहते हैं। इसका आधार कठोर तपस्या और साधना है। इस विद्या के आधार पर ही प्राचीन ऋषि-मुनियों ने प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों का रहस्यात्मक ज्ञान प्राप्त किया था। जल, वायु, अग्नि आदि की प्राकृतिक शक्तियों का वैज्ञानिक स्वरूप ज्ञात किया था। योग-विद्या केवल प्राकृतिक तत्त्वों की वैज्ञानिक समीक्षा तक ही सीमित न थी, अपितु इसका उद्देश्य आत्मा, परमात्मा एवं ब्रह्म का स्वरूप ज्ञात करके मोक्ष प्राप्त करना, जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होना, आत्म-साक्षात्कार करना था।

योग-साधना के द्वारा मनुष्य आत्मा में निहित अनन्त शक्तियों, ऋद्धि-सिद्धियों तथा विभूतियों को प्राप्त कर सकता है, जिससे वह अपना ही नहीं, अपितु विश्व का, समाज का और राष्ट्र का अत्यधिक कल्याण कर सकता है। योग-साधना शारीरिक और आत्मिक उन्नति का सर्वोत्तम साधन है। इसके विधि-विधान का विवेचन योगशास्त्र है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसका ही विस्तृत वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ १० अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में योग का स्वरूप, योग का महत्त्व, योग की विभिन्न विधियों राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग और हठयोग का विवेचन है। साथ ही योग के आठ अंगों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में शरीर-संस्थान का विस्तृत वर्णन है। इसमें मस्तिष्क, हृदय, पाचन-संस्थान, श्वसन-संस्थान आदि का वैज्ञानिक विवेचन है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के क्रियाकलाप का वर्णन है। शरीर में विद्यमान सात चक्रों का महत्त्व भी बताया गया है।

तृतीय अध्याय में २५ आसनों की विधि एवं लाभ आदि का वर्णन है। साथ ही नेति-धौति आदि षट्कर्मों की विधि एवं उपयोगिता का वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय में प्राणायाम के भेदों, उनकी विधि एवं उपयोगिता का वर्णन है। साथ ही बन्ध और मुद्राओं का भी विवेचन किया गया है।

पंचम अध्याय में प्रत्याहार का महत्त्व और उसकी विधि दी गई है। इसके साथ ही धारणा की विभिन्न विधियों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में ध्यान की विभिन्न विधियों का विस्तृत विवेचन है। इसमें बौद्धदर्शन, जैनदर्शन एवं श्री अरविन्द-दर्शन में वर्णित ध्यान की विधियों का भी विशद विवेचन है।

सप्तम अध्याय में अन्त:करण-चतुष्टय के वर्णन में मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के क्रियाकलाप का विस्तृत विवेचन है।

अष्टम अध्याय में कुंडलिनी-जागरण एवं समाधि की विभिन्न विधियों का विशद विवेचन हुआ है।

नवम अध्याय में स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और समष्टि जगत् में विद्यमान ज्योतियों के दर्शन का वर्णन है।

दशम अध्याय में योग एवं प्राकृतिक-चिकित्सा के द्वारा साध्य ५० रोगों का वर्णन है।

प्रयत्न किया गया है कि योग-विषयक समस्त सामग्री इस ग्रन्थ में एकत्र प्राप्त हो सके। कोई भी आवश्यक एवं उपयोगी सामग्री छूटने न पावे। साधकों के लिए आवश्यकतानुसार उपयोगी निर्देश भी साथ ही दिए गए हैं।

प्रयत्न किया गया है कि साधना के गूढ़ रहस्यों को सरल भाषा में प्रस्तुत किया जाए। साधकों के लिए उपयोगी ग्रन्थों की सूची भी अन्त में दी गई है।

आशा है यह ग्रन्थ साधकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा और उनके जीवन को उन्नति के शिखर पर ले जाएगा।

कपिलदेव द्विवेदी

ज्ञानपुर (भदोही)
दिनांक २-१०-२००२ ई०
(गांधी-जयन्ती)

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
पुस्तकालय
विभाग
शान्तिकुंज हरिद्वार
२५२/२०६

विषय-सूची

(सूचना-अंक पृष्ठबोधक हैं)

अध्याय १ — पृष्ठ

भूमिका — १-४०

१. योग क्या है? — १

योग का अर्थ १, योग क्या है? १, योग की उपयोगिता और महत्त्व १

२. साधना का स्वरूप, उद्देश्य और आधार — २

साधना का स्वरूप २, साधना का उद्देश्य ३, साधना के दो पक्ष ४, भावात्मक पक्ष ४, क्रियात्मक पक्ष ५, साधना के आधार ६, साधना की विधि ६

३. साधक के कर्तव्य — ९

४. साधना के विघ्न — १२

५. वेदों के योग-विज्ञान — १५

६. योग की कतिपय विभिन्न विधियाँ — १८

राजयोग १८, ज्ञानयोग १९, कर्मयोग १९, भक्तियोग २०, ध्यानयोग २१, हठयोग २२

७. योग के आठ अंगों का संक्षिप्त परिचय — २३

यम २३, नियम २५, आसन २८, प्राणायाम २८, प्रत्याहार ३०, धारणा ३०, ध्यान ३१, समाधि ३२

८. तीन शरीर — ३३

९. पाँच कोश — ३४

अन्नमय कोश ३४, प्राणमय कोश ३५, मनोमय कोश ३५, विज्ञानमय कोश ३५, आनन्दमय कोश ३६

१०. दीर्घायु के कुछ रहस्य — ३६

दीर्घजीवियों के निजी अनुभव ३९

अध्याय २

अन्नमय कोश, शरीर-संस्थान — ४१-७४

१. स्थूल शरीर — ४१

मानव शरीर के संघटक ४१, कोशिकाएँ ४१, ऊतक ४२, अंग ४२, प्रणाली, तन्त्र ४२

२. अस्थि-संस्थान ४२
३. मांसपेशी संस्थान ४३
४. पाचन-संस्थान, पाचन-तंत्र ४४
५. श्वसन-संस्थान, श्वसन-तंत्र ४७
६. रक्त-संचार-संस्थान ४९
७. विसर्जन तंत्र, विसर्जन संस्थान ५५
८. ग्रन्थि-तंत्र, रसग्रन्थि-संस्थान ५६
अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ ५६, पीनियल ग्रन्थि ५६, पिट्यूटरी या पीयूष ग्रन्थि ५८, थाइराइड या चुल्लिका ग्रन्थि ५८, पैराथाइराइड या उपचुल्लिका ग्रन्थि ५९, थाइमस ग्रन्थि ६०, एड्रीनल या अधिवृक्क ग्रन्थि ६०
९. प्रजनन-तंत्र ६१
शुक्र ग्रन्थि ६१, डिम्ब ग्रन्थि ६१
१०. स्नायु-संस्थान, तन्त्रिका-तंत्र ६१
केन्द्रीय स्नायु-संस्थान ६२, मस्तिष्क ६२, अग्र मस्तिष्क ६३, हाइपोथलमस ६३, मध्य मस्तिष्क ६३, पश्च मस्तिष्क ६४, मेरुरज्जु ६४, प्रान्तस्थ स्नायु-संस्थान ६९, स्वतंत्र स्नायु-संस्थान ६९, संवेदी तन्त्र ६९, सहसंवेदी तन्त्र ७१, योगसाधना और मेरुदंड ७१
११. चक्रों का विवरण ७१
चक्र क्या हैं ? ७१, मूलाधार चक्र ७२, स्वाधिष्ठान चक्र ७२, मणिपूर चक्र ७२, अनाहत चक्र ७३, विशुद्ध चक्र ७३, आज्ञाचक्र ७३, सहस्रार चक्र ७४

अध्याय ३
अन्नमय कोश, योगासन ७५-९६
१. प्रमुख आसनों की विधि और उनके लाभ ७५
आसन का स्वरूप ७५, आसनों की उपयोगिता ७५, आवश्यक निर्देश ७६, ध्यान-हेतु उपयोगी आसन ७७, सिद्धासन ७७, पद्मासन ७८, स्वस्तिक आसन ७८, सुखासन ७९, वज्रासन ७९, खड़े होकर किए जाने वाले आसन ८०, ताड़ासन ८०, कोणासन ८०, पाद-हस्तासन ८०, बैठकर किए जाने वाले आसन ८१, पश्चिमोत्तान आसन ८१, जानुशिरासन ८२, पीठ के बल लेटकर किए जाने वाले आसन ८२, उत्तानपाद आसन ८२, नौकासन

८३, पवनमुक्तासन ८३, पादोत्तान आसन ८४, सर्वांग आसन ८४, हलासन ८५, विपरीतकरणी आसन ८५, पेट के बल लेटकर किए जाने वाले आसन ८६, नौकासन ८६, भुजंगासन ८६, शलभासन ८७, धनुरासन ८७, मयूरासन ८८ विविध आसन ८८, शीर्षासन ८८, शवासन ८९,

२. शुद्धिक्रियाएँ, षट्कर्म ९०

धौति क्रिया ९०, वमन धौति, कुंजल क्रिया, गजकरणी ९१, वस्त्र धौति ९१, दन्त धौति ९१, नेत्र धौति ९२, बस्ति क्रिया ९२, नेति क्रिया ९३, जलनेति ९३, सूत्रनेति ९४, त्राटक ९४, नौलि ९५, कपालभाति ९५, अग्निसार ९६

अध्याय ४

प्राणमय कोश, प्राणायाम ९७-१३१

१. **प्राणायाम का महत्त्व और उपयोगिता** ९७

प्राण क्या है? ९७, प्राण का स्वरूप ९७, प्राण का विराट् रूप ९८, प्राणायाम का अर्थ ९८, प्राणायाम के भेद ९८

२. **प्राण और उपप्राण** ९९

प्राण ९९, अपान ९९, समान ९९, उदान ९९, व्यान ९९, नाग ९९, कूर्म ९९, कृकल १००, देवदत्त १००, धनंजय १००

३. **प्राणायाम का महत्त्व और लाभ** १००

प्राणायाम के लाभ १०१, प्राणायाम-सम्बन्धी निर्देश १०२, पूरक, कुम्भक, रेचक १०३

४. **प्राणायाम के प्रकार** १०४

पारिभाषिक शब्द १०४, नाडी-शुद्धि प्राणायाम १०५

५. **पातंजल योग के अनुसार चार प्राणायाम** १०६

बाह्य कुम्भक (रेचक) १०६, आभ्यन्तर कुम्भक (पूरक) १०७, स्तम्भ वृत्ति (कुम्भक) १०७, विषयाक्षेपी (कुम्भक) १०८

६. **हठयोग के अनुसार ८ कुम्भक प्राणायाम** १०८

तीन बन्ध १०९, मूलबन्ध १०९, उड्डीयान बन्ध १०९, जालन्धर बन्ध १०९ आठ प्राणायामों के नाम, विधि और लाभ ११०, सूर्यभेदन १११, उज्जायी १११, सीत्कारी १११, शीतली ११२, भस्त्रिका ११२, भ्रामरी ११३, मूर्च्छा

११४, प्लाविनी ११४, सहित कुम्भक ११५, केवली कुम्भक ११५

७. परम्परागत प्राणायाम ११६

अग्निप्रदीप्त प्राणायाम १६, अनुलोम-विलोम प्राणायाम ११६, नाड़ी-शोधन प्राणायाम ११६, प्रच्छर्दन ११७, कपालभाति ११७, सूक्ष्म नाडी-शोधन ११७, इडा नाडी-शोधन ११८, पिंगला नाडी-शोधन ११८, सुषुम्णा नाडी-शोधन ११८

८. बन्ध और मुद्राएँ ११८

(क) बन्ध ११८, मूलबन्ध ११८, उड्डीयान बन्ध ११९, जालन्धर बन्ध ११९, महाबन्ध १२०, जिह्वा बन्ध १२०, (ख) मुद्राएँ (योग से संबद्ध) १२०, महामुद्रा १२१, महावेध मुद्रा १२१, खेचरी मुद्रा १२१, विपरीतकरणी १२२, वज्रोली मुद्रा १२३, शक्तिचालिनी मुद्रा १२३, योनिमुद्रा १२३, उन्मनी मुद्रा १२४, शाम्भवी मुद्रा १२४, काकी मुद्रा १२५, अश्विनी मुद्रा १२५, त्रिबन्ध मुद्रा १२५, मातंगिनी मुद्रा १२६, योगमुद्रा १२६, तडागी मुद्रा १२६, ब्रह्ममुद्रा १२७, (ग) मुद्राएँ (स्वास्थ्य से संबद्ध) १२८, ज्ञानमुद्रा १२८, अपान मुद्रा १२८, पृथ्वी मुद्रा १२९, जल मुद्रा १२९, सूर्य मुद्रा १२९, वायु मुद्रा १२९, प्राण मुद्रा १३०, शून्य मुद्रा १३०, लिंग मुद्रा १३०

९. मन और प्राण का सम्बन्ध १३०

अध्याय ५

मनोमय कोश, प्रत्याहार और धारणा १३२-१५४

(क) प्रत्याहार १३२

प्रत्याहार का स्वरूप और उपयोगिता १३२, प्रत्याहार क्या है? १३२, श्रेय और प्रेय का भेद १३२, प्रत्याहार का स्वरूप १३४, प्रत्याहार का व्यापक रूप १३४, प्रत्याहार आध्यात्मिक देवासुर-संग्राम १३५, मन मर्कटतुल्य है १३५, प्रत्याहार मनोनिग्रह की कला १३६, प्रत्याहार-साधना के विघ्न १३७, मनोनिरोध के उपाय १३७, सत्यं शिवं सुन्दरम् १४०, आत्मा परमात्मा का प्रतिनिधि १४१, प्रत्याहार की साधना १४२

(ख) धारणा १४४

धारणा का अर्थ १४४, धारणा का महत्त्व एवं उपयोगिता १४४, धारणा और याज्ञवल्क्य १४५, धारणा की विभिन्न विधियाँ १४६, बाह्य धारणा के पाँच प्रकार १४६, धारणा के सात प्रकार १४७, धारणाओं के अभ्यास की विधि १४७, बिन्दु-धारणा १४७, ज्योति-धारणा १४९, भ्रूमध्य-धारणा १५०, सौर-धारणा १५१, श्वास-धारणा १५१, धारणा के लिए आवश्यक कर्तव्य १५२, धारणा के लाभ १५३

अध्याय ६

मनोमय कोश, ध्यान १५५-२१०

१. **ध्यान का अर्थ** १५५

२. **ध्यानयोग के आधार १२ योग** १५६

३. **ध्यानयोग की आवश्यकता एवं उपयोगिता** १५७

४. **ध्यानयोग साधना की त्रिवेणी** १५८

(क) ध्यानयोग १५९, (ख) भक्तियोग १६१, (ग) ज्ञानयोग १६४, (घ) कर्मयोग १६७

५. **ध्यान का उद्देश्य** १७०

६. **ध्यान कैसे सार्थक बनता है?** १७२

७. **ध्यान-साधना की उपयोगिता** १७४

८. **ध्यान की विधि और उपयोग** १७८

ध्यान की विधि १७८, ध्यान का स्वरूप १८०, बहिर्मुखी ध्यान, बहिरंग ध्यान १८२, अन्तर्मुखी ध्यान, अन्तरंग ध्यान १८२

९. **ध्यान-सम्बन्धी अन्य साधनाएँ** १८६

(क) बौद्ध-साधना में ध्यान १८६, ध्यान के ५ प्रकार १८६, विपश्यना साधना १८६, ध्यान विधि के ३ सोपान १८७, (ख) जैन-ग्रन्थों में साधना और ध्यान १८९, साधना का स्वरूप १८९, शरीर में शक्ति के विविध केन्द्र १९२, प्राण-नियन्त्रण के उपाय १९३, ध्यान-साधना के प्रयोजन १९५, ध्यान की विविध प्रक्रियाएँ १९६, सालम्बन ध्यान १९९, निरालम्बन ध्यान १९९, मानसिक ध्यान की चार अवस्थाएँ १९९, (ग) श्री अरविन्द की साधना-पद्धति २००, पूर्णयोग का लक्ष्य २००,

श्री अरविन्द की योग-सम्बन्धी मान्यताएँ २०२, श्री अरविन्द का समग्र योग २०४, अतिमानस योग २०४, कोशिका योग २०५, समर्पण योग २०६, श्री अरविन्द के समग्र योग का क्रियात्मक पक्ष २०७, साधनात्रयी २०९

अध्याय ७

विज्ञानमय कोश, अन्तःकरण-चतुष्टय २११-२२५

१. अन्तःकरण २११

२. कर्मप्रधान मनस्तत्त्व २१२

मन के त्रिगुणात्मक भेद २१२, कर्मप्रधान तत्त्व २१३

३. ज्ञानप्रधान बुद्धितत्त्व २१४

बुद्धि का लक्षण और स्वरूप २१४, बुद्धि की उत्पत्ति एवं निवास २१४, बुद्धि के त्रिगुणात्मक भेद २१५, ऋतंभरा प्रज्ञा २१६,

४. कर्मप्रधान अहंकार-तत्त्व २१६

अहंकार का लक्षण और स्वरूप २१६, अहंकार की उत्पत्ति और निवास २१७, अहंकार के त्रिगुणात्मक भेद २१७

५. ज्ञानप्रधान चित्त-तत्त्व २१८

चित्त का लक्षण और स्वरूप २१८, चित्त की उत्पत्ति और निवास २१८, चित्त के त्रिगुणात्मक भेद २१८

६. योगवासिष्ठ में अन्तःकरण-चतुष्टय का विवेचन २२०

परम चेतना (मन) का व्यापक रूप २२१, मन का महत्त्व २२२, बुद्धि २२३, बुद्धि का महत्त्व २२४, चित्त २२४, अहंकार २२५

अध्याय ८

आनन्दमय कोश, समाधि २२६-२५४

१. कुण्डलिनी-जागरण २२६

कुण्डलिनी का महत्त्व २२७, कुण्डलिनी-जागरण के दो रूप २२८, कुण्डलिनी-जागरण की विधि २२९, चेतावनी २३०

२. समाधि का अर्थ एवं स्वरूप २३१

३. समाधि के विभिन्न रूप २३२

सवितर्क समाधि २३२, निर्वितर्क समाधि २३३, सविचार समाधि २३३, निर्विचार समाधि २३४, असंप्रज्ञात समाधि

२३५, निर्बीज समाधि २३६

४. समाधि के भेद (जैनदर्शन में समाधि-विवेचन) २३६

सामयिक समाधि २३६, विनय समाधि २३९, ज्ञान समाधि २४१, तप समाधि २४४, बाह्य तप २४५, आन्तरिक तप २४६, प्रायश्चित्त २४६, आन्तरिक तप के ६ अंग २४७, दर्शन समाधि २४९, चारित्र समाधि २५२, चारित्र समाधि के सात अंग २५२, गीता में चारित्र समाधि २५४

अध्याय ९

दिव्य ज्योति-दर्शन, समाधि २५५-२६४

१. दिव्य ज्योतियाँ, अन्तर्दृष्टि का विकास २५५

दिव्य ज्योति-दर्शन, स्थूल शरीर २५५

२. स्थूल शरीर में ६९ दिव्य ज्योतियाँ २५६

३. २३ दिव्य ज्योतियों का क्रियाकलाप २५७

ओजस् २५७, भास्वर अग्नि २५८, चाक्षुष अग्नि २५८, जाठर अग्नि २५९, पाचक अग्नि २५९, रंजक अग्नि २५९, तेजस् अग्नि २५९, विभाजक अग्नि २५९, पोषक अग्नि २५९, विसर्जक अग्नि २६०, पांच कर्मेन्द्रियों के रूप में दिव्य ज्योतियाँ २६०, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के रूप में दिव्य ज्योतियाँ २६०, मन की ज्योतियाँ २६०, बुद्धि की ज्योतियाँ २६१

४. कुण्डलिनी शक्ति का जागरण २६१

५. सूक्ष्म शरीर की ६६ दिव्य ज्योतियाँ २६३

६. कारण शरीर की ७ दिव्य ज्योतियाँ २६४

७. समष्टि जगत् की १२ दिव्य ज्योतियाँ २६४

अध्याय १०

योग और रोग-निवारण २६५-२८१

१. नीरोग रहने के कुछ रहस्य (गुर) २६५

२. रोग और उपचार २६६

अजीर्ण २६६, अनिद्रा २६६, अम्लपित्त २६७, आन्त्रपुच्छ शोथ २६७, एन्जाइना २६७, कंठरोग २६७, कान बहना २६७, कान के रोग २६८, खाँसी २६८, गर्दन का दर्द २६८, गलग्रन्थि बढ़ना २६९, चर्मरोग २६९, चोट, मोच २६९, जलना २७०, जुकाम २७०, ज्वर २७०, तनाव

२७१, थकान २७१, दंश २७१, दमा २७१, दर्द २७२, दस्त २७२, दाँत के रोग २७२, नाक के रोग २७३, नेत्र रोग २७३, पथरी २७३, पसली का दर्द २७४, पांडुरोग, पीलिया २७४, पीठ का दर्द २७४, पेट के रोग २७४, पौरुष ग्रन्थि बढ़ना २७४, फोड़ा, फुंसी २७५, बवासीर २७५, बेड सोर २७५, मधुमेह २७६, मूत्ररोग २७६, मोटापा २७६, यकृत्-प्लीहा के रोग २७६, रक्तचाप उच्च एवं निम्न २७७, खून की कमी २७७, वायुविकार २७८, वातरोग २७८, विष-चिकित्सा २७८, संधिवात २७९, सायटिका २७९, सिर दर्द २७९, सिर की रूसी २७९, स्नायु-दुर्बलता २८०, हृदय रोग २८०, हृदय आघात २८१

सन्दर्भ-ग्रन्थ २८२-२८३

निर्देशिका २८५-२९०

❑

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
पुस्तकालय
विभाग
शान्तिकुंज, हरिद्वार
२५२/२०९
13

अध्याय १

भूमिका

१. योग क्या है ?

योग का अर्थ—योग शब्द संस्कृत की युज् धातु से घञ् (अ) प्रत्यय करके बनता है। युज् धातु के तीन अर्थ है—योगे, संयमने और समाधौ। यहाँ पर तीनों अर्थों का समावेश है। **१. योगे**—मिलना और मिलाना। दो वस्तुओं या दो तत्त्वों को मिलाना या उनका मिलन योग है। जीवात्मा को परमात्मा से मिलाना या दोनों का मिलन योग है। **२. संयमने**—संयत करना, रोकना और उसका निग्रह करना। योग की सफलता के लिए आवश्यक है— मन और इन्द्रियों को संयत करना, उनपर नियन्त्रण करना और उनको पथभ्रष्ट होने से बचाना। इस प्रकार जीवन को संयमी बनाना योग के लक्ष्य का साधन है। **३. समाधौ**—जीवन के लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए चित्त की वृत्तियों का निरोध या रोकना। इस प्रकार इन तीनों धातुओं से बने 'योग' शब्द का अर्थ होता है—योग वह विद्या है, जिसके द्वारा जीवन को संयमी बनाते हुए, चित्त की वृत्तियों का निरोध करके जीवन के लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना। महर्षि पंतजलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग माना है।

योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः। योग० १.२

योग क्या है ?—विविध साधनाओं के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा से मिलाना और आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना योग है। जीवात्मा अल्पज्ञ, एकदेशी और अल्पशक्ति वाला है। दूसरी ओर परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है। मानव अपनी न्यूनताओं को दूर करने के लिए परमात्मा की शरण में जाता है। जिस प्रकार अग्नि में पड़कर समिधा या लोहा अग्नि के गुणों को आत्मसात् कर लेता है और वह अग्नि के तुल्य कान्तिमय, तेजस्वी, निर्मल और दाहक-शक्तियुक्त हो जाता है, उसी प्रकार योग के द्वारा मनुष्य निर्मल, तेजस्वी, प्रखर प्रज्ञायुक्त और विविध विभूतियों एवं सिद्धियों से युक्त हो जाता है।

योग की उपयोगिता और महत्त्व—जीवन को पवित्र और संयमी बनाने के लिए, हृष्ट-पुष्ट और नीरोग रहने के लिए, सात्त्विक और उदात्त भावनाओं को अपने अन्दर लाने के लिए, आत्मतत्त्व के दर्शन और आत्मबोध के लिए, जीवन-

मरण के चक्र से बचने के लिए, दिव्य विभूतियों और सिद्धियों की प्राप्ति के लिए योग ही एकमात्र साधन है। योग ही वह विद्या है, जिससे मनुष्य पाशविक प्रवृत्तियों को नष्ट करके सच्चे अर्थ में मानव बनता है, देवत्व की ओर उसका उत्थान होता है, कुविचारों पर विजय प्राप्त करके सद्विचारों से युक्त होता है, मन को अपने वश में करके मनोवांछित सफलताओं को प्राप्त करता है, चित्तवृत्तियों का निरोध करके आत्मा का साक्षात्कार करता है, विविध साधनाओं के द्वारा विभिन्न ऋद्धि-सिद्धियों को प्राप्त करता है और मृत्यु पर विजय प्राप्त करके मृत्युंजय हो जाता है। मोक्ष प्राप्त करने और आवागमन के बन्धन से मुक्त होने के लिए तथा अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करने के लिए योग ही एकमात्र साधन है।

२. साधना का स्वरूप, उद्देश्य और आधार

साधना का स्वरूप—साधना क्या है? साधना योग की प्रक्रिया है। साधना का अर्थ है—अपने आप को साधना। हिन्दी के 'सधाना' शब्द से इसका अभिप्राय स्पष्ट होता है। जैसे घोड़ा, बैल आदि को सधाने पर (ट्रेनिंग देने पर) वे उत्तम रीति से रथ को खींचते हैं या खेत की ठीक जुताई करते हैं। उसी प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रियों को जब अपने नियन्त्रण में कर लेता है और वे अनुशासित हो जाते हैं तो साधक दिव्य शक्तियों को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

मानव की मूलसत्ता एक कल्पवृक्ष है। मानव के शिरोभाग में सभी देवों और दानवों का निवास है। इसमें सुविचाररूपी देवों का निवास है और इसीमें कुविचार- रूपी दानवों का भी आवास है। जिस प्रकार कल्पवृक्ष से मन के अनुकूल वस्तु प्राप्त की जा सकती है, उसी प्रकार मानवीय कल्पवृक्ष से भी दिव्य शक्तियाँ और दिव्य विभूतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। मानव-मस्तिष्क में देव-असुर संग्राम निरन्तर चलता रहता है, जबतक कुविचार और दुर्भावरूपी दानवों को समाप्त नहीं किया जाएगा, तबतक सफलता और दिव्य शक्तियों का दर्शन नहीं हो सकता है। साधना ही वह रामबाण है, जो दुर्विचाररूपी सभी असुरों का संहार करता है।

साधना का क्षेत्र बहुत व्यापक है। साधना घोर तपस्या है। इस कठोर तपस्या के द्वारा पहले शरीर को सधाया जाता है। आसन और प्राणायाम शरीर को शुद्ध करते हैं। उसके दोषों को दूर करके उसे हृष्ट-पुष्ट बनाते हैं। इसके बाद प्राणायाम के द्वारा प्राणों पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है। धारणा के द्वारा मन पर नियन्त्रण किया जाता है और उसकी एकाग्रताशक्ति को विकसित किया जाता है। ध्यान के द्वारा बुद्धि को परिष्कृत किया जाता है। यह सारा विधि-विधान साधना

के अन्तर्गत आता है। साधनारूपी आधारशिला (नींव) पर यह योग का भव्य भवन स्थापित होता है। जितनी उच्चकोटि को साधना होगी, उतना ही यह योग-मन्दिर दिव्य विभूतियों और शक्तियों से संपन्न होगा। इसलिए योगशास्त्र में साधना को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

साधना का उद्देश्य—साधना जीवन को परिष्कृत करने की प्रक्रिया है। जीवन को परिष्कृत करना, संस्कृत करना, सुसंस्कारों से युक्त करना, पवित्र करना, सात्त्विक गुणों से युक्त करना और उसे दिव्य शक्तियों के अवतरण के योग्य बनाना साधना है। साधना प्रकारान्तर से संस्कृति है। संस्कृति की वैदिक परिभाषा है—

विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ यजु० ३०.३

संस्कृति का प्रथम चरण है—'दुरितानि परा सुव' दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और कुविचारों को दूर करना, हटाना। द्वितीय चरण है—'यद् भद्रं तन्न आ सुव' सद्‌गुणों, सुसंस्कारों और सुविचारों को हृदय में प्रतिष्ठापित करना। संस्कृति (Culture) को समझने के लिए कृषिकर्म (Agriculture) को समझ लेना उपयोगी है। किसान उत्तम खेती के लिए पहले कूड़ा-करकट, घास-फूँस, कंकड़-पत्थर आदि अनुपयोगी या अवांछित वस्तुओं को खेत से निकालकर बाहर फेंकता है और खेत को परिष्कृत करता है। उसके पश्चात् उत्तम बीजों को बोता है, खेत में पानी देता है और बीच-बीच में निराई (घास-फूँस आदि निकालना) करता है। उसी प्रकार उत्तम जीवन के लिए एवं दिव्य शक्तियों के अवतरण के लिए मस्तिष्करूपी भूमि को परिष्कृत करना पड़ता है। अपने मस्तिष्क से दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुर्विचाररूपी कूड़े को बाहर निकालना पड़ता है। जब आत्म-परिष्कार हो जाता है, तब सद्‌गुण और सुविचाररूपी बीज बद्धमूल होकर उत्पन्न होते हैं। उनकी सतत सुरक्षा से मानव-मस्तिष्क देवालय हो जाता है। तभी उसमें दिव्य शक्तियों का अवतरण होता है। यह पूरी प्रक्रिया साधना के अन्तर्गत है।

साधना के उद्देश्यों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. साधना का उद्देश्य है—आत्म-परिष्कार, जीवन को पवित्र बनाना, कुसंस्कारों-दुर्गुणों आदि को हटाकर मस्तिष्क को शुद्ध बनाना।

२. सद्‌गुणों, शुभविचारों और सत्प्रवृत्तियों को जीवन में लाना।

३. मानव की प्रसुप्त दिव्य शक्तियों को जागृत करना।

४. दिव्य शक्तियों के अनुग्रह के लिए पात्रता प्राप्त करना।

५. सत्-प्रवृत्तियों और सद्‌गुणों का उन्नयन।

६. जीवन में आकर्षण शक्ति (चुम्बकत्व) की वृद्धि करना।

७. जीवन में देवत्व के समावेश के लिए सतत अभ्यास।

८. जीवन के दृष्टिकोण का परिष्कार। भौतिकवादी दृष्टिकोण का परित्याग करके अध्यात्म-परक दृष्टि को अपनाना।

९. कठोर एवं अनुशासित जीवन की भूमिका तैयार करना।

१०. सतत अध्यवसायशील होकर जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना।

११. मन को एकाग्र करना और उसे ध्यान एवं समाधि के लिए उपयुक्त बनाना।

साधना के दो पक्ष—साधना के दो पक्ष हैं—१. भावात्मक, २. क्रियात्मक। भावात्मक पक्ष को हम वैचारिक पक्ष कह सकते हैं। भावात्मक पक्ष के ४ अंग हैं—१. स्वाध्याय, २. सत्संग, ३. चिन्तन, ४. मनन।

स्वाध्याय का अर्थ है—स्व-आत्मतत्त्व, अध्याय—अध्ययन। जिन ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप, आत्मबोध, आत्मतत्त्व के दर्शन आदि का विवेचन है, उन ग्रन्थों को पढ़ना। इसमें वेद, उपनिषद, दर्शन तथा अध्यात्म-विषयक सभी ग्रन्थ आते हैं, जो आत्मसुधार, आत्मनिर्माण और आत्मविकास का विवेचन करते हैं तथा आत्म-परिष्कार की विधि का सर्वांगीण प्रतिपादन करते हैं।

सत्संग का अर्थ है—संभ्रान्त, मनीषी एवं तत्त्वदर्शी व्यक्तियों का सान्निध्य प्राप्त करना, उनसे आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञान प्राप्त करना तथा उनके प्रवचनों और अनुभवों का लाभ उठाना। अनुभवी व्यक्ति साधना के गूढ़ रहस्यों को सरलता से समझाने में समर्थ होते हैं। उनके अनुभव साधक के लिए मार्गदर्शक होते हैं। उन्हें गुरु के तुल्य समझें और उनसे अपनी समस्याओं का निराकरण करें।

चिन्तन का अभिप्राय है—अपनी त्रुटियों और निर्बलताओं के विषय में विचार करना। किन कारणों से ये त्रुटियाँ हो रही हैं या मनुष्य के अन्दर क्या निर्बलता है, इसपर विचार करना। साथ ही इन त्रुटियों को दूर करने के लिए उपयुक्त साधनों को अपनाना। चिन्तन का फल यह होता है कि मनुष्य अपनी त्रुटियों और न्यूनताओं को धीरे-धीरे सुधारता जाता है और उसके फलस्वरूप वह एक योग्य साधक बन जाता है।

मनन का अभिप्राय है—चिन्तन के द्वारा जो उपाय आदि सूझे हैं, उनका विचार की दृष्टि से ठीक-ठीक विवेचन करना और लाभप्रद उपायों को अपने प्रयोग में लाना। चिन्तन और मनन साधना के मार्ग में क्रमिक उन्नति के उत्तम सोपान हैं।

क्रियात्मक पक्ष का अभिप्राय है—वैचारिक या भावात्मक पक्ष से जो सन्देश या उपदेश प्राप्त हुए हैं, उन्हें प्रयोग में लाना। जैसे—बुरे संस्कारों और दुर्गुणों को दूर करना, उन्हें नष्ट करना या उनसे अपना पिंड छुड़ाना। यह निषेधात्मक पक्ष है। विधि पक्ष है—उत्तम संस्कारों और विचारों को आत्मसात् करना, उन्हें जीवन में उतारना और उनसे अपना मार्ग प्रशस्त करना।

इसी प्रकार साधना के अन्य दो पक्ष हैं—१. सिद्धान्त पक्ष। २. प्रयोग पक्ष या व्यवहार पक्ष।

१. सिद्धान्त पक्ष—क्यों? का उत्तर सिद्धान्त पक्ष है। साधना क्यों करनी चाहिए, उसके क्या लक्ष्य हैं, उसका क्या प्रयोजन है, आदि का वर्णन सिद्धान्त पक्ष है। साधना का सिद्धान्त पक्ष है—ब्रह्मविद्या। ब्रह्मविद्या को ही 'दहर विद्या' भी कहते हैं। ऋतंभरा प्रज्ञा की प्राप्ति साधना का लक्ष्य है। आत्मतत्त्व का ज्ञान, ब्रह्म का ज्ञान, तत्त्वबोध, आत्मा के ज्योतिर्मय रूप का दर्शन लक्ष्य है।

२. प्रयोगपक्ष—कैसे? का उत्तर प्रयोगपक्ष है। साधना किस प्रकार की जाए, जिससे लक्ष्य प्राप्ति हो, इसका वर्णन प्रयोगपक्ष है। साधना का प्रयोगपक्ष है—श्रद्धा, विश्वास और तपश्चर्या या तप। श्रद्धा और विश्वास परस्पर संबद्ध शब्द हैं। श्रद्धा सात्त्विक गुण है। सद्भावना के आधार पर किसी उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रद्धा का आश्रय लिया जाता है। श्रद्धा के आधार पर आत्मतत्त्व की ओर प्रवृत्ति होती है। उसका कोई सुखद परिणाम होने पर उसपर विश्वास जमता है। श्रद्धा और विश्वास में कारण-कार्य सम्बन्ध है। श्रद्धा शक्ति है तो विश्वास शिव है। अतएव रामायण के प्रारम्भ में तुलसीदास ने पार्वती और शिव को श्रद्धा और विश्वास रूप बताते हुए उनकी वन्दना की है।

भवानीशंकरौ वन्दे, श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति, सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्॥

साधना का प्रयोगपक्ष तप या तपश्चर्या है। तपश्चर्या मनुष्य को परिष्कृत करती है। जिस प्रकार अग्नि में सुवर्ण को डालने पर उसके दोष दूर हो जाते हैं और वह खरा सोना हो जाता है। उसी प्रकार तप से मनुष्य के मल और दोष नष्ट हो जाते हैं और वह निर्मल हो जाता है। निर्मल मन में दैवी गुणों का अवतरण होता है। गीता में तप के तीन रूपों का उल्लेख है—शारीरिक, वाचिक और मानस तप। शारीरिक तप में इन बातों का उल्लेख है—गुरु आदि की पूजा, शारीरिक शुद्धता, सरल स्वभाव का होना, ब्रह्मचर्य या संयम का पालन और हिंसा न करना। वाचिक तप में ये कार्य बताए हैं—कटु वचन न बोलना, सत्य और प्रिय भाषण, स्वाध्याय और जप करना। मानस तप में ये कार्य बताए हैं—

प्रसन्नचित्त रहना, सोम्य स्वभाव, ईश्वर का चिन्तन, मनोनिग्रह और सात्त्विक विचार रखना। निष्काम भाव से तप करना सात्त्विक तप है। फल की इच्छा से तप करना राजस तप है। हठ या दुर्भाव से किया गया तप तामस तप है। (गीता १७.१४ से १९)। योग-साधना के लिए निष्काम भाव से या आत्मतत्त्व के ज्ञान-हेतु किया गया तप सर्वोत्कृष्ट है।

तप के लाभ है—१. इससे मन पर नियंत्रण होता है और आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है। २. शरीर में सर्दी-गर्मी आदि को सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है। कठोर कार्य करने की क्षमता आ जाती है। दिनचर्या नियमित हो जाती है और दुर्व्यसनों से मुक्ति हो जाती है। ३. प्रसुप्त शक्तियों का जागरण होता है। ४. साहसिक कार्यों को करने की क्षमता आती है। ५. लोककल्याण और परमार्थ के कार्यों को करने की ओर प्रवृत्ति होती है। ६. शारीरिक स्वास्थ्य का लाभ। शरीर नीरोग और हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। ७. उत्साह और स्फूर्ति आ जाती है। ८. आत्मिक शक्ति, मनो-बल और इच्छाशक्ति की वृद्धि होती है।

साधना के आधार—जिस प्रकार उत्तम भवन के लिए आधारशिला (नींव) सुदृढ़ बनानी होती है, उसी प्रकार उच्चकोटि की साधना के लिए उच्च कोटि की पात्रता आवश्यक है। दिव्य या दैवी गुणों के लिए मनुष्य में देवत्व गुण की सत्ता अनिवार्य है। यह प्राकृतिक नियम है कि पात्रता और पुरुषार्थ के अनुरूप ही प्रतिफल मिलता है। जैसे पहलवानी के लिए आवश्यक है कि उसका शरीर बलिष्ठ हो, उसीप्रकार उच्चकोटि की सफलता के उच्च कोटि का चरित्र होना अनिवार्य है। साधना के आधारभूत तत्त्व हैं—योग और तप। योग और तप के अन्तर्गत साधना के आधारभूत तत्त्वों में हम इन गुणों के मुख्यरूप से रख सकते हैं :—१. पवित्र और उच्च चरित्र, २. परिष्कृत व्यक्तित्व, ३. साधनामय जीवन, ४. दृढ़ संकल्प, ५. उच्च विचार, ६. सात्त्विक भावना, ७. दुर्व्यसनों से मुक्त जीवन, ८. उच्चकोटि की सहिष्णुता, ९. कठोर अनुशासन के पालन की क्षमता, १०. आस्तिकता, श्रद्धा और विश्वास गुणों की सत्ता। जिस प्रकार घने वृक्ष या वन बादलों को आकृष्ट करते हैं, उसी प्रकार उच्च चरित्र आदि दिव्य गुण दैवी शक्तियों को आकृष्ट करते हैं। योगदर्शन ने तीव्र संवेग या तीव्र उत्कंठा और मनोनिग्रह को उच्चकोटि की सफलता के लिए अनिवार्य बताया है।

तीव्रसंवेगानाम् आसन्नः। योग० १.२१

साधना की सामान्य विधि—गीता (६.१० से १३) में साधना के विषय में कुछ उपयोगी निर्देश दिए गए हैं। साधक का कर्तव्य है कि उनका अनुसरण करे। साधक के लिए कुछ उपयोगी निर्देश ये हैं—

१. स्थान—स्वच्छ, एकान्त और खुला हुआ स्थान साधना के लिए उपयुक्त है। स्थान कोलाहल आदि से रहित हो। वहाँ शुद्ध वायु का प्रवेश अनिवार्य है। अपना भवन, नदी या तालाब का किनारा, उपवन, पर्वत, नदियों के संगम आदि स्थान उपयुक्त हैं। साधना के स्थान पर धूपबत्ती आदि का उपयोग करके उसे सुगन्धित करने की व्यवस्था करें।

उस स्थान पर आसन बिछाकर उसके ऊपर ऋतु के अनुसार सूती चादर या कम्बल डाल लें। आसन का स्थान ऊँचा-नीचा न हो, अपितु समतल हो।

२. परिधान—ऋतु के अनुकूल हलके वस्त्र पहनें, जिससे चुस्ती रहे। शीत ऋतु में कुछ ऊनी स्वेटर आदि पहन लें।

३. स्नान—दैनिक कार्यों (शौचादि) से निवृत्त होकर ही साधना पर बैठें। साधना से पूर्व स्नान कर लेना अधिक उपयुक्त रहता है। शारीरिक स्थिति के अनुसार स्नान कुछ समय पश्चात् भी कर सकते हैं।

४. समय—साधना के लिए सर्वोत्तम समय ब्राह्ममुहूर्त है। प्रातः ४ बजे से सूर्योदय तक साधना का समय अत्युत्तम है। आवश्यकतानुसार रात्रि में भी सोने से पूर्व आधा या एक घण्टा साधना कर सकते हैं। साधना के लिए कम से कम आधा घण्टा समय दें। सुविधानुसार समय बढ़ाते जाएँ।

५. प्रारम्भिक कार्य—साधना प्रारम्भ करने से पूर्व इन बातों पर ध्यान दें। (क) सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिक आसन या वज्रासन में जो सुविधाजनक समझें, उस आसन को लगाने का अभ्यास करें। कम से कम आधा घण्टा उस आसन पर बैठने का अभ्यास डालें। उक्त आसनों में कोई कठिनाई प्रतीत हो तो सुखासन (पलथी मारकर बैठना) में बैठें।

(ख) बैठने में इस बात का ध्यान रखें कि पीठ ऊपर से लेकर नीचे तक एकदम सीधी रहे। पीठ, सिर और गर्दन एक सीध में हों, आगे या पीछे मुड़े न हों। इससे इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी का प्रवाह ठीक हो पाता है।

(ग) मन और इन्द्रियों को संयत रखते हुए शान्त एवं प्रसन्नचित्त होकर बैठें।

(घ) **स्वरशोधन**—प्रारम्भ में बाईं नाक से लम्बा साँस धीरे-धीरे लें। दाहिनी नाक को दाहिने हाथ के अँगूठे से बन्द कर लें। फिर साँस को बिना रोके धीरे-धीरे बाईं नाक से निकालें। इस प्रकार तीन बार वाम नासिका से साँस लेने और साँस छोड़ने का कार्य करें। इसके बाद बाईं नाक को दाएं हाथ की मध्यमा और अनामिका (बीच की दो उंगलियों) से बन्द करके दाईं नासिका से लंबा साँस धीरे-धीरे लें और छोड़ें। इस प्रकार तीन बार दाईं नाक से करें। इसके बाद

तीन बार विलोम ढंग से लम्बे साँस लें और छोड़ें अर्थात् पूर्ववत् बाईं नाक से साँस लेकर उसे दाईं नाक से छोड़ें और दाईं नाक से लेकर बाईं नाक से धीरे-धीरे छोड़ें। यह विलोम विधि से एक चक्र हुआ। इस प्रकार तीन बार करें। इसके पश्चात् प्राणायाम और धारणा-ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करें।

६. आहार-विहार—गीता में शारीरिक दुःखों के निवारण के लिए एक महत्त्वपूर्ण श्लोक दिया गया है कि—

युक्ताहार-विहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त-स्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥ गीता ६.१७

अर्थात् शारीरिक दुःखों को दूर करने के लिए आहार-विहार ठीक होना चाहिए, दिनचर्या नियमित होनी चाहिए, व्यक्ति का सोने और उठने का समय नियमित होना चाहिए। ऐसे संयमी व्यक्तियों की योगसाधना सभी दुःखों को नष्ट करती है। इससे आहार-विहार का महत्त्व स्पष्ट होता है। आचार्य चरक ने भी चरक-संहिता में जीवन-भवन के आधार-स्तम्भ के रूप में तीन बातों का उल्लेख किया है। इन्हें उपस्तम्भ (आधार या खंभे) कहा है। ये हैं—आहार (भोजन), स्वप्न (निद्रा) और ब्रह्मचर्य (संयम)। यदि ये तीन खंभे सुदृढ़ हैं तो मनुष्य का जीवनरूपी भवन सुरक्षित है।

त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति। चरकसूत्र ११.३२

आहार जीवन को पोषक तत्त्व देता है, स्वप्न विश्राम देता है और ब्रह्मचर्य या संयम जीवन को ऊर्जा प्रदान करता है। यदि आहार ठीक नहीं है तो शरीर को उचित शक्ति नहीं मिलेगी। अतएव साधक के लिए सात्त्विक भोजन ही उपयुक्त है। साधक के लिए माँस, मदिरा एवं सभी मादक द्रव्य सर्वथा निषिद्ध हैं।

गीता में साधक के लिए निर्देश है कि वह अधिक खाना (भूख से अधिक खाना) न खावे और न सर्वथा भूखा ही रहे। साधक न बहुत सोवे और न बहुत अधिक जागे। अधिक खाना आदि साधना में बाधक हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वपनशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन॥ गीता ६.१६

साधक के लिए यह भी निर्देश है कि वह साधना के समय शान्त और एकाग्र मन होकर रहे। इधर-उधर दृष्टिपात न करे। मन की चंचलता रोककर रखे। किसी प्रकार का भय मन में न रखे और न कोई चिन्ता करे। साधना आत्मा की शुद्धि के लिए करे।

आसन, प्राणायाम और साधना के पश्चात् अन्त में १ या २ मिनट शवासन (लेटकर अपने शरीर को सर्वथा ढीला छोड़ देना) अवश्य करें, तत्पश्चात् अन्य कार्य करें।

३. साधक के कर्तव्य

योग-साधना में प्रवृत्त व्यक्ति को सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि साधना का मार्ग कठोर है और कठिन परिश्रम से साध्य है। यदि साहस, धैर्य और दृढ़ निश्चय है तो साधक के लिए साधना का मार्ग सरल हो जाता है। यदि शीघ्रता है, मन में चंचलता है, विचारों में अस्थिरता है तो साधक के लिए यह मार्ग अतिदुष्कर हो जाता है। प्रत्येक उच्च सफलता या लक्ष्य के लिए लम्बे समय तक जुटे रहना पड़ता है। दृढ़ निश्चय और एकाग्रता प्राथमिक आवश्यकता है। चरित्र की शुद्धि, विचारों की पवित्रता, विषयों में अनासक्ति और संयम ये गुण अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं। यदि विचार शुद्ध नहीं हैं, प्रवृत्तियाँ तामसिक हैं और मन चंचल है तो उच्च साधना संभव नहीं है। पहले साधना का लक्ष्य निर्धारित करना आवश्यक है। उसके बाद लक्ष्य के अनुसार साधनों को चुनना है। साधना के लिए ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, हठयोग, ध्यानयोग आदि में से अपनी रुचि के अनुसार एक मार्ग निश्चित करना है। साधन को चुनने के बाद अपनी शारीरिक और मानसिक स्थिति को ध्यान में रखकर कार्यक्रम तैयार करना होता है। तीनों बातों का उचित समन्वय होने पर सफलता निश्चित है।

साधक को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए और तदनुसार कार्य करना चाहिए। संक्षेप में साधकों के ये कर्तव्य हैं :—

१. शिव-संकल्प। मन में पवित्र विचारों को स्थान देना। दूषित विचारों का परित्याग करना। कोई भी कुविचार आता है तो उसे विघ्न मानकर तुरन्त हटाना।

२. दृढ़ निश्चय। मन में साहस और धैर्य रखना। कठिनाइयों और विघ्नों को दृढतापूर्वक दूर करना। मन में चंचलता, अस्थिरता या लक्ष्य की दुर्लभता का भाव न आने देना।

३. चारित्रिक शुद्धि। योगसाधना में चरित्र की शुद्धि या पवित्रता अनिवार्य है। आचारहीन को योगमार्ग में उच्च सफलता कभी नहीं मिल सकती है। योगमार्ग के आधार ही चरित्र, शील और संयम हैं।

४. सहिष्णुता। सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता को बढ़ाना। सुख-दुःख में विचलित न होना। ऋतु के अनुकूल अपनी जीवनचर्या बनाना। दूसरों के द्वारा की गई कटु आलोचनाओं आदि की उपेक्षा करना।

५. नीरोगता। शरीर को पूर्णतया स्वस्थ रखना अनिवार्य है। स्वास्थ्य गड़बड़ रहने पर कोई साधना ठीक ढंग से नहीं हो सकेगी। इसके लिए नियमित

भ्रमण, व्यायाम, आसन और प्राणायाम करना आवश्यक है। शरीर को बहुत कोमल न बनाकर कष्टों को सहने का अभ्यास डालना।

६. **चिन्ता से मुक्ति**। शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक चिन्ताओं को दूर रखना। किसी प्रकार की चिन्ता करना साधना में बाधक है।

७. **परिश्रमी जीवन**। शारीरिक परिश्रम शरीर की कार्यक्षमता को बढ़ाता है।

८. **नियमित दिनचर्या**। साधक के लिए आवश्यक है कि अपनी दिनचर्या नियमित बनावे। सभी काम समय पर करे। समयबद्धता अपने जीवन का अंग बना ले।

९. **समय की बहुमूल्यता**। समय बहुमूल्य है। प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करने पर साधना में शीघ्र प्रगति होती है।

१०. **दुर्गुणों का परित्याग**। कुछ दुर्गुण और दुर्व्यसन ऐसे हैं, जो प्रगति के रोधक हैं. इनको यथाशक्ति छोड़ने या इनको नियन्त्रित करने का पूर्ण प्रयत्न आवश्यक है। इनमें प्रमुख हैं—क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष, दूसरे की निन्दा-स्तुति, असंयम, मदिरा आदि का व्यसन, लोभ की प्रवृत्ति, बाह्य विषयों की ओर अधिक अभिरुचि आदि।

११. **मितभाषी होना**। साधक कम बोले, मधुर बोले। कटुवचन न बोले। बहुत बोलना, गप्पी होना, अनावश्यक बोलना साधना-मार्ग के विघ्न हैं।

१२. **प्रसन्नचित्त रहना**। सदा हँसमुख रहना, चिन्ताओं-कष्टों की उपेक्षा करना, स्वास्थ्य के लिए बहुत उपयोगी है। इससे साधना को शक्ति मिलती है।

१३. **भोजन पर नियन्त्रण**। न बहुत अधिक खावे और न भूखा रहे। सदा सात्त्विक भोजन करे। सप्ताह में एक दिन उपवास रखना शरीर-शोधन के लिए उपयोगी है। दिन में दो बार भोजन और दो बार नाश्ता के अतिरिक्त कुछ न ले। भोजन में दूध, घी, फल आदि सात्त्विक चीजें ले। अधिक खट्टा-मीठा, अधिक नमक, अधिक चटपटा आदि न ले।

१४. **मनोनिग्रह**। मन की चंचलता को रोकना आवश्यक है। इसका सरल उपाय है—मन को किसी काम में लगाए रखना। मन हर समय काम में लगा रहेगा तो उसकी चंचलता दूर होगी।

१५. **स्वाध्याय**। अध्यात्म-विषयक और धार्मिक ग्रन्थों का पढ़ना स्वाध्याय है। स्वाध्याय योगसाधना में बहुत लाभप्रद है। वेद के एक मंत्र को प्रतिदिन अर्थसहित पढ़ना साधना की सिद्धि के लिए बहुत उपयोगी है। उपनिषद् का भी कोई अंश प्रतिदिन पढ़ें।

१६. **यम-नियमों का पालन**। इसके लिए यथाशक्ति पूर्ण प्रयत्नशील रहना।

१७. 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। अधिक सोना, अधिक जागना, आलस्य, प्रमाद, मन का शीघ्र उटचना, नियमित अभ्यास न करना, अधिक व्यायाम या अधिक शारीरिक परिश्रम करना साधक के लिए हानिकारक हैं। अतः इन दोषों से बचे।

१८. जप। नियमित रूप से 'ओम्' या 'गायत्री मंत्र' का आधा घण्टा या एक घण्टा प्रतिदिन जप करे। इससे मन शुद्ध होता है और बुद्धि तीव्र होती है।

१९. संघर्ष। संघर्ष से ही सफलता मिलती है। अतः विघ्नों या कष्टों से न डरे। हिम्मत न हारे। बड़े लक्ष्य के लिए अधिक संघर्ष करना पड़ता है। जो संघर्षशील है और हिम्मती है, उसको ईश्वरीय सहायता मिलती है और वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होता है।

२०. गीता का कर्तव्य-बोधन। गीता में बहुत सुन्दर रूपसे अतिसंक्षेप में साधक के कर्तव्यों को उल्लेख 'तप' के द्वारा किया गया है। साधक को शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप सात्त्विक भावना से करना चाहिए। उसके ये कर्तव्य हैं—

(क) शारीरिक तप—शरीर और मन को शुद्ध रखना, जीवन में सरलता, ब्रह्मचर्य या संयम का पालन करना, मन वचन कर्म से अहिंसा और पूज्य लोगों का आदर करना। यह शारीरिक तप है।

(ख) वाचिक या वाणी का तप—प्रिय और हितकर वचन बोलना, किसी को कटु वचन न बोलना, वेद आदि का स्वाध्याय करना, यह वाणी का तप है।

(ग) मानसिक तप—प्रसन्न मन रहना, शान्त स्वभाव, मित और मृदुभाषी होना, मनोनिग्रह (मन को नियन्त्रण में रखना), पवित्र विचार रखना, यह मानसिक तप है।

(घ) यह तीन प्रकार का तप यदि निष्काम भावना और श्रद्धा से किया जाता है तो यह सात्त्विक तप गिना जाता है। सात्त्विक तप सदा सफल होता है।

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्, तपो मानसमुच्यते॥

गीता १७.१४ से १६

४. साधना के विघ्न

साधना एक लम्बी प्रक्रिया है। इसमें कुछ मास ही नहीं, अपितु कई वर्ष भी लग जाते हैं। अतः साधक को बड़े धैर्य से काम करना होता है। प्रत्येक कार्य में विघ्न आते हैं, उसी प्रकार साधना में भी अनेक विघ्न आते हैं। उनको पार करना साधक का कार्य है। दृढ़ निश्चय और प्रबल इच्छा बड़े से बड़े विघ्नों को दूर करते हैं। विघ्न एक प्रकार से छोटी और बड़ी परीक्षाएँ हैं। इनको उत्तीर्ण करने पर सफलता का मार्ग प्रशस्त होता है। महर्षि पंतजलि ने योगदर्शन के दो सूत्रों में इनका संक्षेप में वर्णन किया है। ये विघ्न हैं :—

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादालस्याविरति-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। योग० १.३०

दुःख-दौर्मनस्याङ्गमेजयत्व-श्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

योग० १.३१

१. **व्याधि**—शरीर में किसी प्रकार का कोई रोग होना। रोगी योगसाधना ठीक ढंग से नहीं कर सकता है। इसको दूर करने के लिए आवश्यक है कि शरीर नीरोग हो। शरीर की नीरोगता के लिए आसन, प्राणायाम, भ्रमण, व्यायाम आदि आवश्यक हैं।

२. **स्त्यान**—अकर्मण्यता, स्फूर्ति का अभाव, मन में अनुत्साह या मन में उदासीनता, मन में ध्येय के लिए पूर्ण उत्साह न होने पर सफलता नहीं मिलेगी। अतः मन में पूर्ण उत्साह और स्फूर्ति को जागृत करें।

३. **संशय**—मन में सन्देह होना कि 'मैं यह कार्य कर सकूँगा या नहीं' ऐसा सन्देह उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने में विघ्न है। **'संशयात्मा विनश्यति'** सन्देह की भावना वाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है। दृढ़निश्चय और इच्छाशक्ति संशय को नष्ट करते हैं।

४. **प्रमाद**—नियमित रूप से साधना न करना। प्रतिदिन नियमितरूप से साधना न करने पर ठीक प्रगति नहीं हो सकती है। व्यायाम, साधना आदि नियमित रूप से करने पर ही सुफल देते हैं।

५. **आलस्य**—आलसी होना। आलस्य शरीर का सबसे बड़ा शत्रु है। आलसी व्यक्ति किसी भी काम में प्रगति नहीं कर सकते, अतः आलस्य को भगाना ही पड़ेगा।

६. **अविरति**—विषयों में तृष्णा का बने रहना, विषयों से विरक्ति न होना। जबतक विषयों में आसक्ति बनी रहेगी, तबतक योगमार्ग में कोई सफलता प्राप्त होना संभव नहीं है। अतः विषयों की ओर से मन को यथाशक्ति लौटावे।

७. भ्रान्तिदर्शन—मन में भ्रम की स्थिति उत्पन्न होना, दुविधा की स्थिति होना, साधना की सफलता के प्रति मन का संशय से ग्रस्त होना, साधना की प्रगति को रोक देता है, अतः किसी भ्रम में न पड़कर निश्चिन्त होकर साधना में जुटा रहे।

८. अलब्धभूमिकत्व—पूर्ण मनोनिग्रह का न हो पाना। पूर्ण एकाग्रता न होने से मन समाधि में ठीक नहीं लग पाता। इसके लिए आवश्यक है कि मन को एकाग्र करने के लिए अपना प्रयत्न न छोड़े। मन एकाग्र होने पर समाधि में स्थिरता आने लगेगी।

९. अनवस्थितत्व—समाधि की स्थिति में देर तक न रुक पाना। थोड़ी-थोड़ी देर में ध्यान हट जाना और समाधि टूटना। इसके लिए दृढ़ निश्चयपूर्वक मन को लगाए रखने का अभ्यास बढ़ाते रहना आवश्यक है।

इनके अतिरिक्त भी कुछ विघ्न हैं जो विक्षेप के साथ होते हैं। ये हैं—

१. दुःख—सदा दुःख की अनुभूति, सदा मन में खिन्नता की भावना रखना। यह प्रसन्नचित्तता का विलोम है। प्रत्येक स्थिति में अपने आपको दुःखित मानना, यह महान् दोष है। मनुष्य को प्रत्येक स्थिति में प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। प्रसन्नमुख रहना, सदा हँसमुख रहना, स्वास्थ्य और साधना के लिए आवश्यक है।

२. दौर्मनस्य—इष्ट वस्तु न मिलने पर मन खिन्न होता है। मन की खिन्नता विघ्न है। दौर्मनस्य का भाव मन का उदास रहना भी है। मन उदास रहने पर उसमें स्फूर्ति, उत्साह और प्रेरकत्व समाप्त हो जाता है, अतः योगसाधना में विशेष अभिरुचि नहीं रहती है। इसको दूर करने के लिए दृढ़निश्चय से अपनी जीवनीशक्ति को प्रबुद्ध करना चाहिए। वेद के इस उपदेश को मन में धारण करे कि **'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये'** (ऋग्० १०.४८.५) मुझमें ईश्वरीय शक्ति है, मैं इन्द्र हूँ, मैं कभी पराजित नहीं होता हूँ। ऐसे विचारों से नवचेतना जागृत होगी और उदासी या अनुत्साह की भावना नष्ट होगी।

३. अंगमेजयत्व—इसका शब्दार्थ है—शरीर के अंगों में कंपन का होना या अंगों का काँपना। इसका अभिप्राय है कि यदि आसन का दृढ़ अभ्यास नहीं होता है तो थोड़ी-थोड़ी देर में आसन बदलना पड़ता है, पैरों को इधर-इधर हटाना पड़ता है। साधना कई घण्टे तक चलती है, अतः बार-बार आसन बदलना साधना में विघ्न है। इसके लिए आवश्यक है कि किसी एक या दो आसन को साधक पूर्णतया सिद्ध कर ले, जिससे वह किसी एक आसन पर कम से कम एक घंटा बैठ सके।

४. श्वास-प्रश्वास—श्वास का अर्थ है—साँस अन्दर की ओर लेना, बाहरी वायु को अन्दर की ओर खींचना। प्रश्वास का अर्थ है—अन्दर की साँस

को बाहर की ओर निकालना या फेंकना। यहाँ श्वास-प्रश्वास का अभिप्राय है—साँसों पर नियन्त्रण का न होना, या प्राणधारण शक्ति का कमजोर होना। साँस अन्दर लेने पर अन्दर रोक कर रखने (कुंभक) की शक्ति का अभाव। इसी प्रकार साँस को बाहर भी रोककर रखने में असमर्थता। साधना में साँस को अन्दर और बाहर रोककर रखने की अत्यन्त आवश्यकता होती है। बाह्य कुंभक और आभ्यन्तर कुंभक प्राणायाम के अंग हैं। इन कुंभकों के द्वारा ही उच्च क्षमता प्रकट होती है। श्वास के दोष को दूर क़रने के लिए प्रबल इच्छाशक्ति जागृत करने की आवश्यकता है। अन्दर और बाहर साँस रोककर रखने के लिए क्रमशः शक्ति-वर्धन करें। पहले दोनों ओर ४ या ५ सेकण्ड रोकने का अभ्यास दृढ़ करें, फिर शनैः-शनैः १-२ सेकण्ड बढ़ाते जावें। इस प्रकार एक मास में साँस रोकने की क्षमता पर्याप्त बढ़ जायगी।

इन विघ्नों या दोषों को दूर करने के लिए कुछ अन्य उपाय ये हैं :—

१. **दृढ़ निश्चय**—'मैं इस कार्य को अवश्य करूँगा' 'मैं इस कार्य में अवश्य सफल होऊँगा' इस प्रकार का दृढ़ निश्चय सभी विघ्नों को दूर कर देता है।

२. **प्रबल इच्छाशक्ति**—इच्छाशक्ति एक महान् शक्ति है। प्रबल इच्छाशक्ति (Will-power) असंभव को भी संभव बना देती है। अपनी इच्छाशक्ति को पुष्ट कीजिए। कोई और कैसा भी विघ्न हो, इच्छाशक्ति के प्रवाह के आगे टिक नहीं सकता है। अतः अपना मनोबल बनाए रखिए। विघ्न स्वयं दूर हो जाएँगे।

३. **ईश्वर-विश्वास**—ईश्वर पर अटूट विश्वास से भी सब विघ्न दूर होते हैं। ईश्वर पर दृढ़ विश्वास रखते हुए मन में यह संकल्प रखना कि ईश्वर हमारी साधना को सफल और पूर्ण करेगा, तो उसका यह संकल्प विघ्नों को दूर करेगा। ईश्वर साक्षीरूप होते हुए भी सबसे बड़ा दयालु और सत्कर्मों में सहायक है। ईश्वर आन्तरिक शक्ति देता है, जिससे वह विघ्नों को सरलता से दूर कर लेता है।

४. **इष्टदेव का स्मरण**—'ओम्' या अपने इष्ट किसी देवता या वस्तु का निरन्तर स्मरण करने से भी विघ्न दूर होते हैं। इष्टदेव का स्मरण करते रहने से साधक का मन उस ओर लगा रहता है, अतः उसे कोई विघ्न नहीं सताता है। उसकी तन्मयता उसकी उदासी, आलस्य एवं प्रमाद आदि को दूर कर देती है। मन की चंचलता ही सारे विघ्नों की जड़ है। ध्यान और जप से मन की चंचलता दूर होती है। अतः सारे विघ्न स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

५. वेदों में योग-विज्ञान

वेदों में लगभग १०० मंत्र मुख्यरूप से योगशास्त्र से संबद्ध हैं। उनमें से कुछ मुख्य विषयों के प्रतिपादक मंत्र संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१. शरीर में ८ चक्र—अथर्ववेद के एक मंत्र में स्पष्ट रूप से शरीर में विद्यमान ८ चक्रों का उल्लेख है। शरीर में ८ चक्र और ९ द्वार हैं। यह शरीर देव-नगरी अयोध्या है। इसमें ज्योतिर्मय पुरुष है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ अथर्व० १०.२.३१

२. शरीर में ज्योतिर्मय पुरुष है—इस शरीररूपी ज्योतिर्मय पुरी में ब्रह्म का निवास है।

प्रभ्राजमानां........पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेश०। अथर्व १०.२.३३

३. योगविद्या का स्वरूप—मन और बुद्धि को एक तत्त्व में लगाना। आत्मबोध या आत्मज्ञानरूपी एक तत्त्व के ज्ञान के लिए मन और बुद्धि को लगाना योग है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्राः०। यजु० ११.४
युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः। यजु० ११.१

४. कोशों का उल्लेख—अथर्वन् (अथर्वा) ऋषि का शिर साक्षात् देवकोश है। इसमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश हैं।

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ अ० १०.२.२७

५. योगक्रिया—हृदय और मूर्धा (मन, बुद्धि) को समन्वित करते हुए उसे मस्तिष्क से ऊपर अर्थात् सहस्रार चक्र में स्थापित करना।

मूर्धानमस्य संसीव्य-अथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ अ० १०.२.२६

६. साधना के स्थान—पर्वत, पर्वतों की कन्दराएँ और नदियों के संगम योग-साधना के लिए उपयुक्त स्थल हैं। इन स्थानों पर चिन्तन से तत्त्वज्ञान होता है।

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत। यजु० २६.१५। ऋग्. ८.६.२८

७. तप की आवश्यकता—तप या कठोर साधना किए बिना ब्रह्मज्ञान या तत्त्वदर्शन नहीं होता है। तप से ही ब्रह्मज्ञान होता है।

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते।
शृतास इद् वहन्तस्तत् समाशत। ऋग्. ९.८३.१

८. आत्मज्योति सूर्यवत् तेजोमय—शरीर में विद्यमान आत्मा की ज्योति सूर्य के तुल्य तेजोमय है। उसके ज्ञान से ही मृत्यु का बन्धन टूटता है। मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

यजु० ३०.१८

९. ज्योतिदर्शन के उपाय और फल—ऋग्वेद के एक मंत्र में साधना और सिद्धि का संक्षिप्त वर्णन है। मन्त्र का कथन है कि मन वचन और कर्म इन तीनों की पवित्रता से ज्योतिरूप आत्मा को पवित्र करके मनुष्य हृदय और बुद्धि के समन्वय से आत्मज्योति का दर्शन करता है। अपनी आत्मा को अत्यन्त श्रेष्ठ बना लेता है। इसके परिणामस्वरूप वह द्यावापथिवी (समस्त संसार) को देखने में समर्थ होता है अर्थात् आत्मज्योति के दर्शन से मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है। उसको सभी दिव्य शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

त्रिभिः पवित्रैरपुपोद् ह्यर्कं, हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिः, आदिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥

ऋग्. ३.२६.८

१०. शुभ विचार आत्मदर्शन का साधन—मन की पवित्रता और दुर्विचारों (वृत्र) का नाश आत्मदर्शन का उत्तम साधन है। मंत्र में वृत्र (पाप और बुरे विचारों) को नष्ट करना ज्योतिदर्शन का उपाय बताया गया है।

हनो वृत्रं जया स्वः। ऋग्० ८.८९.४

११. शुभ विचारों से पापभावना का नाश—ऋग्वेद और यजुर्वेद में कहा गया है कि वृत्र (पाप और दुर्विचार) को नष्ट करने का एक ही उपाय है—मन को पवित्र बनाना।

भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये। ऋग्. ८.१९.२०। यजु० १५.३९

१२. पवित्र हृदय में दिव्य शक्तियों का निवास—ऋग्वेद का कथन है कि पवित्र हृदय में ही देवों और दिव्य शक्तियों का निवास होता है।

पाकत्रा स्थन देवाः। ऋग्. ८.१८.१५

१३. हृदय और मन के समन्वय से ज्योतिदर्शन—ऋग्वेद में परमात्मा को पतंग (व्यापक) कहते हुए बताया गया है कि विद्वान् हृदय और मन को समन्वित करके उस ज्योति का दर्शन करते हैं।

पतङ्गम्....हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः। ऋग्. १०.१७७.१

१४. उत्कट अभिलाषा से सिद्धि—ऋग्वेद का कथन है कि जो उत्कट अभिलाषा से पूर्ण समर्पण द्वारा साधना करता है, उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

य उशता मनसा... सर्वहृदा देवकामः सुनोति।
इन्द्रस्तस्य... प्रशस्तमित् चारुमस्मै कृणोति ॥ ऋग्. १०.१६०.३

१५. विश्वव्यापी तन्तु, तन्त्र-विज्ञान—जिस प्रकार शरीर में नस-नाड़ियाँ फैली हुई हैं, उसी प्रकार पूरे विश्व में ईश्वरीय शक्ति (ऋत) के तन्तु फैले हुए हैं। जो इनको जान लेता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है। यही तन्त्र-विज्ञान है।

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्। यजु० ३२.१२

१६. ऋतंभरा प्रज्ञा—ऋग्वेद के एक मंत्र में 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का उल्लेख है। मंत्र में ऋतंभरा प्रज्ञा के लिए 'ऋतस्य मेधा' प्रयोग है और इसका फल बताया गया है कि इसकी प्राप्ति से साधक सूर्य के तुल्य तेजस्वी हो जाता है।

अहमिद् हि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ।
अहं सूर्य इवाजनि। ऋग्. ८.६.१०

१७. साधना का फल ईशकृपा—ऋग्वेद के एक मंत्र का भाव है कि साधना का मार्ग बहुत लंबा है। इसमें पर्वत की एक चोटी से दूसरी चोटी पर चढ़ना पड़ता है। इस प्रकार कठोर साधना के अनेक पर्वत-शिखरों को पार करना पड़ता है और अनेक तप आदि करने पड़ते हैं। परमात्मा की जब कृपा होती है, तब इकट्ठे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योगी अरविन्द घोष को यह मंत्र बहुत पसन्द था।

यत् सानोः सानुमारुहद्, भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति, यूथेन वृष्णिरेजति ॥ ऋग्. १.१०.२

१८. हृदय-कमल में ब्रह्म का निवास—अथर्ववेद के एक मंत्र का कथन है कि हृदयरूपी कमल में ब्रह्म (यक्ष, आत्मा) का निवास है। उसको तत्त्वज्ञानी (ब्रह्मवेत्ता) ही जानते हैं। वह आत्मा अमर है, उसको जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता।

(क) पुण्डरीकं...तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।
(ख) तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः०। अ० १०.८.४३-४४

१९. मन महान् ज्योति है—यजुर्वेद का कथन है कि मन महान् ज्योति है। वह सब प्रकाशों का प्रकाश है। उसको शुभ संकल्प से युक्त रखें।

ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजु० ३४.१

८. आत्मज्योति सूर्यवत् तेजोमय—शरीर में विद्यमान आत्मा की ज्योति सूर्य के तुल्य तेजोमय है। उसके ज्ञान से ही मृत्यु का बन्धन टूटता है। मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

यजु० ३०.१८

९. ज्योतिदर्शन के उपाय और फल—ऋग्वेद के एक मंत्र में साधना और सिद्धि का संक्षिप्त वर्णन है। मन्त्र का कथन है कि मन वचन और कर्म इन तीनों की पवित्रता से ज्योतिरूप आत्मा को पवित्र करके मनुष्य हृदय और बुद्धि के समन्वय से आत्मज्योति का दर्शन करता है। अपनी आत्मा को अत्यन्त श्रेष्ठ बना लेता है। इसके परिणामस्वरूप वह द्यावापथिवी (समस्त संसार) को देखने में समर्थ होता है अर्थात् आत्मज्योति के दर्शन से मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है। उसको सभी दिव्य शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

त्रिभिः पवित्रैरपुपोद् ह्यर्कं, हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिः, आदिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥

ऋग्. ३.२६.८

१०. शुभ विचार आत्मदर्शन का साधन—मन की पवित्रता और दुर्विचारों (वृत्र) का नाश आत्मदर्शन का उत्तम साधन है। मंत्र में वृत्र (पाप और बुरे विचारों) को नष्ट करना ज्योतिदर्शन का उपाय बताया गया है।

हनो वृत्रं जया स्वः। ऋग्० ८.८९.४

११. शुभ विचारों से पापभावना का नाश—ऋग्वेद और यजुर्वेद में कहा गया है कि वृत्र (पाप और दुर्विचार) को नष्ट करने का एक ही उपाय है—मन को पवित्र बनाना।

भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये। ऋग्. ८.१९.२०। यजु० १५.३९

१२. पवित्र हृदय में दिव्य शक्तियों का निवास—ऋग्वेद का कथन है कि पवित्र हृदय में ही देवों और दिव्य शक्तियों का निवास होता है।

पाकत्रा स्थन देवाः। ऋग्. ८.१८.१५

१३. हृदय और मन के समन्वय से ज्योतिदर्शन—ऋग्वेद में परमात्मा को पतंग (व्यापक) कहते हुए बताया गया है कि विद्वान् हृदय और मन को समन्वित करके उस ज्योति का दर्शन करते हैं।

पतङ्गम्....हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः। ऋग्. १०.१७७.१

१४. उत्कट अभिलाषा से सिद्धि—ऋग्वेद का कथन है कि जो उत्कट अभिलाषा से पूर्ण समर्पण द्वारा साधना करता है, उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

य उशता मनसा... सर्वहृदा देवकामः सुनोति।
इन्द्रस्तस्य... प्रशस्तमित् चारुमस्मै कृणोति ॥ ऋग्. १०.१६०.३

१५. विश्वव्यापी तन्तु, तन्त्र-विज्ञान—जिस प्रकार शरीर में नस-नाड़ियाँ फैली हुई हैं, उसी प्रकार पूरे विश्व में ईश्वरीय शक्ति (ऋत) के तन्तु फैले हुए हैं। जो इनको जान लेता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है। यही तन्त्र-विज्ञान है।

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्। यजु० ३२.१२

१६. ऋतंभरा प्रज्ञा—ऋग्वेद के एक मंत्र में 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का उल्लेख है। मंत्र में ऋतंभरा प्रज्ञा के लिए 'ऋतस्य मेधा' प्रयोग है और इसका फल बताया गया है कि इसकी प्राप्ति से साधक सूर्य के तुल्य तेजस्वी हो जाता है।

अहमिद् हि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ।
अहं सूर्य इवाजनि। ऋग्. ८.६.१०

१७. साधना का फल ईशकृपा—ऋग्वेद के एक मंत्र का भाव है कि साधना का मार्ग बहुत लंबा है। इसमें पर्वत की एक चोटी से दूसरी चोटी पर चढ़ना पड़ता है। इस प्रकार कठोर साधना के अनेक पर्वत-शिखरों को पार करना पड़ता है और अनेक तप आदि करने पड़ते हैं। परमात्मा की जब कृपा होती है, तब इकट्ठे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योगी अरविन्द घोष को यह मंत्र बहुत पसन्द था।

यत् सानोः सानुमारुहद्, भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति, यूथेन वृष्णिरेजति ॥ ऋग्. १.१०.२

१८. हृदय-कमल में ब्रह्म का निवास—अथर्ववेद के एक मंत्र का कथन है कि हृदयरूपी कमल में ब्रह्म (यक्ष, आत्मा) का निवास है। उसको तत्त्वज्ञानी (ब्रह्मवेत्ता) ही जानते हैं। वह आत्मा अमर है, उसको जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता।

(क) पुण्डरीकं...तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।
(ख) तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः०। अ० १०.८.४३-४४

१९. मन महान् ज्योति है—यजुर्वेद का कथन है कि मन महान् ज्योति है। वह सब प्रकाशों का प्रकाश है। उसको शुभ संकल्प से युक्त रखें।

ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजु० ३४.१

२०. एक आत्मा के ही अनेक नाम—ऋग्वेद का कथन है कि विश्वव्यापी महान् शक्ति आत्मा (परमात्मा, ब्रह्म) एक ही है। उसको ही कोई इन्द्र, कोई मित्र, कोई वरुण और कोई अग्नि, यम, वायु आदि कहते हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः....
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति०। ऋग्. १.१६४.४६

६. योग की कतिपय विभिन्न विधियाँ

योग-साधना के मुख्य रूप से दो भेद हैं—राजयोग और हठयोग। राजयोग के चार उपभेद हैं—१. ज्ञानयोग, २. कर्मयोग, ३. भक्तियोग, ४. ध्यानयोग। राजयोग और हठयोग में मुख्य भेद यह है कि राजयोग आत्मिक या आध्यात्मिक उन्नति को प्रमुखता देता है। हठयोग शारीरिक उन्नति और शारीरिक स्वास्थ्य को प्रधानता देता है। यदि समग्र दृष्टि से देखा जाए तो हठयोग राजयोग की पूर्वपीठिका या पूरक है। हठयोग साधक को शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करके कठिनतम साधना के योग्य बना देता है। हठयोग के आचार्यों का कथन है कि हठयोग राजयोग का पूरक या साधक है। यह साधक को उच्च योग (राजयोग) का अधिकारी बना देता है।

१. राजयोग—सर्वोच्च योग-साधना-पद्धति है। राजयोग का अर्थ है—'योगानां राजा राजयोगः' योगसाधन की सर्वोत्तम विधि। राजा शब्द का अर्थ सर्वोत्तम या सर्वोत्कृष्ट है। राजयोग का यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि यह राजाओं का योग या राजाओं के लिए योगसाधना पद्धति है। राजयोग में शरीर को घोर कष्ट देना या यन्त्रणा देना आदि निषिद्ध है।

गीता में राजयोग को 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' नाम दिया है। राजविद्या का अर्थ है—सर्वश्रेष्ठ विद्या और राजगुह्य का अर्थ है—अत्यन्त गोपनीय या अत्यन्त रहस्यमय विद्या। इस राजयोग या राजविद्या को अत्यन्त पवित्र, प्रत्यक्ष फल देने वाला और स्थायी सुख देने वाला बताया गया है।

राजविद्या राजगुह्यं, पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं, सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ गीता ९.२

गीता के एक श्लोक में योग के तीन भेदों का उल्लेख है—१. ध्यानयोग, २. ज्ञानयोग, ३. कर्मयोग। इन तीनों विधियों से परमात्मा का हृदय में दर्शन होता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन, कर्मयोगेन चापरे॥ गीता १३.२४

२. ज्ञानयोग—गीता (अ० २ श्लोक ११ से ३०) में ज्ञानयोग का विस्तृत वर्णन है। सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार साधना-विधि को ज्ञानयोग कहते हैं। यह विधि शास्त्रज्ञों, विद्वानों, तत्त्वचित्तकों और शिक्षाजगत् से संबद्ध व्यक्तियों के लिए अधिक अनुकूल पड़ती है।

ज्ञानयोग की मुख्य बाते ये हैं :—१. आत्मा अजर अमर और अविनाशी है। २. जन्म और मृत्यु ऐसे ही हैं, जैसे पुराने वस्त्र को उतारकर नए वस्त्र पहनना। ३. प्रत्येक शरीर का नाश होता है और पुनर्जन्म होता है। ४. सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझो। ५. प्रत्येक कर्म का फल अवश्य मिलता है। ६. शुद्ध चित्त से, राग-द्वेष को छोड़कर, काम-क्रोध आदि को छोड़कर, विषयों से विरक्त होकर परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। ७. सत्त्व, रजस् आदि तीनों गुणों से ऊपर उठकर अपने आत्मिक बल को जागृत करते हुए सदा आत्म-चिन्तन में लीन रहना। ८. सभी कामनाओं को छोड़कर, सुख-दुःख की चिन्ता छोड़कर, अचल भाव से समाधि में नित्य लगे रहना ज्ञानयोग है। ९. मन को वश में करके आत्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन करना। १०. एकाग्र चित्त होकर सदा आत्मचिन्तन में लगा हुआ ज्ञानी परमात्मा को सबसे अधिक प्रिय होता है और उसपर परमात्मा की विशेष कृपा होती है (गीता ७. १७)। ११. ज्ञानरूपी अग्नि साधक के सारे कर्मों को भस्म कर देती है और वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। (गीता ४. ३७)

३. कर्मयोग—गीता के अध्याय दो (श्लोक ४० से ६२) और तीन में कर्मयोग का विस्तार से वर्णन है। कर्मयोग की संक्षिप्त व्याख्या गीता में की गई है कि मनुष्य का कर्म करने में ही अधिकार है, फल में नहीं। कर्म के फल की इच्छा से कोई कर्म न करे। कर्मफल पर अधिकार न होने पर भी कर्म न करने की भावना कभी नहीं आनी चाहिए।

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू-र्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता २.४७

गीता का कथन है कि संसार में कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी बिना काम किए हुए नहीं रह सकता है। सत्त्व, रज आदि प्राकृतिक गुण मनुष्य को कर्म करने के लिए बाध्य करते हैं (३.५)। इसलिए मनुष्य को सदा कर्म करना चाहिए। बिना काम किए हुए जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता है (३.८)। मनुष्य कर्तव्य की भावना से कर्म करे, कर्मफल परमात्मा पर छोड़ दे। ऐसा करने से वह कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता (५.१०)। योगी और साधक भी मन-बुद्धि और शरीर से आसक्ति छोड़कर कर्म करते हैं। उनका कर्म करना केवल

आत्मशुद्धि के लिए होता है। जो निष्काम भाव से कर्म करते हैं, उन्हें स्थायी शान्ति प्राप्त होती है और जो सकाम भाव से कर्म करते हैं, वे कर्म के बन्धन में पड़ते हैं (५.११ और १२)।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह आसक्ति को छोड़कर, कार्य की सफलता और असफलता में समान भावना रखते हुए कर्म करे। यह समत्व भावना ही योग है (२.४८)। समत्व बुद्धि वाले को पाप-पुण्य की चिन्ता नहीं होती। समत्व भावना से युक्त होकर कर्म करे। यही कर्मों में कुशलता मानी जाती है। इससे ही मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त होता है। यही कर्मयोग है।

समत्वं योग उच्यते। गीता २.४८

योगः कर्मसु कौशलम्। गीता २.५०

कर्मयोग की साधना से ही मनुष्य स्थितप्रज्ञ होता है। वह सभी बाह्य अभिलाषाओं को छोड़ देता है और अपने-आप में सदा सन्तुष्ट रहता है। वह कष्टों में घबराता नहीं है और सुखों में निर्लेप रहता है। वह राग-द्वेष, भय-क्रोध आदि को छोड़ देता है। सुख-दुःख एवं शुभ-अशुभ में न प्रसन्न होता है और न दुःखित। वह बाहरी विषयों से अपने मन को इसी प्रकार खींच लेता है, जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है (२.५५ से ५८)।

मनुष्य जितना अनासक्ति—भावना को बढ़ाते हुए, कर्तव्य-भावना से कर्म करेगा, उतना ही उच्च कोटि का साधक बन सकेगा और उतनी ही उसे बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त होंगी।

४. भक्तियोग—गीता में अनेक स्थलों पर भक्तियोग का विशद वर्णन हुआ है। भक्तियोग में भक्ति-भावना को प्रमुखता है। भक्त परमात्मा को आत्म-समर्पण कर देता है। वह अनन्य मन होकर शुद्ध चित्त से प्रभु का भजन करता है और सुख-दुःख की चिन्ता नहीं करता है। भक्तियोग में भजन-कीर्तन, जप-तप और प्रभु-स्मरण. मुख्य है। बौद्धिक काम करने वाले विद्वानों और ज्ञानियों के लिए ज्ञानमार्ग अधिक रुचिकर होता है। सामान्य मनुष्यों और श्रमजीवियों के लिए कर्मयोग अनुकूल पड़ता है। स्त्रियों एवं भावुक लोगों के लिए भक्तियोग अधिक अनुकूल है।

गीता में भक्तियोग की ये विशेषताएँ बताई गई हैं। भक्त अपने मन और बुद्धि को परमात्मा को समर्पित कर देता है। वह किसी से द्वेष नहीं करता है, सबसे प्रेम करता है, दीनों पर दया करता है, ममता और अहंकार छोड़ देता है, सुख-दुःख को समान मानता है, अपराधी को भी क्षमा कर देता है, सदा सन्तुष्ट रहता है, जितेन्द्रिय और दृढ़ निश्चयी होता है। ऐसा भक्त ईश्वर को प्रिय होता है

(१२.१३-१४)। वह पवित्र, शुद्ध, निपुण, पक्षपात-रहित होता है। वह न शोक करता है और न कोई कामना करता है। शुभ-अशुभ कर्मों का त्याग करता है, भक्तिभाव रखता है। निन्दा-स्तुति में समत्व बुद्धि रखता है। स्थिरबुद्धि वाला होता है। (१२.१३ से १९)

यो मद्भक्तः स मे प्रियः। गीता १२.१४

भक्तिमान् यः स मे प्रियः। गीता १२.१७

भक्तियोग में भक्ति-भावना मुख्य है। भक्त परमात्मा को आत्मसमर्पण कर देता है। भक्तियोग में भक्त परमात्मा में रम जाता है। उच्च स्थिति में वह परमात्मा के रंग में रंग जाता है और तन्मय होकर परमात्मा से एकत्व की अनुभूति करता है। उसका एकनिष्ठ प्रेम उसे दैवी गुणों से युक्त कर देता है।

५. ध्यान योग—गीता में ध्यानयोग का भी अनेक स्थलों पर वर्णन है। ध्यान यह योग की अन्तरंग विधि है। धारणा में मन की एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। उससे अगली सीढ़ी ध्यान है। ध्यान में मन को आत्मतत्त्व पर केन्द्रित किया जाता है। मन को निर्विषय करते हुए आत्मतत्त्व का ही मनन-चिन्तन करना ध्यान योग है। ध्यान की स्थिति में मन एकाग्र रहता है। तत्त्वचिन्तन से आन्तरिक शक्तियाँ प्रबुद्ध होती हैं। आन्तरिक शक्तियों का प्रबुद्ध होना ही दिव्य शक्तियों का अवतरण है। ध्यान से सभी प्रकार के विघ्न दूर होते हैं। योगदर्शन के सूत्रों में भी ध्यान की उपयोगिता का वर्णन करते हुए कहा गया हैं कि अपने अभीष्ट किसी भी देव या देवी आदि के ध्यान से मन एकाग्र हो जाता है। ध्यान के द्वारा मन की स्थूल वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं।

यथाभिमतध्यानाद् वा। योग० १.३९

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। योग० २.११

गीता में ज्ञानयोग से ध्यानयोग को श्रेष्ठ बताया गया है। सामान्य योगाभ्यास से ज्ञान योग श्रेष्ठ है और ज्ञानयोग से भी ध्यानयोग उत्तम है।

ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते। गीता १२.१२

गीता में ध्यानयोग का संक्षेप में वर्णन करते हुए कहा गया है कि शुद्ध बुद्धि से युक्त होकर, राग-द्वेष की भावना छोड़कर, अपने मन-वचन-कर्म पर नियन्त्रण करके जो सदा ध्यानयोग का आश्रय लेता है, वह शान्तचित्त होकर ब्रह्म में एकत्व की अनुभूति करता है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
ध्यानयोगपरो नित्यं.. ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

गीता १८.५१-५३

इस प्रकार ध्यानयोग मन को एक तत्त्व के चिन्तन में लगाकर समाधि के लिए भूमिका तैयार करता है। ध्यान की सुदृढता ही तत्त्वदर्शन और समाधि की सिद्धि का आधार है।

६. हठयोग—यह योगसाधना की विशिष्ट पद्धति है। यह राजयोग की पूरक या सहायक पद्धति है। हठयोग में शारीरिक उन्नति, शरीर की पुष्टि, अंग-प्रत्यंगों की दृढता, नाडी-संस्थान पर अधिकार आदि पर विशेष बल दिया जाता है। इसके लिए आसनों और प्राणायामों की सहायता ली जाती है। इस योग में आसन, प्राणायाम और षट्कर्म को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। हठप्रदीपिका में हठयोग की साधना के ये लाभ बताए गए हैं—शरीर में हल्कापन, मुख पर प्रसन्नता एवं कान्ति, स्वर में माधुर्य, नेत्रों में तेजस्विता, नीरोगता, बिन्दु (आज्ञाचक्र से स्रवित होने वाला एक प्रकार का स्राव या रस पर नियन्त्रण, जठराग्नि का प्रदीप्त होना, नाड़ियों की शुद्धि।

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता, नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं, नाडीविशुद्धिर्हठसिद्धि-लक्षणम्।

हठ. २.७८

हठप्रदीपिका ने अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट किया है कि हठयोग राजयोग की सिद्धि के लिए सीढ़ी के तुल्य है। योगसाधना का लक्ष्य राजयोग है, जिससे उच्चकोटि की मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकें। आत्मिक आनन्द और विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ राजयोग से ही प्राप्त होती हैं। केवल हठयोग योगसाधना को निरर्थक बना देता है, उससे आत्मिक शान्ति और आनन्द नहीं मिल पाते।

केवलं राजयोगाय, हठविद्योपदिश्यते। हठ. १.२

हठयोग और लययोग की सारी प्रक्रियाएँ राजयोग की प्राप्ति के लिए हैं।

सर्वे हठलयोपाया, राजयोगस्य सिद्धये। हठ. ४.१०३

हठप्रदीपिका ने स्पष्ट किया है कि योगसाधना की सफलता के लिए हठयोग और राजयोग दोनों अनिवार्य हैं। हठयोग से शरीर और मन पर नियन्त्रण होता है तथा राजयोग से आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

हठं विना राजयोगो, राजयोगं विना हठः।
न सिध्यति ततो युग्मम्, आनिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥ हठ. २.७६

हठप्रदीपिका ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है कि जबतक मन का पूर्ण निरोध नहीं हो जाता और प्राण की गति पर नियंत्रण नहीं हो जाता, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता है और न साधक को मोक्ष ही मिल पाएगा। तत्त्वज्ञान और

मोक्ष के लिए आवश्यक है कि प्राण और मन पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त हो। इसके लिए ही हठयोग और राजयोग के विधान है।

प्राणं मनो द्वयमिदं विलयं नयेद् यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः॥ हठ. ४.१५

७. योग के आठ अंगों का संक्षिप्त परिचय

महर्षि पतंजलि ने योग के ८ अंग बताए हैं। ये हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि।

यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि।
योग. २.२९

(१) यम

यम ५ हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पतंजलि का कथन है कि यम सार्वभौम महाव्रत हैं। इसमें किसी देश, जाति या काल आदि का बन्धन नहीं है। यम मानवमात्र की उन्नति, विकास और विश्व-शान्ति के लिए हैं। अतएव सभी धर्मों ने इनको स्वीकार किया है।

(क) अहिंसासत्याऽस्तेय-ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः। योग० २.३०

(ख) सार्वभौमा महाव्रतम्। योग० २.३१

(क) अहिंसा—किसी जीव की हत्या न करना, किसी को शारीरिक कष्ट न देना अहिंसा है। अहिंसा शब्द का व्यापक अर्थ है—मन, वचन और कर्म से किसी को दुःख न पहुँचाना। अतएव कटु शब्द बोलना, मन से किसी का अनिष्ट सोचना, चुगली करना आदि भी हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। पतंजलि ने अहिंसा की प्रतिष्ठा का फल बताया है कि कोई उससे वैर नहीं रखता। अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर हिंसक जन्तु भी उसपर आक्रमण नहीं करते। अतएव प्राचीन ऋषि-मुनियों के आश्रम में शेर आदि भी हिंसाभाव छोड़कर आश्रमवासियों के साथ प्रेम से रहते थे।

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः। योग० २.३५

(ख) सत्य—झूठ न बोलना। इसका व्यापक अर्थ है—सत्यनिष्ठा, सत्य-भाषण, व्यवहार में ईमानदारी, मन वचन और कर्म से सत्य और प्रिय वचन बोलना। छल, कपट, धोखा देना आदि सभी दुर्गुण असत्य व्यवहार में आते हैं। इनका परित्याग करना चाहिए। पतंजलि ने सत्य की प्रतिष्ठा का फल बताया है कि सत्यभाषी की वाणी सच्ची सिद्ध होती है। वह कोई आशीर्वाद आदि देता है तो वह बात सच होती है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। योग० २.३६

यहाँ पर एक शिक्षाप्रद घटना का उल्लेख करना उचित हैं। हिन्दी के एक प्रख्यात लेखक श्री प्रतापनारायण मिश्र ने जासूसी उपन्यास-सम्राट् श्री गोपालराम गहमरी से कहा कि मैंने एक बहुमूल्य रत्न बिना मोल के पाया है, यदि तुम चाहो तो वह तुम्हें मुफ्त में दे सकता हूँ। श्री गहमरी ने कहा—वह क्या रत्न है ? यदि मैं उसे संभालकर रख सकूँगा तो अवश्य ले लूँगा। श्री मिश्र ने कहा—वह रत्न है—सदा सत्यभाषण। श्री गहमरी ने कहा—मैं तो दिनभर झूठ बोलता हूँ। यह रत्न रखना कैसे संभव होगा ? श्री मिश्र ने कहा—इसकी चिन्ता न करो। तुम्हें कुछ नहीं करना है। तुम केवल इतना करना कि दिनभर में जितनी बार झूठ बोलते हो, उसे नोट कर लेना और अगले दिन प्रातः मुझे बता देना। श्री गहमरी ने अपने संस्मरण में लिखा है कि मैं प्रतिदिन प्रातः श्री मिश्र जी को झूठ बोलने की संख्या बताता रहा। इसका आश्चर्यजनक लाभ यह हुआ कि मेरे झूठ बोलने की संख्या प्रतिदिन कम होती गई और एक मास में मैंने झूठ बोलना सर्वथा छोड़ दिया।

यह दृष्टान्त सभी दुर्गुणों और दुर्व्यसनों को छोड़ने का सरलतम उपाय है। इस विधि से मद्यपान, धूम्रपान, असंयम, क्रोध आदि दुर्गुणों पर अनायास विजय प्राप्त की सकती है। केवल इच्छाशक्ति प्रबल होनी चाहिए। प्रतिदिन उसकी संख्या या मात्रा नोट करें। स्वयं वह दुर्गुण कुछ समय में समाप्त हो जाएगा।

(ग) अस्तेय—अस्तेय का अर्थ है—अ-नहीं, स्तेय-चोरी करना, अर्थात् चोरी न करना। अस्तेय का व्यापक अर्थ है—अनुचित साधनों से किसी की कोई वस्तु न लेना। इसमें भ्रष्टाचार के सभी साधन आ जाते हैं। चोरी, डकैती, जेब काटना, घूस लेना, पराए धन या भूमि आदि का अपहरण आदि। ये कार्य मनुष्य के चरित्र को दूषित करते हैं। इनसे मनुष्य की उन्नति एवं विकास रुक जाता है, अतः ये दुर्गुण सर्वथा त्याज्य हैं। पतंजलि ने अस्तेय की प्रतिष्ठा का फल बताया है कि इसको अपनाने से सभी प्रकार का वैभव साधक को स्वयं प्राप्त हो जाता है।

अस्तेय-प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। योग० २.३७

(घ) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का अर्थ है—संयम का कठोरता से पालन। वीर्य की सर्वथा सुरक्षा। इसके लिए आवश्यक है कि साधक कामोद्दीपक मांस-मदिरा आदि का सेवन छोड़े, उत्तेजक भोजन न करे, उत्तेजक चल-चित्रादि न देखे, काम-भावना से परस्त्री आदि को न देखे आदि। वीर्य ओजस् (ओजस्विता) का साधन है। शरीर का सबसे बहुमूल्य तत्त्व है। वही तेजस्विता, प्रतिभा, शक्ति, साहस, प्रज्ञा आदि का आधार है। इसके नाश से मनुष्य क्षीण और निस्तेज हो जाता है। साधक के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। अथर्ववेद का कथन है कि देवता ब्रह्मचर्य के पालन से मृत्यु पर विजय पा सके और अमर हो गए।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। अथर्व० ११.५.१९

(ङ) अपरिग्रह—अपरिग्रह का अर्थ है—अ-नहीं, परिग्रह-लेना, संचय करना, धन-सामग्री एकत्र करना। अतः अपरिग्रह का अर्थ होता है—अनावश्यक धन, भोग-सामग्री एवं सुख-सुविधा की वस्तुओं आदि का संग्रह न करना। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य केवल आवश्यक धन एवं वस्तुओं का ही संग्रह करें। इसको हम असंचयी या अल्प-संचयी वृत्ति कह सकते हैं। अनावश्यक भोग-सामग्री का संचय करना लोभ की प्रवृत्ति को जागृत करता है और यह मायाजाल में फँसाने का कारण होता है। अतः साधक का कर्तव्य है कि वह अत्यावश्यक धन और उपभोग की वस्तुएँ ही अपने पास रखे। किसी से न माँगे और न दान-दक्षिणा आदि ग्रहण करे।

योगदर्शन में अविद्या, राग, द्वेष आदि क्लेश, ममत्व, अहंकार को भी परिग्रह में गिना गया है, क्योंकि ये ही परिग्रह के मूल कारण हैं। इनसे छुटकारा पाना अपरिग्रह है। अपरिग्रह की प्रतिष्ठा का फल बताया गया है कि साधक को पूर्वजन्म की बातों का ज्ञान हो जाता है और उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि अगला जन्म कहाँ और कैसा होगा।

अपरिग्रह-स्थैर्ये जन्मकथन्ता-संबोधः। योग० २.३९

(२) नियम

नियम भी पाँच हैं—१. शौच, २. सन्तोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय, ५. ईश्वर-प्रणिधान।

शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योग० २.३२

(क) शौच—शुचि (पवित्र) शब्द से शौच शब्द बना है। इसका अर्थ है—पवित्रता, शुद्धि, स्वच्छता। शौच या शुद्धि अनेक प्रकार की है। मुख्य रूप से इसके दो भेद हैं—१. बाह्य शुद्धि, २. आभ्यन्तर शुद्धि।

१. बाह्यशुद्धि—यह शारीरिक शुद्धि है। शरीर को स्वच्छ रखना, आँख-नाक आदि को स्वच्छ रखना। इसके लिए दैनिक स्नान आवश्यक है।

२. आभ्यन्तर शुद्धि—यह आन्तरिक दोष, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आदि दोषों को दूर करना है। यह मानसिक शुद्धि है। इसमें दुर्विचारों को हटाकर शुभ विचारों को ग्रहण करना अभीष्ट है।

मनु ने कुछ शुद्धियों का निर्देश किया है। मनु का कथन है कि शरीर की शुद्धि जल से होती है, मन की शुद्धि सत्य से होती है, जीवात्मा की शुद्धि अध्यात्मज्ञान और तप से होती है तथा बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ मनु० ५.१०९

मनु ने एक महत्त्वपूर्ण बात लिखी है कि अर्थ-शुद्धि सबसे बड़ी शुद्धि है। जो देन-लेन, धन के आदान-प्रदान में शुद्ध है, वही वस्तुतः पवित्र है। अन्य शुद्धियाँ गौण हैं। इसका अभिप्राय है कि जो भ्रष्टाचार या अन्य अनुचित उपायों से धन अर्जित करता है, वह शुद्ध व्यक्ति नहीं है।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः, न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ मनु० ५.१०६

घेरण्ड संहिता (१.१२) ने शारीरिक शुद्धि के लिए नेति, धौति आदि षट्कर्मों को उपयोगी बताया है। इनसे आँख, नाक, पेट आदि की पूर्णतया शुद्धि होती है। ये हठयोग की विशिष्ट क्रियाएँ हैं।

(ख) सन्तोष—अपने पुरुषार्थ से जितना या जो कुछ धन आदि मिले, उससे प्रसन्न रहना सन्तोष है। आवश्यकता से अधिक धन का लोभ करना असन्तोष है। सन्तोष से मन प्रसन्न रहता है और असन्तोष से खिन्न। वेद का आदेश है **'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'** (यजु० ४०.१) दूसरे के धन की लालसा न करे। स्वोपार्जित से सन्तुष्ट रहे। मनु का कथन है कि सन्तोष से सुख होता है और असन्तोष से दुःख।

सन्तोषमूलं हि सुखं, दुःखमूलं विपर्ययः। मनु० ४.१२

(ग) तप—तप का अभिप्राय है—जीवन को तपस्वी बनाना। सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, हर्ष-शोक आदि को सहन करने की क्षमता। इनमें अपने मन को विचलित न होने देना तप है। अपने निश्चय पर अटल रहना, ईश्वर पर अटूट आस्था रखना, नियमित धारणा ध्यान आदि का करना, सत्यभाषण आदि नियमों का कठोरता से पालन करना, ये सभी तप के अन्तर्गत आते हैं। साधना के नियमों का पूर्णरूप से पालन तप है।

गीता (१७.१४ से १९) में तप के विविध रूपों का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है। तदनुसार तप के ये रूप हैं—

१. शारीरिक तप—मान्य जनों का आदर करना, शारीरिक पवित्रता, स्वभाव में सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन और अहिंसा का व्रत लेना।

२. वाचिक तप—सत्य और प्रिय वचन बोलना, कटु वचन न बोलना, आध्यात्मिक ग्रन्थों का पढ़ना और ईश्वर के नाम का जप।

३. मानस तप—प्रसन्नचित्त रहना, सरल स्वभाव, मितभाषी होना, जितेन्द्रिय होना और पवित्र विचारों को ही रखना।

४. सात्त्विक तप—निष्काम भावना से तथा फल की इच्छा छोड़कर श्रद्धाभाव से पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप करना।

५. राजस तप—फल की इच्छा से, सत्कार मान और पूजा के लिए तप करना।

६. तामस तप—फल की इच्छा से, शरीर को कष्ट देकर तप करना तथा दूसरे के अहित के लिए तप करना तामस तप है।

(घ) स्वाध्याय—स्व-आत्मा का, अध्याय-अध्ययन, मनन, चिन्तन अर्थात् आत्मविषयक ग्रन्थों का पढ़ना। ऐसे ग्रन्थ जिनके पढ़ने से जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप, उनके गुण-कर्मों आदि का ज्ञान प्राप्त होता है, उसे स्वाध्याय कहते हैं। वेद, उपनिषद्, दर्शन एवं आध्यात्मिक ग्रन्थ स्वाध्याय की श्रेणी में आते हैं। समाचार पत्र, उपन्यास, कहानी आदि पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। योगदर्शन में स्वाध्याय का फल बताया गया है कि स्वाध्याय से अपने अभीष्ट देव या देवी का साक्षात्कार होता है या उसके स्वरूप का बोध होता है। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय का बहुत महत्त्व वर्णन किया गया है। स्वाध्याय से न केवल ज्ञान की वृद्धि होती है। अपितु लोकसम्मान, प्रतिष्ठा और यश की वृद्धि होती है।

स्वाध्यायादिष्ट-देवता-संप्रयोगः। योग० २.४४

(ङ) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर-प्राणिधान के दो अर्थ लिए गए हैं—**१. ईश्वरार्पण**—ईश्वर में प्रणिधान अर्थात् स्वयं को ईश्वर में पूर्णतया रख देना, ईश्वर को आत्म-समर्पण या ईश्वरार्पण। इसका प्रकार यह बताया गया है कि साधक निष्काम भाव से कर्म करे। कर्मफल की इच्छा न करे। अपने सारे कर्मों को ईश्वरार्पण कर दे। इसका अभिप्राय यह है कि साधक यह समझ कर काम करे कि कर्तृत्व परमात्मा के हाथ में है। मैं उसके आदेशानुसार काम कर रहा हूँ। मेरे कर्मों का जो भी फल होगा, वह ईश्वर को अर्पित है। मुझे कर्मफल से कुछ लेना-देना नहीं है। यह निष्काम कर्मयोग है। **२. ईश्वरोपासना**—ईश्वर को प्रणिधान अर्थात् हृदय-मन्दिर में स्थापित करना। ईश्वर का मनन, चिन्तन और ध्यान करना। यह ईश्वरोपासना है। योगदर्शन में ईश्वर-प्रणिधान का फल बताया गया है कि इससे समाधि की सिद्धि हो जाती है। ईश्वर का निरन्तर चिन्तन करने से शीघ्र ही समाधि की पूर्णता प्राप्त होती है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योग० २.४५

यम-नियम—मनु महाराज ने मनुस्मृति में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है कि यम-नियम में यम मुख्य हैं और नियम गौण। सत्य, अहिंसा आदि यमों का पालन अनिवार्य है, नियमों में कुछ शिथिलता हो सकती है। केवल नियमों के

पालने से काम नहीं चल सकता। यमों का पालन न करने से मनुष्य को सफलता नहीं मिल सकती है, वह भ्रष्ट या कर्तव्य-च्युत हो जाता है।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ मनु० ४.२०४

(३) आसन

पतंजलि का कथन है कि स्थिरभाव से सुखपूर्वक बैठने को आसन कहते हैं।

स्थिरसुखमासनम्। योग० २.४६

साधक को किसी एक आसन पर पर्याप्त समय तक बैठने का अभ्यास डालना होता है। इसके लिए आवश्यक होता है कि साधक किसी एक या दो आसन को सिद्ध कर ले। प्रारम्भ में ५ मिनट तक एक आसन पर बैठने का अभ्यास डाले। उतने समय तक वह पैर आदि न बदले और अत्यन्त शान्ति से बैठे। समय को क्रमशः एक या दो मिनट बढ़ाते हुए एक या दो घण्टे एक आसन पर बैठने का अभ्यास डाले। तभी साधना में विशेष प्रगति होगी। आसन में स्थिरता होनी चाहिए, अस्थिरता नहीं, साथ ही सुख की अनुभूति हो। यदि कष्ट होता है तो ध्यान बट जाएगा।

बैठने के लिए इन आसनों में से कोई एक या दो आसन सिद्ध कर लें। सुखासन, सिद्धासन, स्वस्तिक आसन, पद्मासन और वज्रासन ये आसन साधना के लिए अत्युत्तम हैं। इनकी विधि आसन के प्रकरण में दी गई है। पतंजलि ने आसन सिद्ध करने का प्रकार बताया है कि अपने शरीर को ढीला छोड़ दें और अनन्त ब्रह्म का चिन्तन करें। शरीर ढीला छोड़ देने से शरीर में अकड़न नहीं आती और ब्रह्म के चिन्तन से मन में एकाग्रता आ जाती है। आसन को सिद्ध करने से लाभ यह होता है कि उतने समय सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों का प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः। योग० २.४८

(४) प्राणायाम

प्राणायाम का अर्थ है—प्राणानाम् आयामः, प्राणों का विस्तार, प्राणों पर नियन्त्रण, प्राणों को अपने वश में करना, प्राणों को इच्छानुसार छोड़ना और रोकना। पतंजलि ने श्वास और प्रश्वास की गति को रोकने को प्राणाया कहा है।

तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गति-विच्छेदः प्राणायामः। योग० २.४९

प्राणायाम के मुख्य रूप से तीन भेद हैं—पूरक, रेचक और कुम्भक।

१. **पूरक**—साँस को अपने अन्दर ले जाना या भरना। बाहरी वायु को अन्दर ले जाना या खींचना पूरक है। इसे श्वास कहते हैं।

२. **रेचक**—अन्दर की वायु को बाहर निकालना, साँस बाहर फेंकना, रेचक है। इसे प्रश्वास कहते हैं।

३. **कुम्भक**—साँस को रोकना। इसके दो भेद हैं—**(क) आभ्यन्तर कुंभक**—साँस को अन्दर ले जाकर अन्दर ही रोकना। **(ख) बाह्य कुम्भक**—रेचक करते हुए साँस को बाहर निकालना और उसे बाहर ही रोकना।

प्राणायाम का मुख्य लाभ है—शरीर की शुद्धि। प्राणायाम में बाहरी वायु को शरीर के अन्दर ले जाकर रोकते हैं, इससे शरीर में विद्यमान रोग के कीटाणु नष्ट होते हैं। श्वास के द्वारा आक्सीजन अन्दर जाता है और प्रश्वास के द्वारा अन्दर विद्यमान कार्बन डाइ-आक्साइड बाहर आता है। ऑक्सीजन शुद्ध प्राणवायु है। यह अन्दर जाकर दूषित रक्त को शुद्ध करता है। इससे प्राणशक्ति मिलती है। जीवन में शुद्धता, स्फूर्ति और क्रियाशीलता आती है। कार्बन डाइ-आक्साइड दूषित वायु है, शरीर का मैल है। प्रश्वास के द्वारा यह दूषित वायु बाहर आती है और शरीर का मैल निकल जाता है। इस प्रकार प्राणायाम से एक ओर शुद्ध वायु मिलती है और दूसरी ओर शरीर से अशुद्ध वायु बाहर निकलती है। शुद्ध वायु शरीर को नीरोगता, जीवन शक्ति और पुष्टि देता है।

प्राणायाम का लाभ बताते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि जिस प्रकार आग में डालने पर लोहे आदि का मैल जल जाता है और वह निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा शरीर में विद्यमान मैल जलकर नष्ट हो जाता है और शरीर शुद्ध हो जाता है। शरीर के इस मैल के द्वारा नाना प्रकार के रोग होते हैं। प्राणायाम से मैल जल जाने से विभिन्न रोगों के बीज नष्ट हो जाते हैं।

दह्यन्ते ध्मायमानानां, धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते, दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु० ६.७१

प्राणायाम के भेद और विधि आदि का वर्णन आगे किया गया है। पतंजलि ने प्राणायाम के दो लाभ बताए हैं—१. जीवात्मा के ऊपर अविद्या आदि के अंधकार का आवरण पड़ा हुआ है, अतएव आत्मा के प्रकाश का दर्शन नहीं होता। प्राणायाम से यह आवरण नष्ट हो जाता है और प्रकाश-दर्शन का मार्ग खुल जाता है। प्राणायाम से प्राण पर अधिकार हो जाता है। प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राण पर नियन्त्रण होने पर मन पर भी नियन्त्रण हो जाता है। मन पर

नियन्त्रण होना साधना की बहुत बड़ी उपलब्धि है। २. मन पर नियन्त्रण हो जाने से धारणा की विशेष योग्यता हो जाती है। धारणा के अभ्यास में सरलता हो जाती है और मन शीघ्र एक बिन्दु पर स्थिर हो जाता है।

(क) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। योग० २.५२

(ख) धारणासु च योग्यता मनसः। योग० २.५३

(५) प्रत्याहार

प्रत्याहार का अर्थ है—विमुख होना, पीछे हटना, दूसरी दिशा में जाना, विषयों से विमुख होना। योग में प्रत्याहार का अर्थ है—इन्द्रियों का अपने बाह्य विषयों से हटकर अन्दर की ओर जाना, अन्तर्मुख होना। जब चित्त की बाहरी विषयों की उपेक्षा कर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होती है, तब वह प्रत्याहार कहा जाता है। इन्द्रियाँ चित्त के अधीन हैं। जिधर चित्त जाता है, उधर ही इन्द्रियाँ जाती हैं। जैसे मधुमक्खी अपनी रानी का अनुसरण करती हैं। रानी जिधर जाती है, उधर ही सारी मधुमक्खियाँ जाती हैं। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी चित्त का अनुसरण करती हैं। जब चित्त बाह्य विषयों की उपेक्षा कर अन्दर की ओर झाँकने की चेष्टा करता है तो इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुखी वृत्ति वाली हो जाती हैं। योगसाधना के लिए चित्त का अन्तर्मुखी होना अनिवार्य है। जबतक चित्त अन्तर्मुख नहीं होता, तबतक साधना में प्रगति नहीं होगी। प्राणायाम के द्वारा प्राण और मन पर अधिकार होता है। उसके बाद प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियों पर नियन्त्रण होता है। इससे इन्द्रियों की चंचलता समाप्त होती है। कठोर साधना से प्रत्याहार की सिद्धि होती है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर इन्द्रियों की चंचलता समाप्त होती है और साधना में मन लगने लगता है। अतएव पतंजलि ने कहा है कि प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियों पर कठोर नियन्त्रण या अधिकार प्राप्त होता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। योग० २.५५

(६) धारणा

धारणा का अर्थ है—चित्त को किसी देशविशेष या स्थानविशेष में लगा देना। चित्त उस स्थान-विशेष से इधर-उधर न हटे। इसका अभिप्राय है कि चित्त किसी एक स्थान पर एकाग्र हो जाए। इसको ही concentration (एकाग्रता) कहते हैं। पतंजलि ने धारणा का लक्षण दिया है—मन को किसी देशविशेष में बाँध देना।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योग० ३.१

बाह्य धारणा के अभ्यास की ५ विधियाँ हैं—

(क) पार्थिव धारणा—'ओम्' अक्षर, काला गोल बिन्दु या चिह्न या किसी महापुरुष आदि के चित्र पर मन को एकाग्र करना।

(ख) जलीय धारणा—जलाशय आदि के किनारे बैठकर जल की तरंगों पर मन एकाग्र करना।

(ग) आग्नेय धारणा—दीपशिखा, मोमबत्ती या रंगीन बल्ब आदि पर अपना मन एकाग्र करना।

(घ) वायवीय धारणा—नासिका-छिद्र से निकलती हुई वायु की गति के स्पर्श का एकाग्र होकर अनुभव करना।

(ङ) शाब्दिक धारणा—ओम् आदि की ध्वनि, गंगा आदि के कलकल निनाद या अनाहत नाद पर अपने मन को स्थिर करना।

आभ्यन्तर धारणा—भ्रूमध्य, हृदय, सहस्रार चक्र आदि पर अपना मन एकाग्र करना।

(७) ध्यान

यह धारणा की अगली कोटि है। धारणा में मन किसी एक स्थान पर एकाग्र होता है। जब यह एकाग्रता दृढ़ हो जाती है और उसमें ज्ञानात्मक चित्तवृत्ति का एक अविच्छिन्न प्रवाह बहने लगता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान की अवस्था में मन जरा भी विचलित नहीं होता है। साधक को देश-काल आदि का भी बोध नहीं रहता। वह तन्मय होकर ध्येय का ध्यान करता है। वह ध्येय के साथ तदाकार हो जाता है। धारणा में केवल एकाग्रता है, ध्यान में एकाग्रता के साथ ज्ञान, मनन, चिन्तन भी है। इसमें ओम् या इष्टदेव का चिन्तन-मनन भी सम्मिलित है। ध्यान की विशेषता है कि इसमें ज्ञानात्मक वृत्ति निरन्तर प्रवाह के तुल्य विद्यमान रहती है। इसको Meditation (चिन्तन, मनन) कहते हैं। इसमें चिन्तन का प्रवाह अटूट ढंग से चलता रहता है। अतएव पतंजलि ने कहा है कि ज्ञानात्मक वृत्ति का निरन्तर प्रवाह ही ध्यान है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। योग० ३.२

मनुस्मृति में प्राणायाम आदि का फल बताया गया है कि प्राणायाम से शरीर के दोष, रोग आदि दूर होते हैं। प्रत्याहार से बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्ति समाप्त होती है, विषयों से अनासक्ति होती है। धारणा से मनुष्य के पाप, कुसंस्कार और कुविचार आदि नष्ट होते हैं। ध्यान के अभ्यास से मनुष्य के अन्दर विद्यमान दूषित करने वाले तत्त्व काम, क्रोध, लोभ आदि नष्ट होते हैं।

प्राणायामैर्दहेद् दोषान्, धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान्, ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ मनु० ६.७२

(८) समाधि

धारणा की अगली उच्च कोटि ध्यान है और ध्यान की अगली उच्च कोटि समाधि है। धारणा में मन की पूर्ण एकाग्रता नहीं होती है। मन की एकाग्रता बीच-बीच में छिन्न हो जाती है, ध्यान बँट जाता है। ध्यान में मन की एकाग्रता बीच में टूटती नहीं है, कोई बीच में व्यवधान नहीं आता है। धारणा और ध्यान में द्वैत बुद्धि बनी रहती है। मैं (ध्याता या ध्यान करने वाला) और ध्येय (ओम्, अभीष्ट देव-देवी या आत्म-ज्योति) का भेद बना रहता है। समाधि में यह द्वैत-बुद्धि नष्ट हो जाती है। मैं या ध्याता का बोध क्षीण होता जाता है। अन्त में यह द्वैत-बुद्धि अद्वैत में बदल जाती है। 'मैं' या ध्याता का अस्तित्व समाप्त होकर केवल ध्येय ही रह जाता है। उस समय केवल आत्मा या आत्मज्योति शेष रह जाती है। जैसे अग्नि में पड़ा हुआ लोहा, लकड़ी या सुवर्ण आदि धातु अग्नि के ताप से अग्निवत् हो जाता है, उसी प्रकार जब जीव परमात्मारूपी अग्नि में तपकर एकरूपता प्राप्त कर लेता है, तो उस स्थिति को समाधि कहते हैं। योगदर्शन का कहना है कि जब ध्याता या साधक अपने स्वरूप को शून्य-सा बना लेता है और ध्येय (ओम्, इष्ट देव या आत्मज्योति) का ही स्वरूप प्रकाशित होने लगता है, तो उसे समाधि कहते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। योग० ३.३

हठप्रदीपिका ने इस विषय को और सरल रीति से समझाया है। इसको तीन श्लोकों में इस प्रकार बताया है—१. जिस प्रकार नमक पानी में मिलकर एकरूप हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा और मन की एकरूपता समाधि कही जाती है।

२. जब प्राण और मन दोनों शक्तिहीन होकर एकरूपता या समरसता प्राप्त लेते हैं, उस स्थिति को समाधि कहते हैं। ३. जब जीवात्मा और परमात्मा दोनों में एकरूपता और समता हो जाती है तथा सारे संकल्प या विचार नष्ट हो जाते हैं। उस स्थिति को समाधि कहते हैं।

सलिले सैन्धवं यद्वत्, साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं, समाधिरभिधीयते॥ ५॥
यदा संक्षीयते प्राणो, मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं च, समाधिरभिधीयते॥ ६॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं, जीवात्मपरमात्मनोः।
प्रणष्टसर्वसंकल्पः, समाधिः सोऽभिधीयते॥

हठ० ४.५-७

योगदर्शन में समाधि के संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात आदि अनेक भेद दिए गए हैं, वे जनसाधारण के लिए उपयोगी न होने से यहाँ नहीं दिए जा रहे हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जब योगी समाधि की स्थिति में होता है, उस समय ही गूढ़ विद्याएँ, रहस्यात्मक ज्ञान, विभूतियाँ आदि प्राप्त होती हैं। समाधि की उच्चतम कोटि में ही ऋषियों को वेदों का ज्ञान प्राप्त हुआ था। समाधि की उच्चतर कोटि में उप-निषद्, दर्शन और गीता आदि का ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ, ऐसा समझना चाहिए। सामान्य स्थिति में साधक आदि को उच्चकोटि का रहस्यात्मक ज्ञान प्राप्त नहीं होता है।

८. तीन शरीर

सामान्यतया यह भौतिक स्थूल शरीर देखने में एक शरीर ज्ञात होता है, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह तीन शरीरों का समन्वित रूप है। ये तीन शरीर हैं—१. स्थूल शरीर, २. सूक्ष्म शरीर, ३. कारण शरीर। इनका संक्षिप्त परिचय यह है—

१. स्थूल शरीर—यह पंचभूतों से निर्मित साधारण शरीर स्थूल शरीर है। इसमें आँख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियाँ हैं। शरीर को शक्ति देने वाले ५ प्राण इसमें हैं। इस प्रकार यह स्थूल शरीर माँस, मेदा, अस्थि आदि का संघात है। इस शरीर को ही काया, देह, शरीर आदि कहते हैं। इसमें सिर, गर्दन, उदर, हाथ-पाँव, हृदय आदि सभी अंग-प्रत्यंग आते हैं। दूसरे भाग को 'प्राणमय कोश' कहते हैं। इसमें प्राण, उपप्राण आदि आते हैं, जो मनुष्य को जीवनी शक्ति प्रदान करते हैं।

इस प्रकार यह स्थूल शरीर अन्नमय कोश और प्राणमय कोश का संघात है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस स्थूल शरीर में वास्तविक 'जीवनी शक्ति' नहीं है। यह जीवनी शक्ति इस स्थूल शरीर को इसके अन्दर विद्यमान 'सूक्ष्म शरीर' से प्राप्त होती है। यह स्थूल शरीर जीवात्मा की आधार-शिला है।

२. सूक्ष्म शरीर—यह सूक्ष्म शरीर मन और बुद्धि के समन्वय से बना हुआ है। यह स्थूल शरीर का संचालक है। इनकी प्रेरणा से शरीर की सभी क्रियाएँ होती हैं और सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान इनके द्वारा अर्जित किया जाता है। इस प्रकार इस सूक्ष्म शरीर के भी दो भाग हैं—(क) मनोमय कोश, (ख) विज्ञानमय कोश।

(क) मनोमय कोश—यह क्रियाप्रधान भाग है। शारीरिक चेष्टाओं का आदान-प्रदान, नियन्त्रण, संचालन इस कोश के द्वारा होता है। यह मन की क्रियाओं का संचालक और नियन्त्रक है।

(ख) विज्ञानमय कोश—यह ज्ञानप्रधान भाग है। बुद्धि के सभी व्यापारों का नियन्त्रण और संचालन इस कोश के द्वारा होते हैं।

इस सूक्ष्म शरीर में भी अपनी जीवनी शक्ति नहीं है। इस सूक्ष्म शरीर को यह जीवनी शक्ति कारण शरीर से मिलती है।

३. कारण शरीर—इसको लिंग शरीर, अव्यक्त शरीर आदि कहते हैं। यह सूक्ष्म शरीर से भी सूक्ष्म है। इसको '**आनन्दमय कोश**' कहते हैं। यह सूक्ष्म शरीर को शक्ति देता है। यह ज्योतिर्मय है, प्रकाश का पुंज है। यह शरीर का संचालक अतिसूक्ष्म शरीर है।

यहाँ यह स्मरण रखें कि ये तीनों शरीर 'जड़' हैं, अचेतन हैं। वस्तुतः इन तीनों शरीरों को जीवनी शक्ति देने वाला शरीर से पृथक् 'आत्मतत्त्व' या आत्मा है। उसकी सत्ता से तीनों शरीरों में शक्ति आती है। यह 'आत्मा' या 'जीवात्मा' शरीर में रहता हुआ भी शरीर से पृथक् है। यह चेतनरूप प्रकाशपुंज और अविनाशी है। इसके शरीर में आने को जन्म या जीवन और इसके निकल जाने को मृत्यु कहते हैं। इसके संयोग से शरीर में चेतना आती है। पहले कारण शरीर प्रभावित होता है। वह सूक्ष्म शरीर को चेतन बनाता है और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को जीवनी शक्ति अर्पित करता है।

९. पाँच कोश

मानव शरीर एक प्राकृतिक व्यूह-रचना है। अथर्ववेद (१०.२.३१) में इसको 'अयोध्या नगरी' अर्थात् अजेय दुर्ग कहा गया है। इसमें ५ दुर्गों की अभेद्य रचना है। प्रत्येक दुर्ग का अपना महत्त्व है। इसमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति है। अगला दुर्ग सूक्ष्मतर होता जाता है। जो जितना सूक्ष्म होता जाता है, वह उतना ही अधिक शक्तिशाली होता है। सबसे अन्त में सूक्ष्मतम आत्मा है। यह पूर्णतया ज्योतिर्मय है। इसकी आभा सूर्य के तुल्य है। इसमें प्रवेश करते ही योगी ज्योतिर्मय हो जाता है। मानव का लक्ष्य है—इस ज्योतिर्मय आत्मा या ब्रह्म का दर्शन करना। इसे ही आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। शास्त्रीय भाषा में इन पाँच व्यूह-रचनाओं को पाँच कोश कहा जाता है। इनमें से एक-एक व्यूह पर विजय प्राप्त करनी होती है। तदनुसार साधक की शक्ति बढ़ती जाती है और अन्तिम दुर्ग आनन्दमय कोश में प्रवेश करने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। इससे साधक में दिव्य शक्तियों का अवतरण होता है। इन पाँच कोशों का आगे के अध्यायों में विस्तृत वर्णन किया गया है। संक्षेप में यहाँ इनके स्वरूप का वर्णन है।

१. अन्नमय कोश—यह स्थूलशरीर है। यह अन्न से बना है, अतः इसे अन्नमय कोश कहते हैं। इसमें शरीर-संस्थान का वर्णन होता है। मस्तिष्क, हृदय,

मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी), रक्तसंचार, पाचन केन्द्र आदि के क्रिया-कलाप का वर्णन होता है। इसमें इडा, पिंगला, सुषुम्णा और विविध चक्रों का वर्णन होता है। इस अन्नमय कोश के परिष्कार से शरीर नीरोग, सुदृढ़ और शक्ति-संपन्न हो जाता है।

२. प्राणमय कोश—स्थूल शरीर से सूक्ष्म प्राण-जगत् है। शरीर में ५ प्राण और ५ उपप्राण हैं। ये शरीर में चेतना, स्फूर्ति और उत्साह देते हैं। प्राणायामों के द्वारा प्राणों की शक्ति की वृद्धि होती है। विश्वव्यापी ऊर्जा (श्वठ्ठ-द्गह्म्द्द4) को महाप्राण कहते हैं। प्राण इस विश्वव्यापी ऊर्जा के प्रतिनिधि हैं। प्राणों पर नियन्त्रण से विश्वव्यापी ऊर्जा पर अधिकार प्राप्त होता है। इससे जीवन में असाधारण शक्ति का विकास होता है। यह शक्ति साधक को अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक होती है।

३. मनोमय कोश—यह प्राणमय जगत् से सूक्ष्मतर है। इसमें मन की शक्तियों का वर्णन होता है। मन इस शरीररूपी रथ का संचालक सारथि है। मन आन्तरिक ज्योति है। यह शक्ति का स्रोत है। मन वानर के तुल्य अत्यन्त चंचल है। यह मानव को पतन की ओर भी ले जा सकता है और उन्नति की ओर भी। मन को यदि नियन्त्रित नहीं किया जाएगा तो यह पतन की ओर ले जाएगा। इसको नियन्त्रित करके इसे कल्पवृक्ष बनाया जा सकता है। इसका नियन्त्रण मानव को असाधारण शक्ति और प्रगति देता है। योग की सारी प्रक्रिया मन के नियन्त्रण पर निर्भर है। मन यदि परिष्कृत और सुसंस्कारों से युक्त हो जाता है तो सारे दुर्गों पर सरलता से विजय प्राप्त की जा सकती है। मन को यजुर्वेद में **'ज्योतिषां ज्योतिरेकम्'** (३४.१) प्रकाशों का प्रकाशक बताया गया है। मन को वश में कर लेना, विश्वविजय के समान माना गया है। मनोनिग्रह से मनोमय कोश पर विजय प्राप्त की जाती है, ध्यानयोग से मन को वश में किया जाता है। मन के वशीकरण से दिव्य शक्तियों का द्वार खुल जाता है और जीवन दिव्य हो जाता है।

४. विज्ञानमय कोश—यह मनोमय कोश से भी सूक्ष्म है। इसमें बुद्धितत्त्व का विवेचन किया जाता है। मन से भी सूक्ष्म बुद्धि है। मन केवल कार्य-कलाप का संचालक है। मन जो कुछ भी देखता-सुनता है, वह बुद्धि के पास ले जाता है। निर्णय करने का अधिकार केवल बुद्धि को है। यह मन से ऊँची शक्ति है। मन को दिशा-निर्देश देना बुद्धि का काम है। बुद्धि ही ज्ञान और विवेक शक्ति है। यह बुद्धि परिष्कृत होकर 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का रूप लेती है। ऋतंभरा प्रज्ञा की शक्ति अनन्त है। ऋतंभरा प्रज्ञा से योगी में सर्वज्ञता की शक्ति आ जाती है। अतएव विज्ञानमय कोश पर विजय आत्मसाक्षात्कार का द्वार खोल देती है। इससे दिव्य शक्तियाँ स्वयं प्राप्त होने लगती हैं।

५. आनन्दमय कोश—यह विज्ञानमय कोश से भी सूक्ष्म है। शरीर में यही सारी शक्तियों का स्रोत है। यह जीवात्मा का प्रतिनिधि है। यह ज्योतिर्मय है। इसका स्वरूप सूर्यवत् तेजोमय है। यह आत्मा का आनन्दमय स्वरूप है। इस कोश में प्रवेश और इस पर विजय साधना की परिपूर्णता है। आनन्दमय कोश में साधक तपे हुए सुवर्ण के तुल्य तेजोमय, ज्ञान-ज्योति से युक्त और दिव्य विभूतियों से संपन्न हो जाता है। यह साधना की पराकाष्ठा है। इस स्थिति में 'रसो वै सः' अर्थात् ब्रह्म के आनन्द-मय स्वरूप की अनुभूति होती है।

१०. दीर्घायु के कुछ रहस्य (गुर)

वेदों में मानव-जीवन की इकाई सौ वर्ष मानी गई है। अतएव अनेक मंत्रों में सौ वर्ष तक जीवित रहने, देखने, सुनने आदि की प्रार्थना की गई है। वेदों में यह भी कहा गया है कि ऋषि, मुनि और देवगणों की आयु तीन सौ वर्ष तक की होती थी। उदाहरण के रूप में कहा गया है कि जमदग्नि और कश्यप ऋषि की आयु ३०० वर्ष थी और देवों की भी आयु ३०० वर्ष होती है। इससे आगे बढ़कर अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया कि सत्कर्म करने वाले की आयु एक सहस्र वर्ष तक की हो सकती है।

(क) जीवेम शरदः शतम्। यजु० ३६.२४
(ख) त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यजु० ३.६२
(ग) सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्। अथर्व० १७.१.२७

भगवद्गीता में संक्षेप में दीर्घायु होने और नीरोग रहने के कुछ उपाय बताए हैं और इन्हें साधक के सारे दुःख दूर करने वाला कहा गया है। ये उपाय हैं—१. भोजन पर नियन्त्रण, शुद्ध सात्त्विक भोजन करना। २. अपनी दिनचर्या को नियमित रखना। ३. समस्त कार्यों में अनासक्ति की भावना रखना। ४. सोने और जागने का समय नियमित रखना।

युक्ताहार-विहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त-स्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥ गीता ६.१७

चरक का कथन है कि सूर्य जीवनी शक्ति का दाता है। सूर्य की किरणें नीरोगता प्रदान करती हैं। उदय होते हुए सूर्य की किरणें को शरीर पर लेने से हृदय रोग आदि अनेक रोग दूर होते हैं।

(क) आरोग्यं भास्कराद् इच्छेत्। चरक
(ख) उद्यन् अद्य मित्रमह.... हृद्रोगं मम सूर्य०। ऋग्० १.५०.११

वेदों और आयुर्वेद के ग्रन्थों में दीर्घायु प्राप्ति और नीरोगता के लिए कुछ गुर बताए गए हैं। संक्षेप में ये हैं—

१. हितभुक्, मितभुक्, ऋतभुक्—'कोऽरुक्' कः अरुक्-किसको रोग नहीं होते? इसका उत्तर दिया गया है—

(क) हितभुक्—जो पथ्य और सात्त्विक भोजन करता है।

(ख) मितभुक्—जो कम खाता है या थोड़ा खाता है, भूख से कम खाता है।

(ग) ऋतभुक्—जो ईमानदारी का या अपने परिश्रम से कमाए अन्न को खाता है। इससे विपरीत आचरण करने वालों को रोग और व्याधियाँ सताती हैं।

२. सूर्य की किरणों का सेवन—सूर्य की किरणों को अपने शरीर पर लेना, धूप में रहना। उदय होते हुए सूर्य की किरणों को सारे रोगों का नाशक बताया गया है, अतः प्रातः १५ मिनट या आधा घण्टा सूर्य की किरणों को छाती पर लें। इससे सभी हृदय रोग, सिर दर्द, पीलिया, खून की कमी आदि सभी रोग दूर होते हैं। (अथर्व० ९.८ १ से २२), ऋग्० १०.१००.८।

३. दुर्गुणों और दुर्व्यसनों का परित्याग—दुर्गुण और दुर्व्यसन रोग और अकालमृत्यु के कारण हैं, अतः इन्हें छोड़ें।

अपसिध्य दुरितं धत्तमायुः। अथर्व० ८.२.७

४. सत्य व्यवहार—अथर्ववेद का कथन है कि सत्यनिष्ठा, सत्य व्यवहार, ईमानदारी मृत्यु और रोगों से बचाता है। (अ० ३.११.८)

५. चिन्ता का त्याग—चिन्ता न करें। दुःख-कष्ट, हानि आदि की पुरानी बातों को भुला दें। किसी बात की चिन्ता न करें। प्रसन्नचित्त रहें। (अथर्व० ८.१.८)

६. नियमित प्राणायाम करना—नियमित ८ या १० प्राणायाम शरीर को नीरोग रखते हैं। प्राणायाम नीरोगता के उत्तम साधन हैं। (अथर्व० ८.२.११)

७. रजोगुणी और तमोगुणी वृत्ति छोड़ें—काम, क्रोध आदि रजोगुणी और द्यूत, मदिरापान आदि तमोगुणी वृत्तियाँ छोड़ें। ये सारी जीवनी शक्ति को नष्ट करते हैं। अतः सात्त्विक वृत्तियों को अपनावें।

रजस्तमो मोप गाः। अथर्व० ८.२.१

८. शुद्ध वायु का सेवन—ऋग्वेद के एक सूक्त (१०.१८६.१-३) में शुद्ध वायु को अमृत का खजाना कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध वायु अमृत के तुल्य मानव-जीवन को अमर और दीर्घायु बना देती है। इस सूक्त में वायु को पिता, भाई, मित्र और ओषधि कहा गया है। साथ ही इसे हृदय के लिए लाभकारी माना गया है।

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ऋग्० १०.१८६.३

९. शुद्ध जल का उपयोग—शुद्ध वायु के तुल्य शुद्ध जल को भी सर्वरोग- नाशक कहा गया है। यह ओषधि के तुल्य लाभ देता है। वर्षा के जल को अत्युत्तम और दिव्य जल कहा गया है। यह रसायन के तुल्य शक्तिप्रद है। प्रतिदिन कम से कम दो लीटर जल अवश्य पीना चाहिए। चार लीटर तक प्रतिदिन जल पीना अच्छा है। यह सारे शरीर के मल को मूत्र आदि के द्वारा बाहर निकाल देता है। यदि जल अस्वच्छ हो, उसमें तेल या केल्शियम आदि की मात्रा हो या कोई अन्य दोष हो तो उसे उबालकर ही पीना चाहिए। एक बार २-३ लीटर पानी उबालकर बड़े बर्तन में रख लें और उसे दिनभर उपयोग करें।

अप्सु-अन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्। अथर्व० १.४.४

आपश्च विश्वभेषजीः। ऋग्० १.२३.२०

१०. तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु—मन को पवित्र रखना, सात्त्विक विचारों को हृदय में स्थान देना, शुद्ध भावनाएँ, शुद्ध विचार और सात्त्विक प्रवृत्तियाँ दीर्घा-युष्य के सर्वोत्तम साधन हैं। अपवित्र विचार और आसुरी भावनाएँ काम, क्रोध आदि शरीर में रोगाणुओं को जन्म देते हैं और शरीर की आन्तरिक शक्ति को नष्ट करते हैं, अतः इनको मन में स्थान न दें। (यजु० ३४.१ से ६)

११. प्रबल इच्छाशक्ति (Will-power)—प्रबल इच्छाशक्ति और मनोबल मनुष्य को दीर्घायु बनाने के उत्तम साधन हैं। इच्छाशक्ति से सारे दुर्गुणों को रोका जा सकता है। इच्छाशक्ति सारे रोगों पर विजय प्राप्त कर लेती है। इसी आधार पर Auto-suggestion (स्व-विचारशक्ति) नामक एक चिकित्सा-पद्धति का आविष्कार हुआ है। जितना हृदय पवित्र होगा, उतनी ही प्रबल इच्छाशक्ति होगी।

आत्मना भुजमश्नुताम्। अथर्व० ८.२.८

१२. पुरुषार्थी जीवन—'चरैवेति, चरैवेति' (ऐत० ब्रा०) चलते रहो, चलते रहो, यह ऐतरेय ब्राह्मण की शिक्षा है। सौ वर्ष तक कठोर कर्म करते हुए जीवित रहो, यह यजुर्वेद का आदेश है। कर्मठ, पुरुषार्थी और अध्यवसायी व्यक्ति को रोग नहीं लगते और वह दीर्घायु होता है।

कुर्वन् एवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। यजु० ४०.२

१३. शुद्ध सात्त्विक भोजन—घी, दूध, फल, गेहूँ आदि अन्न सात्त्विक भोजन में हैं। अपने पुरुषार्थ से उपार्जित धन और अन्न सात्त्विक होता है। जितना सात्त्विक और संतुलित भोजन होगा, उतना ही मनुष्य नीरोग, स्वस्थ और दीर्घायु होगा।

युक्ताहारविहारस्य०। गीता ६.१७

१४. नियमित योगासन करना—योगासन शरीर को नीरोग बनाने और रोगों को नष्ट करने के उत्तम साधन हैं। कम से कम ८ या १० योगासन प्रतिदिन अवश्य करें। योगासनों में विशेष लाभप्रद आसन ये हैं—सर्वांग आसन, शीर्षासन, पश्चिमो-त्तान, कोणासन, उत्तान पादासन, सर्पासन, वज्रासन, शवासन आदि। १५ या २० मिनट योगासनों के लिए अवश्य निकालें।

१५. प्रातः भ्रमण—प्रातः कम से कम आधा घण्टा या एक घण्टा खुले स्थान में घूमना दीर्घायु के लिए अत्यावश्यक है। इस समय ओम्, गायत्री या किसी मंत्र का जप मन ही मन करें। इससे शरीर दिनभर चुस्त रहता है।

१६. प्रसन्नचित्त रहना—प्रसन्नचित्त रहना एक टॉनिक है। प्रसन्न रहना या हँसमुख रहना दीर्घायु के लिए अत्युत्तम ओषधि है। गीता में प्रसन्नचित्त रहना रोगमुक्ति का साधन बताया गया है। प्रसन्नचित्त रहने से बुद्धि शान्त और व्यवस्थित रहती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते०। गीता २.६५

१७. उषःपान—प्रातः उठते ही २ या ४ गिलास पानी अवश्य पीवें। ताँबे के पात्र में रखा हुआ जल अधिक लाभकारी माना जाता है। उषःपान से पेट साफ रहता है और पेट की बीमारियाँ ठीक हो जाती हैं।

१८. ईश्वर-प्रार्थना—परमात्मा का ध्यान-चिन्तन, ईश्वरोपासना, भजन-कीर्तन, धारणा-ध्यान का अभ्यास सभी प्रकार के मनोरोगों को दूर करता है और मन को शान्त रखता है। ईश-प्रार्थना से इच्छाशक्ति और मनोबल पुष्ट होते हैं।

दीर्घजीवियों के निजी अनुभव

विश्व के अनेक विद्वानों ने दीर्घजीवियों के संस्मरण निकाले हैं। उनके अनुभवों के आधार पर दीर्घ जीवन के विशेष उल्लेखनीय तथ्य ये हैं—

१. शाकाहारी भोजन और अत्यन्त क्रियाशील जीवन। कर्मठता जीवनी शक्ति देता है, सुस्ती रोग और मृत्यु।
२. शुद्ध वायु का सेवन, खुली हवा में रहना, तथा भोजन में फल, सब्जी की बहुलता। ताजे फल सर्वोत्तम हैं। फलों में अंगूर, खजूर, अंजीर और आलूबुखारा आदि।
३. क्रियाशील जीवन, सतत परिश्रमशीलता और कार्य में अभिरुचि।
४. व्यायाम, घूमना और अपना काम अपने हाथ से करना।
५. मांस, मदिरा, धूम्रपान एवं असंयम का परित्याग।
६. मन को युवा-भावनाओं से तरंगित रखें। प्रसन्नचित्त रहें।

७. जल्दी सोना और जल्दी उठना।
८. कम भोजन करने से शक्ति अधिक मिलती है। अधिक भोजन से शक्ति कम मिलती है और रोग आदि अधिक होते हैं।
९. संयमी जीवन बिताना।
१०. कतिपय योगासनों को नियमित रूप से करना। इन योगासनों में विशेष रूप से इन आसनों का समावेश करें—सर्वांग आसन, शीर्षासन (५ मिनट से अधिक नहीं), पश्चिमोत्तान, कोणासन, उत्तान पादासन, नौकासन, वज्रासन, शवासन।
११. समय को बहुमूल्य समझते हुए क्षण-क्षण भर का सदुपयोग करना।
१२. परमात्मा का नाम लेने या जप से मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।
१३. एक सप्ताह या दो सप्ताह में एक दिन उपवास रखना बहुत लाभकारी है।
१४. मन को चिन्तारहित रखना और हँसमुख रहना दीर्घायु का साधक है।
१५. भ्रमण, शारीरिक व्यायाम और कुछ आसन जीवन भर कभी न छोड़ें।
१६. भोजन को खूब चबाकर खाएँ और उसकी मात्रा कम करें।
१७. संगीत दीर्घायु बनाता है।
१८. 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का पालन करें। व्यायाम, भ्रमण आदि में भी अति न करें।

❑

अध्याय २

अन्नमय कोश, शरीर-संस्थान

१. स्थूल शरीर

मानव-शरीर के ज्ञान की आवश्यकता—योग-साधना के लिए मानव-शरीर का सामान्य ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि यह शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों का आवास है। आसन और प्राणायाम के द्वारा स्थूल शरीर को हृष्ट-पुष्ट किया जाता है। धारणा और ध्यान से मन और बुद्धिरूपी सूक्ष्म शरीर को परिष्कृत किया जाता है। समाधि के द्वारा लिंगशरीर रूपी कारण शरीर को परिष्कृत किया जाता है। इस प्रकार योगसाधना के लिए तीनों शरीरों का ज्ञान अपेक्षित है। यह शरीर अन्न के द्वारा निर्मित है, अतः स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहा जाता है।

मानव शरीर के संघटक—मानव शरीर को 9 संघटकों में विभाजित किया गया है। ये संघटक हैं—

१. अस्थि-संस्थान (Skeletal System)
२. मांसपेशी संस्थान (Muscular System)
३. पाचन-संस्थान या पाचन-तंत्र (Digestive System)
४. श्वसन-संस्थान या श्वसन-तंत्र (Respiratory System)
५. रक्त-संचार-संस्थान या रक्त-संचार-तंत्र (Circulatory System)
६. विसर्जन संस्थान या विसर्जन तंत्र (Excretory System)
७. रसग्रन्थि-संस्थान या ग्रन्थि-तंत्र (Glandular System)
८. प्रजनन संस्थान या प्रजनन तंत्र (Reproductive System)
९. स्नायुसंस्थान या तन्त्रिका तंत्र (Nervous System)

कोशिकाएँ (Cells)—ये जीवों के निर्माण के मूलभूत आधार हैं। ये जीव-जगत् की सबसे छोटी इकाई हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। प्रत्येक कोशिका एक जीवित इकाई है। जिस प्रकार राष्ट्र की एक सबसे छोटी इकाई व्यक्ति है, उसी प्रकार जीवित प्राणी की संघटक सबसे छोटी इकाई कोशिका है। प्रत्येक कोशिका का स्वतंत्र कार्य होता है। कोशिका में जीवन की सभी क्रियाएँ होती हैं। शरीर के प्रत्येक अंग की कोशिकाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं और उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे—मस्तिष्क की कोशिकाएँ विचारों को ग्रहण करती हैं और आँख की कोशिकाएँ प्रकाश की किरणों को। मानव-शरीर में कोशिकाओं की संख्या ६ सौ खरब होने का अनुमान है। प्रत्येक कोशिका

स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे से मिलकर काम करती है। अतएव एक अंग की कोशिकाएँ मिलकर एक अंग का निर्माण करती हैं और एक प्रकार का कार्य करती हैं। दूसरे अंग की कोशिकाएँ मिलकर दूसरे प्रकार की क्रियाएँ करती हैं।

ऊतक (Tissue)—कोशिकाओं के समूह को ऊतक कहते हैं। अनेक कोशिकाएँ मिलकर एक ऊतक बनाती हैं। इन ऊतकों के अलग-अलग कार्य हैं। शरीर की आवश्यकता के अनुसार ऊतकों का स्वरूप और कार्य भी भिन्न है। जीव जगत् के ऊतकों को मुख्यरूप से ५ भागों में बाँटा गया है—

(१) आवरक ऊतक—(Epithelial Tissue)—ये शरीर के अन्दर और बाहर अंग-प्रत्यंगों को ढकने का काम करते हैं। इनके कई रूप और आकार हैं।

(२) संयोजक ऊतक (Connective Tissue)—ये अंगों के निर्माण में सहायक होते हैं। ये कोशिकाओं को मिलाकर एक अंगरूपी ढांचा तैयार करते हैं।

(३) मांसपेशी ऊतक (Muscle Tissue)—ये शरीर के अंग-प्रत्यंगों के संचालन का कार्य करते हैं। इनके कारण ही हिलना-डुलना, घूमना-फिरना आदि होता है।

(४) तन्त्रीय ऊतक (Nerve Tissue)—ये भावनाओं और विचारों को अपने केन्द्र तक पहुँचाते हैं।

(५) अस्थि ऊतक (Skeletal Tissue)—ये अस्थि-कोशिका और अस्थि-मज्जा कोशिकाओं से मिलकर बने होते हैं।

अंग (Organ)—विभिन्न प्रकार के ऊतकों को मिलने से विभिन्न अंग बनते हैं। अंग ऊतकों का समूह हैं। जैसे—पेट, यकृत्, क्लोम आदि। प्रत्येक अंग में अलग-अलग प्रकार के ऊतक होते हैं और इनका कार्य भी पृथक्-पृथक् होता है। प्रत्येक अंग कोई विशिष्ट कार्य करता है, उसी प्रकार के ऊतक उसमें सम्मिलित होते हैं।

प्रणाली या तंत्र (System)—कई अंग मिलकर जब एक प्रकार का या एक विशिष्ट कार्य करते हैं तो उनके इस कार्य को तंत्र, प्रणाली या संस्थान कहते हैं। मानव-शरीर में ९ तंत्र या संस्थान कार्य कर रहे हैं। इन संस्थानों की समष्टि ही मानव-शरीर है। इनका संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है।

२. अस्थि-संस्थान (Skeletal System)

अस्थि-संस्थान को कंकाल और अस्थि-पंजर भी कहते हैं। इन अस्थियों के द्वारा शरीर का ढाँचा बनता है। कोमल अंगों का यह सुरक्षा-कवच है और

इनपर ही सारा शरीर रुका हुआ है। सारे संस्थानों का आधार ये अस्थियाँ हैं। शरीर में अस्थियों की संख्या २०६ है। ये बड़ी-छोटी, मोटी-पतली आदि विभिन्न आकारों की हैं। ये ऊपर से तंतुओं की झिल्लियों से ढकी होती हैं। इनके अन्दर अस्थि-कोशिकाएं एवं अस्थि-मज्जा (Bone-marrow) भरी होती है। यह अस्थि-मज्जा रक्त-निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाती है। कुछ अस्थियों में रासायनिक द्रव्य होता है, जो इनको स्थिरता, लचक, कठोरता आदि प्रदान करता है। अस्थियों के जोड़ भी कई प्रकार के होते हैं—गोल, चूलदार, कब्जेदार आदि।

कंकाल को ७ भागों में बाँटा जा सकता है। इनकी अस्थि संख्या २०६ है।

(१) कपाल (खोपड़ी)	२२ अस्थियाँ
(२) मेरुदण्ड (रीढ़)	२६ अस्थियाँ (ग्रीवा ७, पीठ १२, कटि ५, उससे नीचे २)
(३) वक्षःस्थल	२५ अस्थियाँ
(४) भुजाएँ (दोनों हाथ)	६४ (दाएँ-बाएँ हाथ ३२-३२) अस्थियाँ
(५) जंघा से पैर तक	६२ (दाएँ-बाएँ ३१+३१) अस्थियाँ
(६) कंठ	१
(७) कान	६ (दाएँ-बाएँ ३+३) अस्थियाँ

अस्थियों के कार्य—पूरे शरीर का सन्तुलन बनाए रखना, शरीर को लुंज-पुंज होने से बचाना, भीतरी अंगों को सहारा देना और सुरक्षित रखना, कोमल अंगों की रक्षा करना, शरीर को सीधा रखना, पूरे शरीर को भव्य आकृति प्रदान करना, शरीर के विभिन्न क्रिया-कलाप में सहयोग देना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, इधर-उधर मुड़ना आदि में सहायता देना, सभी प्रकार के व्यायामों में सहयोग देना, गति प्रदान करना आदि। इसके अतिरिक्त यह अस्थि-मज्जा रक्त-कोशिकाओं के निर्माण का केन्द्र है।

३. मांसपेशी संस्थान (Muscular System)

कंकाल के ऊपर सारे शरीर में मांस चढ़ा हुआ है। मांस के छोटे-बड़े टुकड़ों को पेशी (Muscle) कहते हैं। ये पेशियाँ सौत्रिक तन्तुओं से बंधी रहती हैं। पूरे शरीर के भार का ४३ प्रतिशत भाग मांसपेशियाँ हैं। मांसपेशियाँ कोशिकाओं से बनी होती हैं। प्रत्येक पेशी में या दो मांसपेशियों के मध्य में रक्त की गलियां और नाड़ी-तन्तु फैले हुए हैं। अतएव मांस का रंग लाल होता है। भुजा, जंघा, पिंडली और नितम्ब की मांस-पेशियाँ मोटी हैं। पेट, आंत आदि में मांसपेशी पतली चादर की तरह फैली हुई हैं। विभिन्न आशय, नलियों और हृदय आदि में आवश्यकतानुसार मोटी-पतली मांस की तहें लगी हुई हैं। मांसपेशियों में

'स्थिति-स्थापकता' गुण है, जिसके कारण ये आवश्यकतानुसार सिकुड़कर छोटी, मोटी, पतली, लंबी-चौड़ी हो जाती हैं और फिर पहले की अवस्था में आ जाती हैं। अतएव शरीर की सब चेष्टाएँ सरलता से हो जाती हैं। मांस के सिकुड़ने को 'संकोच' और फैलने को 'प्रसार' कहते हैं। इसके द्वारा हड्डियों का संचालन होता है और शरीर में लोच आती है।

मांसपेशियों के कार्य—मांसपेशियों के मुख्य रूप से ये कार्य हैं—१. शरीर के अंगों को गतिशीलता प्रदान करना। जैसे—चलना-फिरना, हाथ-पैर हिलाना, सांस लेना आदि। २. पूरे शरीर को नियन्त्रित करना। ३. संकोच और प्रसार गुणों के कारण विभिन्न प्रकार की गतियाँ। जैसे—बोलना, हृदय का स्पन्दन, भोजन का आँतों में आगे सरकना, भय आदि में रोमांचित होना आदि। ४. शरीर को सुन्दर और पुष्ट बनाना। ५. शरीर में उत्पन्न रासायनिक ऊर्जा को यांत्रिक कार्यों में लगाना।

क्रियाशीलता के आधार पर मांसपेशियों को दो भागों में बाँटा गया है—

(क) ऐच्छिक मांसपेशियाँ—जो हमारी इच्छा के अनुसार कार्य करती हैं। जैसे—हाथ-पैर उठाना, बोलना, भोजन चबाना, मलमूत्र त्याग आदि। ये मांसपेशियाँ मस्तिष्क के आदेशानुसार कार्य करती हैं।

(ख) अनैच्छिक मांसपेशियाँ—ये मस्तिष्क के आदेश के अनुसार नहीं, अपितु स्वत:चालित नाडी-संस्थान के द्वारा स्वयं अपना कार्य करती हैं। इनपर हमारी इच्छा का प्रभाव नहीं है। जैसे—हृदय का स्पन्दन, पाचन-क्रिया, रक्त-संचार, श्वसन-क्रिया, मल-मूत्र-निर्माण आदि।

वसा (Fat)—मांस के ऊपर और त्वचा के नीचे फैली सफेद या पीली चिकनी वस्तु वसा (चरबी) है। हथेली, तलवे आदि में वसा की गद्दियाँ हैं। वसा देह के ताप-परिमाण को स्थिर रखने में सहायक है। यह सर्दी-गर्मी से रक्षा करती है।

मज्जा (Marrow)—यह लंबी अस्थियों के अन्दर खोखले हिस्से में होती है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण ऊतक है। यह रक्त-कोशिकाओं का निर्माण करती है।

४. पाचन-संस्थान या पाचन-तंत्र (Digestive System)

पाचन-तंत्र शरीर का एक महत्त्वपूर्ण तंत्र है। यह भोजन द्वारा प्राप्त खाद्य सामग्री को ग्रहण करके विविध-जीव भौतिक और जीव-रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा पचाकर उसे पोषक तत्त्व के रूप में परिवर्तित करता है। यह पोषक तत्त्व रक्त में प्रवेश करके शरीर को ऊर्जा प्रदान करता है। जो अवशिष्ट या अनुपयोगी

भाग है, उसे मल-मूत्र, स्वेद आदि के द्वारा बाहर निकाल देता है। शरीर को ऊर्जा प्रदान करने का यह प्रमुख साधन है।

पाचन तंत्र के प्रमुख घटक अंग ये हैं—

१. मुख (Mouth)	२. जीभ (Tongue)
३. लार ग्रन्थियाँ (Salivary Glands)	४. गलबिल (Pharynx)
५. ग्रासनली (Oesophagus)	६. आमाशय (Stomach)
७. पक्वाशय (Duodenum)	८. यकृत्, जिगर (Liver)
९. क्लोम, अग्न्याशय (Pancreas)	१०. पित्ताशय (Gall-bladdar)
११. छोटी आंत (Small-intestine)	१२. बड़ी आंत (Large intestine)

लार ग्रन्थियाँ—लार को लाला कहते हैं। लार ग्रन्थियाँ ६ हैं। ये जीभ के अगल-बगल हैं। ये पाचक रस छोड़ती हैं। भोजन मुँह में जाते ही इन लार ग्रन्थियों का रस उसमें मिल जाता है और भोजन ग्रास के रूप में बन जाता है। लार भोजन को सुपाच्य बनाता है।

गलबिल और ग्रासनली—मानव शरीर में गले में आगे श्वासनली है और उसके पीछे ग्रासनली। भोजन श्वासनली के ऊपर से फिसलकर ग्रासनली में जाता है। ग्रासनली से भोजन आमाशय में जाता है। यह महाप्राचीर (डायफ्राम) से होती हुई आमाशय में पहुँचती है। ग्रासनली में मांसपेशियाँ हैं। इनके संकोचन और विस्तारण की प्रक्रिया से अन्न धीरे-धीरे फिसलता हुआ आमाशय में पहुँचता है।

आमाशय—इसको पेट और पाकस्थली भी कहते हैं। आमाशय मांसपेशियों से बना एक बड़ा थैला-सा है और यह उदर के बाएँ हिस्से में पसलियों के नीचे स्थित है। आमाशय का बायाँ हिस्सा चौड़ा और दायाँ हिस्सा नुकीला है। आमाशय में लगभग डेढ़ किलो वस्तु समाती है। आमाशय की दीवारों में कई ग्रन्थियाँ हैं। भोजन पहुँचते ही इनसे अम्लीय रस निकलने लगता है। इनमें हाइड्रोक्लोरिक एसिड (HCL) तथा पेप्सीन (Pepsin) और रेनिन (Rennin) नामक दो खमीर (Enzyme) हैं। इन्हें आमाशयिक रस कहते हैं। यह रोगाणुनाशक है। यह प्रोटीन (Protein) को पेप्टोन (Peptones) एवं अमीनो अम्ल (Amino acid) में बदल देता है और वसा (चिकनाई) को पिघलाकर वसा अम्ल (Fatty acid) में बदल देना है तथा दूध को जमा कर Casein (केसीन) में बदल देता है। आमाशय की मांसपेशियाँ भोजन को पीस देती हैं और उसे आमाशयिक रस से मिलाने में मदद देती हैं। हलका भोजन शीघ्र पच जाता है और आमाशय (मेदा) शीघ्र खाली हो जाता है। भारी भोजन पचने में देर लगती है।

पक्वाशय—आमाशय दूसरे छोर पर संकरा हो जाता है। यहाँ से पक्वाशय प्रारम्भ होता है। पक्वाशय अर्ध-चन्द्राकार है। यह लगभग १६ से०मी० लंबा है। आमाशय से निकलकर जब लेई में परिवर्तित आहार इस पक्वाशय में आता है तभी, पित्ताशय से पित्त और क्लोम से क्लोम-रस इसमें मिल जाता है।

यकृत् (जिगर)—यह देह में सबसे बड़ी ग्रन्थि है। यह पेट के ऊपरी भाग में दाईं ओर पसलियों के पीछे आमाशय से सटी हुई है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है। यकृत् में शर्करा (Glucose) संगृहीत होती है। यकृत् ही शरीर में आवश्यकतानुसार यथास्थान शर्करा भेजता है। यही शर्करा के आय-व्यय का नियन्त्रण करता है। यह रक्त और अन्न के विषों को निर्दोष बना देता है। यकृत् में बनने वाला पाचक रस 'पित्त' है। यह पित्त-प्रणाली के द्वारा पक्वाशय में मिलता है। इसके चार प्रमुख कार्य हैं—१. पित्त क्लोमरस की क्रिया को प्रबल बनाता है। २. वसा को पचाकर आत्मसात् करता है। ३. आंतों में आए अम्लतायुक्त आहाररस को पित्त क्षारीय बना देता है। क्षारीय माध्यम में भोजन क्लोम रस से पच जाता है। ४. पित्त के प्रभाव से आहार सड़ने नहीं पाता है और ठीक पच जाता है। पित्त के अभाव में अपान वायु और मल अतिदुर्गन्धियुक्त होकर निकलते हैं। ५. यह भोजन के पाचन के पश्चात् रक्त के साथ शोषित होकर आए कीटाणुओं एवं दूषित पदार्थों को नष्ट कर अपने में आत्मसात् कर लेता है, अत: इसे रासायनिक शोधन-केन्द्र (Chemical Cleaning House) कहते हैं। ६. यह अमीनो अम्ल (Amino-acid) के विच्छेदन से यूरिया एवं उसके समकक्ष दूषित पदार्थों का निर्माण करता है।

क्लोम (अग्न्याशय)—यह पेट की पिछली दीवार से लगी ग्रन्थि है। यह पक्वाशय के अर्धचन्द्राकार स्थान में स्थित है। इसकी आकृति पिस्तौल की तरह है। पित्त क्लोमरस की क्रिया को प्रबल बना देता है। क्लोम रस में पाये जाने वाले खमीर भोजन के विभिन्न अवयवों पर ये तीन क्रियाएं करते हैं :— (क) स्टीप्सिन (Steapsin) खमीर (Enzyme) चर्बी को चर्बी के अम्ल में, (ख) ट्रिप्सिन (Trypsin) खमीर प्रोटीन को पेप्टोन (Peptone) एवं अमीनो अम्ल (Amino Acid) में (ग) एमीलोप्सिन (Amylopsin) खमीर कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) को शर्करा में परिवर्तित कर देते हैं। इसके पश्चात् भोजन काइल (chyle) में परिवर्तित हो जाता है जो गेंद की तरह होता है।

पित्ताशय—यह यकृत् के नीचे एक छोटी लम्बी थैली है। इसमें पित्त इकट्ठा होता है। जब अन्न छोटी आँत में आता है तो पित्ताशय संकुचित होकर इसमें पित्त मिला देता है।

छोटी आंत—छोटी आंत में भी ग्रन्थियाँ हैं। इससे निकलने वाले रस को क्षुद्र-आन्त्रीय रस कहते हैं। छोटी आंतों में पाचन क्रिया पूरी हो जाती है। यहाँ क्लोम रस, पित्त और क्षुद्र-आन्त्रीय-रस मिलकर आहार के पोषक तत्त्वों को पचा लेते हैं और अवशेष भाग को धक्का देकर बड़ी आंत में भेज देते हैं।

बड़ी आंत—छोटी आंत के अन्त में नीचे की ओर बड़ी आँत प्रारम्भ होती है। यह पहले ऊपर की ओर जाकर यकृत् के नीचे तक पहुँचती है और वहाँ से दाहिनी ओर सीधे मुड़कर प्लीहा (Spleen) तक जाती है। वहाँ से फिर नीचे की ओर मुड़ती है। बड़ी आंत छोटी आंत के चारों ओर घेरे की तरह फैली हुई है। अन्त में यह एक सामान्य नली का रूप ले लेती है और शरीर के मल को गुदा से बाहर निकालती है। यह लगभग २ मीटर लम्बी और ६ से ८ से०मी० चौड़ी होती है। भोजन ठीक न पचने पर यहीं सड़ता है।

५. श्वसन-संस्थान या श्वसन-तंत्र (Respiratory System)

श्वसन-तंत्र जीवन का आधार है। अन्न-जल के बिना मनुष्य कुछ समय जीवित रह सकता है, परन्तु वायु के बिना मनुष्य का जीवन असंभव है। श्वास और प्रश्वास की प्रक्रिया जीवन भर चलती है। बाहर से अन्दर की ओर वायु (प्राण वायु, Oxygen) लेने को श्वास कहते हैं। अन्दर से बाहर की ओर श्वास छोड़ने को प्रश्वास या नि:श्वास कहते हैं। श्वास के द्वारा प्राणवायु (Oxygen) अन्दर जाती है और प्रश्वास के द्वारा अपान वायु या दूषित वायु (कार्बन डाइ-आक्साइड, Carbon dioxide) बाहर निकलती है। इस श्वसन-तंत्र के प्रमुख अंग ये हैं—

१. नासिका-छिद्र (Nostrils)
२. नासिका विवर (Nasal cavity)
३. नासा बिल (Naso-pharynx)
४. स्वर-यन्त्र (Larynx)
५. श्वासनली (Trachea)
६. श्वास-नलिकाएँ (Bronchi)
७. फेफड़े (Lungs)

नासिका छिद्र और नासिका विवर—नाक के दोनों छिद्रों (नथुनों) को नासिका छिद्र कहते हैं। नाक के अन्दर के भाग को नासा विवर कहते हैं। नाक के अन्दर छोटे बाल होते हैं। ये श्वास के साथ मिली धूल आदि को अन्दर जाने से रोकते हैं।

नासाबिल—नाक और मुँह से अन्दर जाने वाली वायु टान्सिल के पीछे से होकर इस नली के द्वारा अन्दर जाती है। यह गलबिल का अगला भाग है। पीछे भोजन नली है।

स्वरयन्त्र—यह एक महत्त्वपूर्ण यंत्र है। इसमें स्वर-रज्जु लगे होते हैं। ये खुलते और बन्द होते हैं। इनकी स्थिति के अनुसार आवाज मोटी-पतली, हलकी-भारी आदि होती है। यह वाग्-यन्त्र है। यह एक छोटी पिटारी की तरह है। यह गले में बाहर से कुछ उठा हुआ दीखता है। यह वाणी का नियन्त्रण करता है। वायु इसके बीच से होकर आगे जाती है, जिससे स्वर-रज्जु में कम्पन होता है और ध्वनि उत्पन्न होती है।

श्वासनली—इस नली से श्वास-वायु फेफड़ों तक जाती है। इसका अग्रभाग स्वरयन्त्र है। यही आगे जाकर श्वास-नलिकाओं में विभक्त हो जाती है। यह नली छल्लेदार है। यह लगभग १२ से०मी० लम्बी होती है।

श्वास-नलिकाएँ—वक्षःस्थल के ऊपरी भाग में पहुँचकर श्वासनली दो भागों में विभक्त हो जाती है। इन्हें श्वास-नलिकाएँ कहते हैं। इनमें से एक भाग दाहिने फेफड़े की ओर और दूसरा भाग बाएँ फेफड़े की ओर मुड़ जाता है। इनकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हो जाती हैं।

फेफड़े—इन्हें फुप्फुस भी कहते हैं। ये दो हैं। एक वक्षःस्थल के दाहिनी ओर और दूसरा बाईं ओर फैला हुआ है। बाईं ओर के फेफड़े में हृदय भी विद्यमान है। दाईं ओर के फेफड़े में श्वासनलिका की तीन बड़ी शाखाएँ हैं और बाईं ओर दो बड़ी शाखाएँ हैं। इनकी छोटी-बड़ी हजारों शाखाएँ है। फेफड़ों की बनावट शहद की मक्खी के छत्ते के तुल्य है। इनमें हृदय से अशुद्ध रक्त आता है और प्राणवायु (Oxygen) से शुद्ध होकर फिर हृदय में जाता है। फेफड़ों के बीच में बहुत छोटी श्वास की नली हैं। इनके द्वारा शुद्ध वायु फेफड़ों के छोटे से छोटे हिस्से में पहुँच जाती है। फेफड़ों के छोटे-छोटे हिस्सों में नमी रहती है। इसके ऊपर बहुत पतली दुहरी झिल्ली रहती है। इनकी बनावट स्पंज की तरह होती है। फेफड़ों में विद्यमान अशुद्ध रक्त शुद्ध वायु के लिए लालायित रहता है। प्राणवायु इस झिल्ली के बीच से होकर फेफड़ों में पहुँचता है। इस प्राणवायु से अशुद्ध रक्त प्राण वायु को शोषित कर शुद्ध होकर लाल हो जाता है और रक्त में से अशुद्ध वायु (Carbon dioxide) श्वास-नलियाँ के द्वारा प्रश्वास के समय नाक से बाहर निकल जाता है। फेफड़े मैले रक्त को शुद्ध करने की एक मशीन है। यह फेफड़ों का महत्त्व है। फेफड़े ऊपर कम चौड़े और नीचे अधिक चौड़े हैं। ये नीचे डायफ्राम (महाप्राचीर) पर रुके हुए हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्वसन-तंत्र का साधना और योग तंत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य सामान्य जीवन की अवधि में एक मिनट में १५ श्वास लेता है अर्थात् ४ सेकेण्ड में एक श्वास, २ सेकेण्ड लेने में और २ सेकेण्ड श्वास छोड़ने में। इस प्रकार एक घण्टे में ९०० श्वास और २४ घण्टे (१ दिन) में २१,६०० श्वास। प्राणायाम के द्वारा श्वास-अवधि एक मिनट में घटाकर सरलता से ४ या ५ की जा सकती है। इस प्रकार एक दिन में एक-तिहाई या एक-चौथाई श्वासों की संख्या कम की जा सकती है। सामान्यतया जीवन श्वासों की संख्या पर निर्भर है। इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा इनकी संख्या घटाकर जीवन को कम से कम १०-१५ वर्ष बढ़ाया जा सकता है।

६. रक्त-संचार-संस्थान (Circulatory System)

रक्त-संचार-संस्थान शरीर का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्थान है। यह शरीर को रक्त के द्वारा जीवनी शक्ति प्रदान करता है और दूषित तत्त्वों को शरीर से बाहर निकालता है। इसके प्रमुख संघटक हैं—

१. हृदय (Heart)
२. धमनी (Arteries)
३. लघु धमनी (Arterioles)
४. केशिकाएँ (Capillaries)
५. लघु शिराएँ (Venules)
६. शिराएँ (Veins)

धमनी (Arteries)—शुद्ध रक्तवाहक नसों को धमनी कहते हैं। शुद्ध रक्त-वाहक छोटी-छोटी नसों को लघु धमनी कहते हैं। शुद्ध रक्त का रंग लाल होता है।

शिरा (Veins)—अशुद्ध रक्त-वाहक नसों को शिरा कहते हैं। अशुद्ध रक्त नीलापन लिए हुए होता है। शिरा की सहायक छोटी-छोटी नसों को लघु शिरा कहते हैं।

केशिकाएँ (Capillaries)—ये बाल की तरह अत्यन्त बारीक नसे हैं, जो विभिन्न द्रवों और रसों को समीपस्थ ऊतकों में पहुँचाती है। जैसे—रक्त-केशिकाएँ, पित्त-केशिकाएँ आदि।

हृदय (Heart)

यह वक्ष:स्थल (Thorax) के मध्य में दोनों ओर के फेफड़ों के मध्य में अवस्थित है। इसकी लम्बाई लगभग १२ से०मी० (लंगभग ५ इंच), चौड़ाई ९

से०मी० (लगभग चार इंच), मोटाई ६ से०मी० (लगभग ढाई इंच) है। इसका झुकाव बाईं ओर है। यह बन्द मुट्ठी के समान आकृति वाला है। यदि बाएँ हाथ की मुट्ठी बाएं स्तन के ऊपर रखी जाए तो यह पूरे हृदय का स्थान बताएगी। नीचे यह वक्षःप्राचीर (Diaphragm, डायफ्राम) पर रुका हुआ है। इसकी तोल लगभग ३०० ग्राम पुरुषों में और २५० ग्राम स्त्रियों में होती है।

हृदय जीवन का आधार है। यह जीवन के प्रारम्भ से धड़ककर काम करता है और जीवन के अन्त तक बिना विश्राम किए कार्य करता है। परमात्मा की यह विशेष कृपा है कि उसने ऐसी सुदृढ़ मशीन मानव के जीवन के लिए दी है।

हृदय चारों ओर से दुहरे आवरण वाली झिल्ली में लिपटा हुआ है। यह दो तह वाला आवरण हृदय की रक्षा करता है, इसे पेरिकार्डियम (Pericardium) कहते हैं। यह हृदय के संकुचन और प्रसारण के समय अन्य अवयवों के साथ घर्षण या रगड़ से बचाता है। हृदय के चार भाग हैं, दो दाहिनी ओर और दो बाईं ओर। इनके नाम हैं—

१. दायाँ अलिन्द, दाहिना ऊपर का प्रकोष्ठ (Right auricle)
२. दायाँ निलय, दाहिना नीचे का प्रकोष्ठ (Right ventricle)
३. बायाँ अलिन्द, बायाँ ऊपर का प्रकोष्ठ (Left auricle)
४. बायाँ निलय, बायाँ नीचे का प्रकोष्ठ (Left ventricle)

हृदय के चार कार्य—हृदय के मुख्य रूप से चार कार्य हैं—

१. सारे शरीर से अशुद्ध रक्त को दायें अलिन्द में संग्रह करना।
२. अशुद्ध रक्त को शुद्ध करने के लिए फेफड़ों में भेजना।
३. शुद्ध रक्त को बाएँ अलिन्द में एकत्र करना।
४. शुद्ध रक्त को सारे शरीर में धमनियों के द्वारा भेजना।

इन चार कार्यों को समझने के लिए हृदय की बनावट को समझना आवश्यक है। मोटे रूप में हृदय की बनावट इस प्रकार है।

(क) दायाँ प्रकोष्ठ—इसके दो भाग हैं। इसके ऊपरी भाग को दायाँ अलिन्द (Right auricle) कहते हैं। इसके नीचे के भाग को दाहिना निलय या दक्षिण प्रकोष्ठ (Right ventricle) कहते हैं। दाएँ प्रकोष्ठ की बाईं बगल में महाशिरा है। यह बड़ी शिरा (Vein) है। इसमें दोनों ओर मुँह है। अतः इसमें ऊपर से और नीचे से दोनों ओर से अशुद्ध रक्त आता है। वहाँ से यह नीचे दाएँ निलय में आता है। दोनों प्रकोष्ठों के बीच में बाहर की ओर खुलने वाला (एक ओर ही खुलने वाला) द्वार या वॉल्व (Valve) है। इसमें तीन दल हैं, अतः इसे त्रिदल वॉल्व (Tricuspid Valve) कहते हैं। अशुद्ध रक्त इस वाल्व के कारण

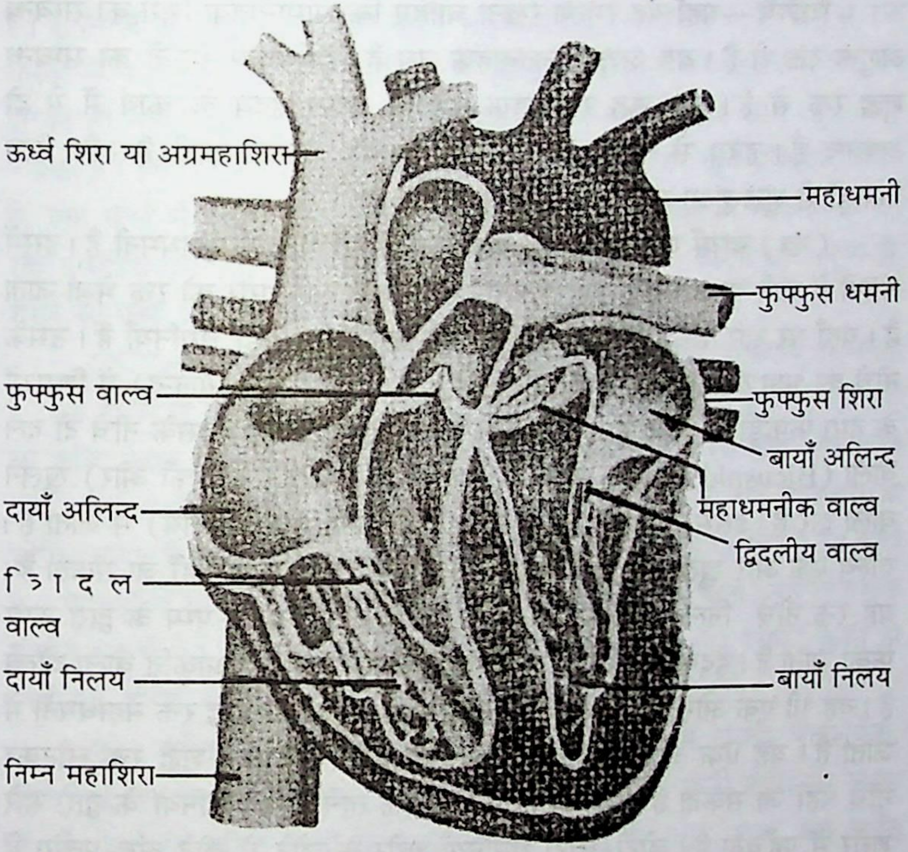

चित्र : १—हृदय के विभिन्न घटक

ऊपर के अलिन्द से नीचे निलय में आ सकता है, परन्तु लौटकर ऊपर की ओर नहीं जा सकता है। यह अशुद्ध रक्त पम्प द्वारा ऊपर फेंके जाने पर दूसरे वॉल्व के द्वारा ऊपर दाएँ-बायें दोनों ओर धमनियों के द्वारा फेफड़ों (फुप्फुस, Lungs) में भेजा जाता है और वहाँ ऑक्सीजन के द्वारा शुद्ध होकर दाएँ और बाएँ दोनों ओर से शिराओं के द्वारा पुन: बाईं ओर के ऊपरी प्रकोष्ठ (अलिन्द) में लाया जाता है।

विशेष—यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सामान्यतया शिरा का सम्बन्ध अशुक्त रक्त से है। यह अशुद्ध रक्तवाहक नस है। इसीप्रकार धमनी का सम्बन्ध शुद्ध रक्त से है। वह शुद्ध रक्तवाहक नस है। परन्तु हृदय के कार्य में ये दो अपवाद हैं। हृदय से धमनी अशुद्ध रक्त फेफड़ों तक ले जाती है और शिरा फेफड़ों से शुद्ध हुआ रक्त हृदय में लाती है।

(ख) बायाँ प्रकोष्ठ—बाएँ प्रकोष्ठ के ऊपरी भाग में महाधमनी है। इसमें धमनी में जाने वाला रक्त एकत्र रहता है। यहाँ से ही सारे शरीर को रक्त भेजा जाता है। यहाँ पर सारे शरीर में शुद्ध रक्त ले जाने वाली तीन बड़ी धमनियाँ हैं। उसके नीचे का भाग दो भागों में विभक्त है—(क) एक भाग (बाएं अलिन्द) में शिराओं के द्वारा फेफड़ों से लाया हुआ शुद्ध रक्त एकत्र होता है। (ख) इसके नीचे दो दल वाला (Bicuspid valve) वॉल्व है। यह भी एक ओर (नीचे की ओर) खुलने वाला द्वार है। इससे होकर शुद्ध रक्त नीचे बाएँ प्रकोष्ठ (बाएँ निलय) में जाता है। वॉल्व एक ओर खुलता है, अत: शुद्ध रक्त लौटकर अलिन्द में नहीं जा सकता है। यह रक्त नीचे निलय में एकत्र होता है। यह शुद्ध रक्त हृदय-पम्प के द्वारा ऊपर फेंका जाता है। हृदय के मध्य में बाएँ प्रकोष्ठ में अर्धचन्द्र की आकृति वाला वॉल्व है। यह भी एक ओर खुलने वाला द्वार है। इस द्वार से होकर शुद्ध रक्त महाधमनी में जाता है। यह एक ओर खुलता है, अत: महाधमनी में एकत्र शुद्ध रक्त लौटकर नीचे नहीं जा सकता है। महाधमनी से शुद्ध रक्त तीन बड़ी धमनियों के द्वारा सारे शरीर में पहुँचता है। छोटी-छोटी धमनियाँ शरीर के छोटे से छोटे अंग-प्रत्यंग में शुद्ध रक्त पहुँचाने का काम करती हैं।

यह शुद्ध रक्त अपना काम पूरा करने पर अशुद्ध (नीला) हो जाता है और वह पुन: शिराओं और लघु शिराओं के द्वारा एकत्र होकर फिर हृदय में पहुँचता है और पूर्ववत् फिर सारी प्रक्रिया होती है। इस प्रकार हृदय सारे शरीर को स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट रखता है।

रक्त—रक्त-संचार का आधार हृदय है। हृदय के दो कार्य हैं—आंकुचन या सिकुड़ना (Contraction) और प्रसारण या फैलना (Relaxation)। आकुंचन की स्थिति में हृदय दाएँ और बाएँ प्रकोष्ठ में एकत्र खून को ऊपर फेंकता है। दाईं ओर का एकत्र खून धमनी के द्वारा फेफड़ों में जाता है और बाईं

ओर का एकत्र खून महाधमनी को जाता है और वहाँ से धमनिओं के द्वारा सारे शरीर में पहुँचता है। प्रसारण या फैलाव की स्थिति में हृदय के दाएँ ओर अशुद्ध रक्त प्रवेश करता है और बाईं ओर शुद्ध रक्त। यह हृदय के विश्राम का समय है। इस समय हृदय शिथिल अवस्था में रहता है। हृदय के सिकुड़ने की अवस्था में लब (Lubb) ध्वनि होती है और फैलने की स्थिति में डप (Dup) ध्वनि होती है। १ मिनट में लगभग ७० बार हृदय धड़कता है। इस धड़कन के वेग से रक्त धमनी में प्रवाहित होता है। धमनियों में भी इस धड़कन का प्रभाव पड़ता है। इसको ही नब्ज चलना कहते हैं। हृदय एक बार में लगभग ८० ग्राम खून ऊपर फेंकता है। इस प्रकार हृदय एक मिनट में लगभग पाँच लीटर खून प्रवाहित करता है, एक घण्टे में ३०० लीटर और २४ घण्टे अर्थात् एक दिन में लगभग ८ टन रक्त प्रवाहित करता है। इतनी तीव्र गति से खून फेंकने के कारण ही मनुष्य के शरीर की नसों को सदा नया शुद्ध रक्त मिलता रहता है।

रक्त एक तरल पदार्थ है। यह पचे हुए भोजन, जल और प्राणवायु से बनता है। यह ही शरीर के छोटे से छोटे ऊतकों तक पहुँचकर शरीर को ऐसे तत्त्व देते हैं जो शक्ति प्रदान करते हैं। रक्त के मुख्य रूप से दो घटक हैं—रक्तकण और श्वेत कण। रक्त कणों में हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) होता है, जो प्राणवायु के शोषित करता है। शोषण के पश्चात् उसका रंग लाल हो जाता है। इनका मुख्य कार्य है—फेफड़ों से लेकर ऊतकों तक ऑक्सीजन (प्राणवायु) पहुँचाना। यह लौहयुक्त प्रोटीन पदार्थ है। इसके कारण ही रक्त का रंग लाल रहता है। इसकी कमी से निर्बलता, शरीर का पीला पड़ना आदि न्यूनताएँ होती हैं।

श्वेत कणिकाएँ रक्त-वारि (Plasma) द्रव है। इसमें लवण, रक्तशर्करा, विटामिन, हार्मोन, यूरिया आदि मिले हुए हैं। ये योद्धा के तुल्य शरीर के रक्षक हैं। ये रोग और दूषित तत्त्वों के आक्रमण को रोकते हैं। चोट, घाव, क्षत आदि को सुखाते हैं। ये बीमारी के कीटाणुओं और बाह्य कणों को खा जाते हैं।

हृदय का संपोषण—हृदय का संपोषण अलिन्द और निलय में भरे रक्त से नहीं होता है, अपितु इसके संपोषण की विशेष व्यवस्था है। महाधमनी से दो हृदय की धमनियाँ (Coronary arteries) निकलती हैं। ये हृदय के दाईं और बाईं ओर शाखा-प्रशाखाओं में सर्वत्र फैली हुई हैं। ये धमनियाँ रक्त के माध्यम से सारे हृदय की दीवारों को संपुष्ट करती हैं। यदि इनमें कोई व्यवधान आता है तो हृदय को पूर्ण संपोषण प्राप्त नहीं होता।

हृदय जन्म से लेकर मृत्यु तक निरन्तर धड़ककर पम्पिग के द्वारा रक्त-संचारण का काम करता है। इसे जीवनभर कभी विश्राम नहीं मिलता है। दो धड़कनों के बीच

में जो कुछ क्षण मिलते हैं, बस इतना ही उसे विश्राम मिलता है। इससे ही हृदय को जींवनभर संतुष्ट रहना पड़ता है और अपनी ड्यूटी पूरी करनी पड़ती है।

रक्त के कार्य—रक्त के मुख्य रूप से ये कार्य हैं—

१. भोजन के पाक से प्राप्त पोषक रसों को शरीर के सारे भागों में पहुँचाना।

२. श्वास द्वारा ऑक्सीजन प्राप्त करना और उसे सारे शरीर में सर्वत्र वितरित करना। इस प्रकार शरीर की कार्यक्षमता को बढ़ाना।

३. शरीर के प्रत्येक अंग से दूषित तत्त्वों, मल आदि को एकत्र कर शरीर से बाहर निकालना और शरीर को शुद्ध करना।

४. शरीर के ताप को समान रखना। शरीर को शीत से बचाकर गर्म रखना।

५. श्वेत रक्त के द्वारा रोगाणुओं को शरीर से निकालना और शरीर को रोगाणुओं के आक्रमण से बचाना।

६. अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Endocrine glands) के स्राव से रस ग्रहण करना और उसे शरीर के सभी भागों में पहुँचाना।

७. शरीर के क्षत-विक्षत भागों और घाव-चोट आदि का उपचार करना तथा उनकी मरम्मत करना।

८. शरीर को जीवनी शक्ति प्रदान करना, हृष्ट-पुष्ट रखना और सौन्दर्य एवं कान्ति प्रदान करना।

हृदय और योगसाधना—हृदय का योगसाधना से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

१. योग-साधना हृदय को शुद्ध रक्त पहुँचाने में सहायक है।

२. प्राणायाम के द्वारा अधिक से अधिक शुद्ध वायु फेफड़ों में पहुँचाई जाती है। इसके फलस्वरूप हृदय को अधिक मात्रा में शुद्ध रक्त मिलता है।

३. प्राणायाम के द्वारा अधिक मात्रा में कार्बन डाइआक्साइड (CO_2) शरीर से बाहर निकाली जाती है, जिससे अधिक मात्रा में रक्त की अशुद्धि दूर होती है।

४. प्राणायाम हृदय की धड़कनों के बीच विश्राम की अवधि को बढ़ाता है।

५. गहरा श्वास लेना और प्राणायाम शरीर के अंग-प्रत्यंगों तक श्वास को अधिक मात्रा में पहुँचाकर उनके संपोषण में सहायक होता है।

६. धारणा और ध्यान सारे शरीर में तनाव को दूर करते हैं और इससे हृदय की कार्यक्षमता बढ़ती है।

७. योगसाधना हृदय की अनियमित धड़कन को दूर करती है।

८. योगसाधना प्राणायाम आदि के द्वारा नस-नाड़ियों में शुद्ध रक्त की मात्रा बढ़ाकर उनके अवरोधों को समाप्त करती है। इससे हृदय को अधिक मात्रा में शुद्ध रक्त मिलता है।

९. प्राणायाम द्वारा हृदय को अधिक शुद्ध रक्त देकर शरीर को अनेक रोगों से मुक्त किया जा सकता है। प्राणायाम हृदयाघात (Heart attack) आदि की संभावनाओं को समाप्त कर देता है।

७. विसर्जन तंत्र या विसर्जन संस्थान (Excretory System)

मानव शरीर के पोषण के लिए आहार आवश्यक है। आहार को पचाने के लिए कुछ अम्ल भोजन में मिलते हैं। इनके कारण आहार ठीक ढंग से पचता है। आहार पच जाने के उपरान्त जो दैहिक क्रियाएँ होती हैं, उससे दूषित पदार्थ बनते हैं और आवश्यक है कि यह दूषित पदार्थ शरीर से बाहर निकाला जाय। यह कार्य विसर्जन तन्त्र करता है। इसके मुख्य संघटक हैं—

१. वृक्क या गुर्दे (Kidneys) २. मूत्रवाहिनी (Ureters)
३. मूत्राशय (Urinary Bladder) ४. मूत्रमार्ग (Urethra)

वृक्क, गुर्दे (किडनी)—गुर्दे मूत्र बनाने वाले अंग हैं। ये पीठ के पीछे पृष्ठवंश के दाएँ-बाएँ डायफ्राम के नीचे स्थित हैं। गुर्दे दो हैं। गुर्दे का आकार लोबिया (Bean) के तुल्य है। इसकी लम्बाई ४ इंच और चौड़ाई २ इंच होती है। इसमें अनेक नलिकाएँ हैं। इनमें धमनियाँ, शिराएँ आदि भी हैं। शिराओं से मलिन रक्त और धमनियों से शुद्ध रक्त इनमें आता है। गुर्दे की नलिकाएँ मलिन रक्त में मिश्रित दूषित तत्त्वों को छान लेती हैं और शुद्ध रक्त को आगे भेज देती हैं। फिर रक्त में से क्षरित उपयोगी पदार्थयुक्त 'रक्तवारि' गुर्दों की नलिकाओं के द्वारा चूसा जाता है तथा यूरिया (Urea), यूरिकाम्ल (Uric acid) मूत्रनली में फेंक दिया जाता है।

गुर्दे रक्त को छानने की एक उत्तम मशीन है। इसकी विशेषता है कि यह रक्त में से उपयोगी अंश लाल कण, आवश्यक प्रोटीन और विटामिन, ग्लुकोस, हार्मोन्स को रोककर रक्त में ही वापस लौटा देता हैं। साथ ही रक्त के दूषित तत्त्वों यूरिया और यूरिक एसिड को बाहर निकाल देता है। ये दूषित तत्त्व मूत्र के रूप में दोनों ओर की मूत्रवाहिनी के द्वारा मूत्राशय तक पहुँचते हैं और वहाँ से मूत्रमार्ग के द्वारा शरीर से बाहर हो जाते हैं।

गुर्दों के मुख्य कार्य ये हैं—१. शरीर में जल का सन्तुलन बनाए रखना। २. रक्त को अधिक अम्लीय (Acid) और अधिक क्षारीय (Alkaline) होनें से बचाना।

इसके अतिरिक्त भी कई अन्य माध्यम हैं, जिनके द्वारा शरीर का मल निरन्तर बाहर निकलता है और शरीर निर्मल एवं स्वस्थ रहता है। ये हैं—

१. रोमकूपों के द्वारा शरीर सें पसीना निकलना।

२. मुख-मार्ग से कफ का निकलना।

३. आँखों से आँसू द्वारा आँख का मल निकलना।

४. कान से कानों का मैल निकलना।

५. नाक से कार्बन डाइआक्साइड के रूप अशुद्ध वायु तथा कफ का निकलना।

योग-पद्धति विसर्जन-तंत्र के द्वारा विसर्जन की क्षमता को बढ़ाती है। यह अनावश्यक और विषैले द्रव्यों को शरीर से बाहर निकालने में सहयोग देती है। यह शुक्र ग्रन्थियों से निकलने वाले वीर्य को सुरक्षित रखने की विधि बताती है और वीर्य की सुरक्षा के द्वारा मनुष्य को ओजस्वी एवं तेजस्वी बनाती है।

८. ग्रन्थि-तंत्र या रसग्रन्थि-संस्थान (Glandular System)

मानव-शरीर में कुछ ऐसे अंग हैं, जो रस उत्पन्न करते हैं, इनको ग्रन्थियाँ (Glands) कहते हैं। ये रस-स्रावी हैं। इनका रस शरीर के विभिन्न अंगों में पहुँचता है। इनको मार्गों के आधार पर दो अंगों में बाँटा गया है—

१. प्रणालीयुक्त ग्रन्थियाँ (Exocrine Glands, Duct-glands)

२. अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ, प्रणालीहीन ग्रन्थियाँ (Endocrine Glands, Ductless glands)

१. प्रणालीयुक्त ग्रन्थियाँ—प्रणालीयुक्त या वाहिनीयुक्त ग्रन्थियाँ वे हैं, जिनका रस या स्राव किसी नली, नस या मार्ग से बाहर निकलता है। जैसे—लार की ग्रन्थियाँ, पित्त की ग्रन्थि, अग्न्याशय की ग्रन्थि, शुक्राणु और रज की ग्रन्थियाँ। इनका रस या स्राव नली से बाहर जाकर दैहिक क्रियाओं द्वारा शरीर के निर्माण में सहायक होता है।

२. अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ—इनका रस सीधे रुधिर में मिल जाता है और रक्त नलिकाओं द्वारा विभिन्न अंगों में जाता है। इनके स्राव के उत्सृजन हेतु नली या नाड़ी नहीं होती। इन ग्रन्थियों के स्राव को हार्मोन कहते हैं।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ (Endocrine glands)

मुख्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ ये हैं—

१. पीनियल ग्रन्थि (Pineal gland)

यह मस्तिष्क के मध्य में पीछे के भाग में है। यह पिट्यूटरी ग्रन्थि से थोड़ा पीछे और कुछ ऊपर छोटी-सी गुफा वाले आकार के छिद्र में स्थित है। इसका

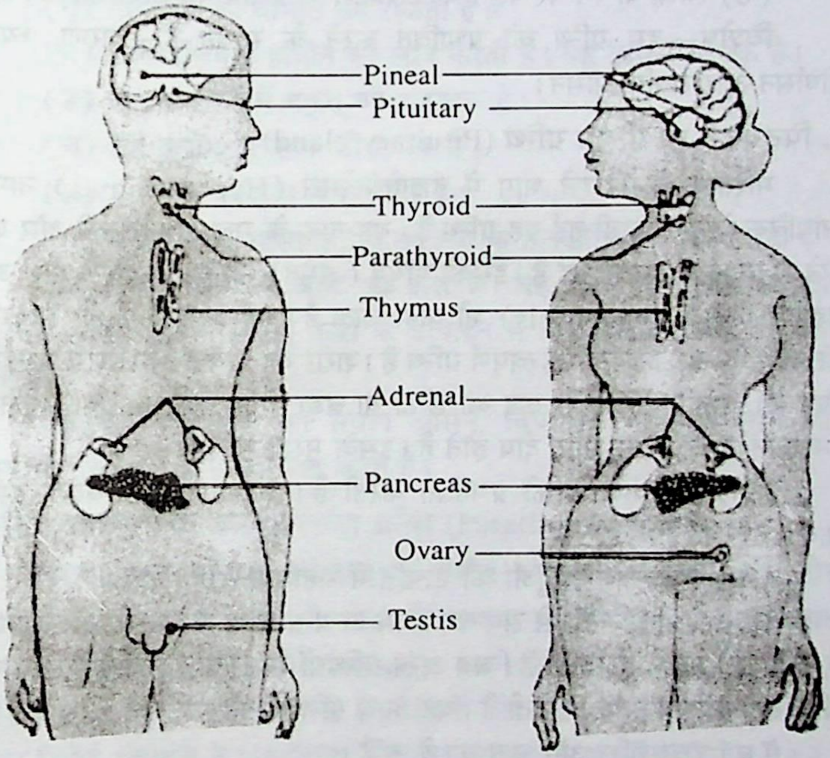

चित्र : २—अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियाँ

आकार मटर के दाने के बराबर ८ मि.मी. है। इसको 'नियन्त्रण ग्रन्थि' भी कहा जाता है। इसके मुख्य कार्य ये हैं—(क) मस्तिष्क की कोशिकाओं के विकास को संतुलित करना और उन्हें विकृतियों से बचाना।

(ख) शरीर की वृद्धि को नियन्त्रित करना। शरीर को स्थूलता प्रदान करना।

(ग) काम-ग्रन्थियों पर नियन्त्रण रखना। उचित समय पर वयस्कता लाना।

(घ) थाइराइड पर नियंत्रण रखना।

(ङ) त्वचा के रंग पर पड़ने वाले प्रकाश के प्रभाव को नियन्त्रित करना।

विशेष—इस ग्रन्थि को प्रभावित करने के साधन हैं—धारणा, ध्यान, शीर्षासन और सर्वांग आसन।

२. पिट्यूटरी या पीयूष ग्रन्थि (Pituitary gland)

मस्तिष्क के निचले भाग में हाइपोथेलेमस (Hypothalamus) नामक स्नायविक केन्द्र से जुड़ी हुई यह ग्रन्थि है। यह नाक के मूल के पीछे की ओर एक छोटे से प्याले में लटकी हुई है। इसको पीयूष (अमृत)-ग्रन्थि, 'कायिक मन' और हाइपोफिसिस (Hypophysis) भी कहा जाता है। यह अण्डाकार १२ मि०मी० की होती है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है। शरीर का प्रत्येक अंग इससे प्रभावित होता है। इसकी गड़बड़ से कद का छोटा या बड़ा होना, कुरूपता, अतिस्थूलता, बन्ध्यापन, बुद्धि-ह्रास आदि दोष होते हैं। इसके मुख्य कार्य हैं—

(क) यह कंकाल को प्रभावित करती है। कद का घटना-बढ़ना इसके स्राव पर निर्भर है।

(ख) प्रजनन कोशाणुओं की उत्पत्ति में सहायक है।

(ग) अन्य ग्रन्थियों से समन्वय। जब अन्य ग्रन्थियाँ काम बन्द करने लगती हैं, तब वह सक्रिय हो जाती है। जब अन्य ग्रन्थियों के स्राव बढ़ जाते हैं, तब यह ग्रन्थि अपना स्राव कम कर देती है। यह अन्य ग्रन्थियाँ की क्षतिपूर्ति भी करती है।

(घ) इच्छाशक्ति और ज्ञान का केन्द्र है।

(ङ) माता के स्तनों में दुग्ध-स्राव इसके कारण ही होता है।

(च) इस ग्रन्थि की प्रबलता से महापुरुष, सन्त, साहित्यकार आदि होता है।

(छ) इस ग्रन्थि की अव्यवस्था से शरीर कुरूप, अतिस्थूल, बौना आदि होता है।

विशेष—पीयूष ग्रन्थि ध्यान, सर्वांग आसन, विपरीतकरणी, जालंधर बन्ध आदि से पुष्ट होती है।

३. थाइराइड या चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid gland)

यह ग्रन्थि गले में स्वरतन्त्री के समीप श्वासनली के ऊपरी भाग में स्थित है। यह दो लाल रंग के पिंडों से बनी है। इसको जोड़ने वाली एक पट्टी स्वरयन्त्र

के ठीक नीचे है। यह ग्रन्थि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक भारी होती है। जलवायु-परिवर्तन, गर्भकाल, मासिक स्राव एवं कामोत्तेजना के समय इसका आकार बढ़ जाता है। उस समय इसे अधिक रक्त प्राप्त होता है। यह आयोडीन (Iodine) नामक मौलिक पदार्थ को ग्रहण करती है। इसके मुख्य कार्य ये हैं—

(क) इसका स्राव स्वास्थ्य और यौवन को अक्षुण्ण रखता है।

(ख) मस्तिष्क का संतुलन बनाए रखती है।

(ग) गलगण्ड की बीमारी को रोकती है।

(घ) आयोडीनयुक्त हार्मोन का स्राव करती है। यह विष-निरोधक है।

(ङ) शर्करा बनाने में यकृत् की सहायक है।

(च) यह क्लोम के कार्य की रोधक है।

(छ) यह पाचन-क्रिया में सहायक है।

(ज) इसका स्राव मस्तिष्क एवं नाड़ियों के ऊतकों का निर्माण करता है।

(झ) इसके स्राव में लोहे का अंश है। यह शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करता है। यह शरीर में विद्युत् ऊर्जा के उत्पादन में और उसके संचार में विशेष सहायक है।

विशेष—इस ग्रन्थि को सर्वांग आसन, विपरीतकरणी, भुजंगासन और मत्स्यासन विशेष रूप से प्रभावित करते हैं।

४. पैराथाइराइड या उपचुल्लिका ग्रन्थि (Parathyroid gland)

पैराथाइराइड ग्रन्थियाँ स्वरयन्त्र के समीप थाइराइड के ऊपर और नीचे स्थित हैं। ये संख्या में ४ हैं और मटर के आकार की हैं। इनसे निकलने वाले स्राव को पैराथार्मोन (Parathormone) कहते हैं। इनके स्राव से रक्त में कैल्शियम की मात्रा नियन्त्रित होती है। पेशियों और स्नायुओं को सक्रिय रखने में इनका विशेष योगदान है। थाइराइड और पैराथाइराइड के कार्यों में विरोध है।

थाइराइड	**पैराथाइराइड**
१. वसा को व्यय करती है।	१. वसा को संग्रह करती है।
२. शर्करा बनाने में यकृत् की सहायक।	२. शर्करा-निर्माण की रोधक।
३. क्लोम (पैंक्रियाज़) के कार्य की रोधक।	३. क्लोम के कार्य की सहायक।

पैराथाइराइड के कार्य—उपर्युक्त तीन कार्यों के अतिरिक्त इसके ये कार्य हैं—१. शरीर में कैल्शियम की मात्रा को नियन्त्रित करना। २. विटामिन 'डी' पर्याप्त मात्रा में मिलने पर इसका स्राव अच्छे प्रकार से काम करता है।

इसका स्राव उचित रूप से न होने पर ये दोष होते हैं—बौनापन, हड्डियों में कमजोरी, हड्डियों का टूटने पर शीघ्र न जुड़ना।

विशेष—सर्वांग, भुजंग, हल और मत्स्य आसन तथा जालंधर बन्ध के अभ्यास से इसका स्राव नियन्त्रित होता है।

५. थाइमस ग्रन्थि (Thymus gland)

इसको शिशु ग्रन्थि (Child gland) कहते हैं। यह वयस्क होने पर लुप्त हो जाती है। थाइमस ग्रन्थि हृदय के ऊपर, सीने के बीच दोनों फेफड़ों के मध्य में स्थित है। इसमें दो पिण्ड होते हैं। यह यौवन अवस्था तक बढ़ती है, फिर धीरे-धीरे सिकुड़ जाती है। इसके मुख्य कार्य ये हैं—(क) मस्तिष्क के विकास में सहायक है। (ख) शिशुओं के शारीरिक विकास का नियन्त्रण करती है। (ग) शैशव अवस्था में काम-ग्रन्थियों को सक्रिय नहीं होने देती। (घ) लसिका कोशिकाओं के निर्माण में सहायता देती है। (ङ) प्रतिरक्षा के कार्य में सहायता देती है। (च) विजातीय द्रव्यों को बाहर निकालने में सहायक होती है।

विशेष—शलभासन, उष्ट्रासन और उज्जायी प्राणायाम से यह विशेष प्रभावित होती है।

६. एड्रीनल या अधिवृक्क ग्रन्थि (Adrenal glands)

एड्रीनल ग्रन्थि गुर्दे के ऊपर त्रिकोणाकार टोपी की तरह ग्रन्थियाँ हैं। ये दो हैं और दोनों गुर्दों के ऊपर स्थित हैं, अतः इन्हें 'अधिवृक्क ग्रन्थियाँ' कहा जाता है। इनकी ऊपरी परत को एड्रीनल कार्टेक्स (Adrenal Cortex) कहते हैं। इसके मध्यभाग को एड्रीनल मेडुला (Adrenal medulla) कहते हैं। इन दोनों भागों से तीन दर्जन से भी अधिक स्राव उत्पन्न होते हैं। इनमें से कुछ स्राव जीवन के लिए अनिवार्य हैं। कार्टेक्स भय-क्रोध आदि में विषाक्त रस छोड़ता है। इससे निकलने वाला कोर्टिसोन (Cortisone) नामक हार्मोन सौ से अधिक रोगों को ठीक करता है। जैसे—गठिया, रक्तविकार, कैंसर, दमा आदि। इसके स्राव जीवन-रक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इसके प्रमुख कार्य ये हैं—

(क) यह जीवन-रक्षा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है।

(ख) यह रक्त के प्रवाह को बढ़ाती है।

(ग) यह हृदय को संयत करती है।

(घ) जिगर के कार्य को सक्रिय करती है।

(ङ) मस्तिष्क और प्रजनन अवयवों को स्वस्थ रखने में सहायक है।

(च) आकस्मिक खतरे में शरीर को सचेत करके प्रतिरोध हेतु तैयार करती है।

(छ) पाचक रसों में वृद्धि करती है।

(ज) धमनियों की संकोचन शक्ति को बढ़ाती है।

(झ) शरीर में स्फूर्ति लाती है।

(ञ) सन्धि-दर्द ठीक करती है। कब्ज आदि रोगों को दूर करती है।

(ट) यह श्वसन क्रिया को नियन्त्रित करती है।

विशेष—इस ग्रन्थि को स्वस्थ एवं पुष्ट रखने के लिए ये आसन-प्राणायाम उपयोगी हैं—१. आसन—पश्चिमोत्तान आसन, कोणासन, भुजंगासन, शलभासन, मयूरासन। २. प्राणायाम—भस्त्रिका और कपालभाति प्राणायाम, अग्निसार क्रिया।

९. प्रजनन-तंत्र (Reproductive system)

इसका सम्बन्ध सन्तानोत्पत्ति से है। सन्तानोत्पादक ग्रन्थियों को यौन ग्रन्थियाँ (Gonads) कहते हैं। इन्हें काय-ग्रन्थियाँ (Sex glands) भी कहते हैं। पुरुषों में यौन ग्रन्थि को शुक्र ग्रन्थि या अंडकोश (Testis, बहु० testes) कहते हैं और स्त्रियों में इसे डिम्ब ग्रन्थि (Ovary) कहते हैं।

(क) **शुक्र ग्रन्थि** (Testis)—यह पुरुषों में शिश्न के नीचे दोनों ओर लटकी हुई थैली (Scrotal sac) में दो ग्रन्थियाँ हैं। ये शुक्र या वीर्य बनाने वाली ग्रन्थियाँ हैं। मैथुन के समय यह शुक्र मूत्रमार्ग के द्वारा बाहर निकलता है। शुक्र-ग्रन्थि से बनने वाला रस सारे शरीर में विभक्त होकर अंगों को पुष्ट करता है और देह में कान्ति लाता है। योगी इस वीर्य को सुरक्षित रखकर इसे ऊर्ध्वगामी करते हैं। ऊर्ध्वरेतस् होने से ज्ञान और प्रतिभा की वृद्धि होती है। अतएव वीर्यरक्षा को महान् व्रत माना गया है। शुक्र-ग्रन्थि के मुख्य कार्य ये हैं—

(१) वीर्य का उत्पादन, (२) जननेन्द्रिय का विकास, (३) स्वर में पुरुषत्व, (४) दाढ़ी-मूंछ, छाती पर बाल, वक्षःस्थल में प्रौढ़ता, (५) यौन क्रियाओं के योग्य बनाना, (६) चर्बी को पृथक् करना, (७) कन्धों की मांसपेशियों में फैलाव।

(ख) **डिम्ब ग्रन्थि** (Ovary)—यह स्त्रियों में यौन ग्रन्थि है। यह डिम्बाशय में स्थित है और दो छोटी ग्रन्थियों के रूप में है। डिम्ब (अण्डे) बनते हैं, ये डिम्बनली द्वारा गर्भाशय में चले जाते हैं। इसके मुख्य कार्य में हैं—

(१) स्तनों की ग्रन्थियों की वृद्धि करना। (२) प्रजनन कार्य में सहायता देना। (३) दुग्धस्राव में सहायता करना। (४) इसके कारण ही कन्याएँ रजस्वला होती हैं। (५) इसके द्वारा नितम्ब (Hip) की मांसपेशियों में फैलाव आता है।

१०. स्नायुसंस्थान या तन्त्रिका-तंत्र (Nervous System)

मानव-शरीर में स्नायु-संस्थान सबसे महत्त्वपूर्ण संस्थान है। यह मानव के समस्त ज्ञान-विज्ञान और चेष्टाओं का केन्द्र है। यहीं पर ज्ञान-विज्ञान का संकलन,

विश्लेषण और आदान-प्रदान होता है। ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी समस्त व्यापारों का नियन्त्रण इसी केन्द्र से होता है। यह केन्द्र समस्त मानवीय अनुभूतियों को एकत्र करता है, उनका विश्लेषण करता है और तदनुसार कार्य करने के लिए मांसपेशियों और कर्मेन्द्रियों को आदेश देता है। यह केन्द्र प्रतिक्षण के क्रियाकलाप के संकलन, विश्लेषण, समन्वयन और यथायोग्य आदेश के लिए उत्तरदायी है।

स्नायु-संस्थान की संघटक कोशिकाएँ अन्य संस्थानों की कोशिकाओं से भिन्न होती हैं। इनको ज्ञानतन्तु, नस, नाड़ी, न्यूरोन (Neuron) और स्नायुकोशिका (Nerve cells) कहते हैं।

समस्त स्नायु-संस्थान तीन प्रकार का है—

१. केन्द्रीय स्नायु-संस्थान (Central Nervous System, C.N.S.)

२. प्रान्तस्थ स्नायु-संस्थान (Peripheral Nervous System, P.N.S.)

३. स्वतंत्र स्नायु-संस्थान (Autonomic Nervous System. A.N.S.)

१. केन्द्रीय स्नायु-संस्थान

केन्द्रीय स्नायु-संस्थान के संघटक हैं—१. मस्तिष्क (Brain), २. मेरुसूत्र या मेरुरज्जु (Spinal Cord)

(क) मस्तिष्क (Brain)

यह मनुष्य के कपाल (खोपड़ी) में स्थित संघनित स्नायुमंडल है। मस्तिष्क की सुरक्षा के लिए कठोर कपाल है। मस्तिष्क की रचना अखरोट के तुल्य है। इसका भार लगभग १४ सौ ग्राम और आयतन १४५० सी०सी० है। मस्तिष्क में दो प्रकार के सूत्र फैले हुए हैं—१. भूरे या धूसर (Grey), २. श्वेत (White)। पूरे शरीर में दो प्रकार के तन्तु या स्नायु फैले हुए हैं। ये हैं—१. ज्ञानतन्तु या ज्ञानवाहक तन्तु (Sensory nerves या Afferent), २. क्रियातन्तु या क्रियावाहक तन्तु (Motor nerves, या Efferent)। धूसर या भूरे तन्तु ज्ञानवाहक तन्तु हैं। ये चेतना (ज्ञान) के वाहक हैं, अतः इन्हें 'सांवेदनिक' तन्तु कहते हैं। ये ज्ञानेन्द्रियों (आँख, नाक, कान, जीभ, स्पर्श) से प्राप्त चेतना या संवेदना को सीधे मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। मस्तिष्क उनपर अपना निर्णय देता है। उस निर्णय को क्रियावाहक श्वेततन्तु मांसपेशियों और कर्मेन्द्रियों (हाथ, पाँव, आदि) तक पहुँचाते हैं.। तदनुसार कर्मेन्द्रियाँ काम करती हैं।

मस्तिष्क में तीन भाग हैं—

१. अग्र मस्तिष्क (Fore brain)

२. मध्य मस्तिष्क (Mid brain)

३. पश्च मस्तिष्क (Hind brain)

अग्र मस्तिष्क को बृहत् मस्तिष्क या प्रमस्तिष्क (सेरिब्रम, cerebrum) कहते हैं। पश्च मस्तिष्क को लघु मस्तिष्क (सेरिबेलम, Cerebellum) और मेडुला ओब्लांगगाटा (Medulla oblongata) बनाते हैं। मस्तिष्क का तीसरा भाग मेरुरज्जु, मेरुदण्ड या रीढ़ (Spinal Cord) है।

१. अग्र मस्तिष्क—यह मस्तिष्क का अग्रभाग है। इसके दो भाग है—१. अग्र मस्तिष्क (cerebrum), २. डायनसेफेलान (Diencephalon) भाग। मस्तिष्क दो गोलार्धों (Hemispheres) में विभक्त है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि दायाँ (दाहिनी ओर का) गोलार्ध शरीर के बाईं ओर के अंगों हृदय आदि का नियन्त्रण करता है। इसी प्रकार बायाँ गोलार्ध शरीर के दाईं ओर के अंगों का नियन्त्रण करता है। इस अग्र मस्तिष्क में ऊँचे-नीचे गह्वर (Gyri) हैं, जिससे यह ऊँचा-नीचा है। इन गह्वरों के मध्य से मस्तिष्कीय स्राव बहता है। अग्रमस्तिष्क की ऊपरी परत को कार्टेक्स (Cortex) कहते हैं। इसकी ऊपरी परत भूरे रंग के सूत्रों से बनी है और इसके नीचे श्वेतसूत्र हैं। इस ऊपरी परत में ही ज्ञानसूत्र और क्रिया-सूत्र (क्रियावाहक सूत्र) फैले हुए हैं। ये ही ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मांसपेशियों को नियन्त्रित करते हैं। इनमें देखना, सुनना, बोलना, सूंघना, स्पर्श आदि सम्मिलित हैं।

मस्तिष्कीय कार्टेक्स के मुख्य कार्य हैं—१. संवेदनाओं का प्रत्यक्षीकरण, जैसे—देखना, सुनना, सूंघना आदि। २. मांसपेशियों के कार्यकलाप का नियन्त्रण। ३. यह मांसपेशियों के अनैच्छिक क्रियाओं का केन्द्र है।

हाइपोथलमस (Hypothalamus)—यह Diencephalon का निचला भाग है। यह मस्तिष्क के पिछले भाग में स्थित है। इसमें श्वेतसूत्रों में मिला हुआ धूसर भाग है। यह भूख, प्यास, संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं और शरीर के तापमान का नियन्त्रक है। इससे कुछ स्राव (हार्मोन) भी निकलते हैं। पिट्यूटरी (पीयूष) ग्रन्थि के स्राव इसी क्षेत्र से निकलते हैं।

२. मध्य मस्तिष्क—इसकी तंत्रिकाएँ देखना से संबद्ध संवेदनाओं के केन्द्र हैं। यह मांसपेशियों और उनकी गति को नियन्त्रित करता है । इसको मस्तिष्क-स्तम्भ (Brainstem) कहते हैं। इसके तीन भाग हैं—१. मध्य मस्तिष्क, २. मस्तिष्क-स्तम्भ और नाड़ी-स्तम्भ (Medulla), ३. सेतु या पुल (Pons)। सेतु या पोंस दोनों बृहत् एवं लघु मस्तिष्क को मेरुदंड (Spine) से जोड़ने का काम करता है। मेडुला दोनों ओर की नाड़ियों को जोड़ने का काम करता है। पश्च मस्तिष्क स्वचालित नाड़ी-तंत्र को नियन्त्रित और संचालित करता है। स्वचालित नाड़ी-तंत्र में श्वास-प्रणाली, हृदय की गति, पाचन-संस्थान आदि सम्मिलित हैं।

३. पश्च मस्तिष्क—इसमें लघु मस्तिष्क (सेरिबेलम, cerebellum और Medulla oblongata) आता है। यह पीठ के पीछे की ओर प्रमस्तिष्क के नीचे गर्दन से ऊपरी भाग में स्थित है। पश्च लघु-मस्तिष्क भी अत्यन्त उपयोगी अंग है। आँख आदि ज्ञानेन्द्रियाँ जो संवेदनाएँ प्राप्त करती हैं, उन्हें वे ज्ञानसूत्रों के द्वारा बृहत् मस्तिष्क को भेजती हैं। मस्तिष्क उन्हें एकत्र करता है। वह एकत्र करने के बाद पश्चमस्तिष्क को भेजता है। लघुमस्तिष्क का काम है—उन संवेदनाओं में समन्वय स्थापित करना। साथ ही यह निश्चित करना कि यह काम किस कर्मेन्द्रिय या मांसपेशी से किस प्रकार होता है। जैसे—हाथ से उठाया हुआ अन्न का कौर आँख में, मुख में या नाक में कहाँ जाएगा। यह पश्च मस्तिष्क निर्णय करता है कि अन्न का कौर मुख में जाना है। यदि पश्च मस्तिष्क का सहयोग न लिया जाय तो अन्न का कौर आँख या नाक में चला जाएगा। किस कर्मेन्द्रिय से कौन-सा काम, कब, किस ढंग से किया जाना है, यह पश्च मस्तिष्क तय करता है। अंगों का सिकोड़ना या प्रसारण किस प्रकार होना है, यह तय करना लघुमस्तिष्क का काम है। पश्च मस्तिष्क अपना निर्णय बृहत् मस्तिष्क को भेजता है। बृहत् मस्तिष्क तदनुसार मांसपेशियों और कर्मेन्द्रियों को आदेश देता है। इस प्रकार बृहत् मस्तिष्क और पश्च मस्तिष्क परस्पर निरन्तर समन्वय बनाए रखते हैं।

बृहत् मस्तिष्क से प्राप्त सूचनाओं में आवश्यक संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन (Modulation) और परिस्थिति के अनुकूल क्रियाओं का विनियोग भी लघुमस्तिष्क करता है। पश्चमस्तिष्क का काम एक प्रकार से गृहिणी का काम है। सब संवेदनाओं को यथास्थान लगाना, उनके विषय में निर्णय लेना और तदनुकूल आदेश बृहत् मस्तिष्क को देना है। पश्च मस्तिष्क शरीर में सन्तुलन बनाए रखने का भी काम करता है । ज्ञानतन्तुओं और क्रियातन्तुओं में समन्वय स्थापित करना लघु-मस्तिष्क का काम है। पश्च मस्तिष्क में मांसपेशियों और शरीर-संतुलन के केन्द्र हैं, जिनसे वह इनका नियंत्रण करता है।

(ख) मेरुरज्जु (Spinal Cord)—शरीर के पिछले भाग में मेरुदण्ड या रीढ़ (Spinal Cord) है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। यह बिजलीघर (Power House) के तुल्य है। यह पश्च मस्तिष्क के मेडुला ओबलांगाटा के नीचे से लेकर पीठ के निचले भाग तक फैला हुआ है। मस्तिष्क से लेकर रीढ़ के नीचे तक रीढ़ की हड्डियों के बीच में से होता हुआ स्नायुमार्ग (Nerve tract) है। यह मस्तिष्क से लेकर पीठ के नीचे अन्तिम भाग तक को एक सूत्र में पिरोता है। इसमें ही बीच में सुषुम्ना, दाहिनी ओर पिंगला और बाईं ओर इडा नाड़ी हैं। इस मध्यस्थ स्नायुमंडल को मेरुरज्जु कहते हैं।

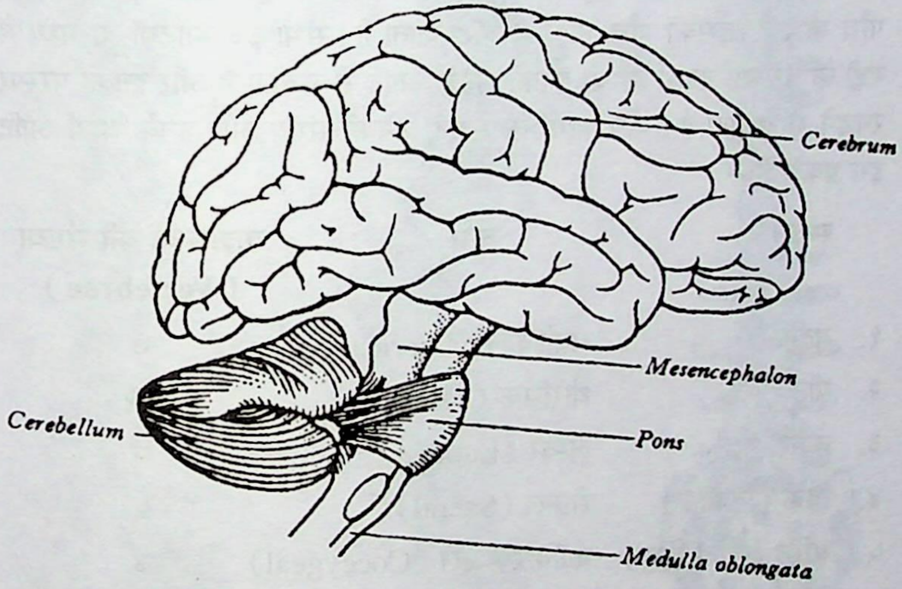
Cerebrum
Mesencephalon
Cerebellum
Pons
Medulla oblongata

चित्र : ३—मस्तिष्क

रीढ़ मस्तिष्क का ही निम्न भाग है। इसके केन्द्र में भूरे रंग का द्रव्य है और इसके चारों ओर श्वेत द्रव्य या श्वेत सूत्र हैं। केन्द्र में भूरे रंग के नाड़ी-कोशिकाओं के झुंड हैं। श्वेतसूत्रों में नाड़ियों के समूह हैं, जो ऊपर और नीचे की ओर जाते हैं। ये श्वेतसूत्रों में अपना मार्ग बनाते हैं। ऊपर जाने वाली नाड़ियाँ ज्ञानवाहक हैं और नीचे की ओर आने वाली क्रियावाहक हैं। ये क्रियावाहक नाड़ियाँ मांसपेशियों और कर्मेन्द्रियों से यथायोग्य काम कराती हैं।

रीढ़ लगभग ४५ से०मी० लम्बी है। इसमें ३३ गोटियाँ (कशेरु, Vertebrae) हैं। यह तीन परत के कवच से सुरक्षित है। इसके मध्यगत मार्ग में तरल पदार्थ प्रवाहित होता है। रीढ़ की हड्डी ऊपर से नीचे तक सीधी नहीं है। इसमें पाँच मोड़ हैं। इसको पाँच भागों में बाँटा जाता है। सभी ३३ गोटियों के मध्य में गद्दी के ढंग का पदार्थ है, जो इनको झटके आदि से बचाता है और इनको परस्पर रगड़ने से बचाता है। पाँच भागों के स्थान, उनकी संख्य और उनके कार्य आदि इस प्रकार हैं—

स्थान	**नाम**	**कशेरुओं की संख्या (Vertebrae)**
१. गर्दन	सर्वाइकल (Cervical)	७
२. पीठ	थोरेसिक (Thoracic)	१२
३. कमर	लम्बर (Lumbar)	५
४. त्रिक (तिकोना)	सेक्रल (Sacral)	५
५. बस्ति (छोटा त्रिक)	कॉक्सिजिअल (Coccygeal)	४

चित्र से रीढ़ के पाँच मोड़, कशेरुओं के स्वरूप और उनके पार्श्वभाग का ज्ञान हो सकता है। इन कशेरुओं से ३१ जोड़े नाड़ियाँ (तन्त्रिकाएँ) निकलती हैं। इनमें से ऊपर की.ओर जाने वाली नाड़ियाँ मस्तिष्क को बाह्य और अन्दर की संवेदनाओं की सूचनाएँ देती हैं। नीचे की ओर जाने वाली नाड़ियाँ मांसपेशियों और कर्मेन्द्रियों को आदेश देती हैं। मांसपेशियाँ तीव्र संवेदनाओं के समय तनावग्रस्त होती हैं और सामान्य अवस्था में शान्त रहती हैं। मेरुदण्ड (रीढ़) एक प्रकार से सारे शरीर के विद्युत्-तंत्र का स्विच बोर्ड (Switch-board) है। यही सारे शरीर को नियन्त्रित करता है। इसी में इडा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियाँ हैं; अतएव योगसाधना में इसका बहुत महत्त्व है।

रीढ़ की प्रत्येक कशेरुका (गोटी) किस अंग से संबद्ध है और क्या कार्य करती है, इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

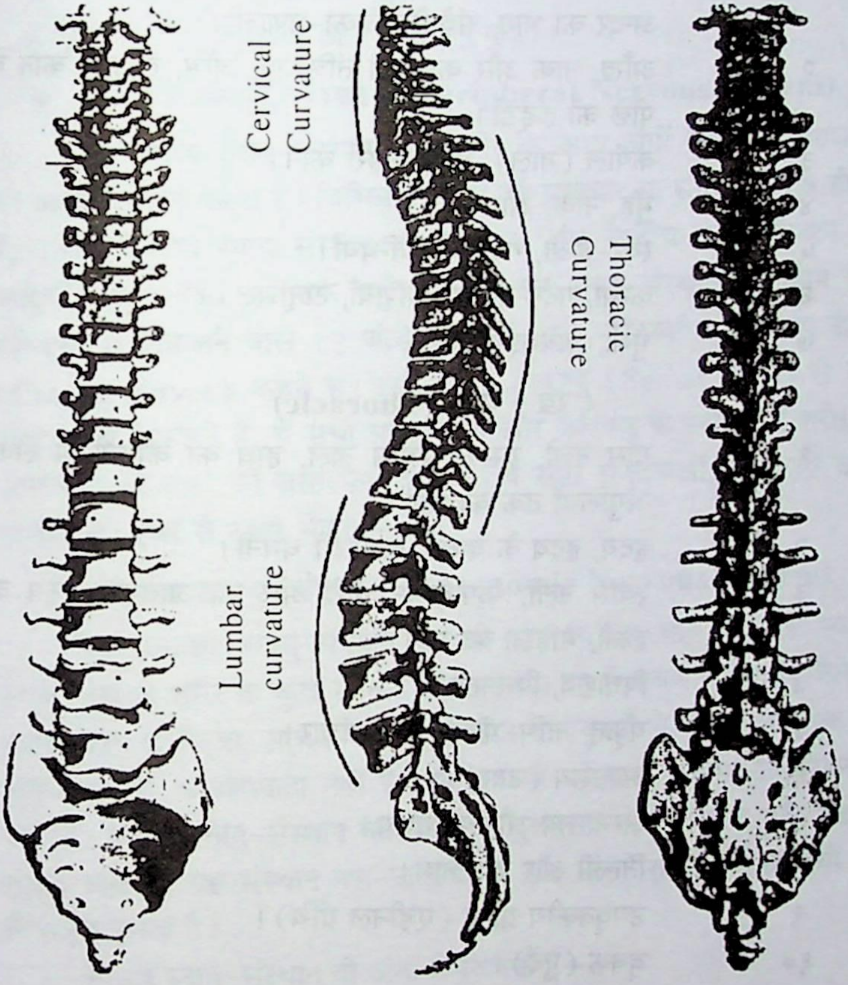

चित्र : ४—मेरुदण्ड के घटक—सामने, बगल
और पीछे की ओर से

(क) गर्दन (Cervical)

गोटी संख्या	संबद्ध अंग एवं कार्यक्षेत्र
१	सिर, मस्तिष्क, पीयूष ग्रन्थि, मुख की अस्थियाँ, कान के अन्दर का भाग, संवेदी तंत्रिका-प्रणाली।
२	आँख, नाक और कान की तंत्रिकाएँ, जीभ, ललाट, कान के पीछे की हड्डी।
३	कपोल (गाल), दाँत, बाहरी कान।
४	मुँह, नाक, ओष्ठ।
५	स्वर-तन्त्री, गर्दन की ग्रन्थियाँ।
६	कन्धा, गर्दन की मांसपेशियाँ, टान्सिल।
७	भुजा, थायराइड ग्रन्थि।

(ख) पीठ (Thoracic)

१	ग्रास नली, ग्रसनी, श्वास नाल, हाथ का कोहनी से लेकर अँगुलियों तक का भाग।
२	हृदय, हृदय के वाल्व, कारोनरी धमनी।
३	श्वास नली, फेफड़े के चारों ओर का आवरण, पुरुष की छाती, महिला का स्तन।
४	पित्ताशय, पित्तनली।
५	यकृत्, नाभि-मंडल, रक्त-संचार।
६	आमाशय (उदर)।
७	अग्न्याशय और पक्वाशय।
८	तिल्ली और डायफ्राम।
९	उपवृक्कीय ग्रन्थि (एड्रीनल ग्रंथि)।
१०	वृक्क (गुर्दे)।
११	मूत्रवाहिनी, गुर्दे।
१२	छोटी आँतें, लसीका-परिसंचार, अंडवाहिनी।

(ग) कमर (Lumbar)

१	बड़ी आँतें, वृषण।
२	उदर, टाँग का ऊपरी भाग, आंत्रपुच्छ।
३	अण्डकोश, यौन अंग, डिम्बग्रन्थि, गर्भाशय, मूत्राशय, घुटने।
४	पौरुष ग्रन्थि, कमर के अधोभाग की मांसपेशियाँ।
५	घुटने के नीचे का भाग, पंजा, टखना, साइटिका नाड़ी।

(घ) त्रिक प्रदेश (Sacrum)

१-५ नितम्ब और उसकी अस्थियाँ।

(ङ) लघु त्रिक (Coccyx)

१-४ मलाशय और मलद्वार (गुदा)।

२. प्रान्तस्थ स्नायु-संस्थान (Peripheral Nervous System)

यह केन्द्रीय स्नायु-संस्थान और शरीर के अन्य अंगों के साथ समाचारों का आदान-प्रदान करता है। विभिन्न अंगों से जो समाचार या संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं, उनको केन्द्रीय स्नायु-संस्थान को पहुँचाना और केन्द्रीय स्नायु-संस्थान के आदेशों को प्रत्येक अंग तक पहुँचाना यह इस स्नायु-संस्थान का काम है। मस्तिष्क से निकलने वाले १२ जोड़े स्नायु हैं, इन्हें मस्तिष्कीय स्नायु या नाड़ी (Cranial nerves) कहते हैं। इसी प्रकार मेरुरज्जु (Spinal Cord) से ३१ जोड़े स्नायु निकलते हैं, ये सभी मस्तिष्कीय और मेरुरज्जु के स्नायु सारे शरीर में 'टेलीफोन के तार' की तरह फैले हुए हैं। ये सारी संवेदनाओं, समाचारों और आदेशों को इधर से उधार भेजते हैं।

३. स्वतंत्र स्नायु-संस्थान (Autonomic Nervous System)

यह प्रान्तस्थ स्नायु-संस्थान का ही एक विशिष्ट भाग है। यह स्वतंत्र स्नायु-संस्थान शरीर के कुछ स्वतन्त्र क्रियाकलाप का नियन्त्रण करता है। जैसे— श्वास-प्रश्वास क्रिया, पाचन-संस्थान आदि। इन कार्यों के लिए मस्तिष्क के अनुमोदन की आवश्यकता नहीं है और इन पर मस्तिष्क का साक्षात् नियन्त्रण नहीं है। स्वतंत्र स्नायु-संस्थान का कार्यक्षेत्र मुख्यरूप से वक्षःस्थल और पेट से संबद्ध अंग हैं। यह संस्थान नस-नाड़ियों के द्वारा मांसपेशियों और ग्रन्थियों का नियन्त्रण करता है।

स्वतंत्र स्नायु-संस्थान दो अंगों में विभक्त है—

१. संवेदी तन्त्र (Sympathetic System)

२. सहसंवेदी या परासंवेदीतन्त्र (Parasympathetic System)

१. संवेदी तन्त्र—संवेदी तंत्र में मेरुरज्जु (Spinal Cord) के दोनों ओर गाँठों वाली दो नाड़ियाँ हैं। इनको नाड़ी-गंड कहते हैं। संवेदी तंत्र का मुख्य कार्य है—हृदय और मांसपेशियों में आवश्यकतानुसार तीव्रता लाना, उनको परिस्थिति के अनुसार कार्य करने के लिए तैयार करना। इससे आवश्यकता के अनुरूप हृदय को अधिक रक्त दिया जाता है और दिल की धड़कन बढ़ती है। मांसपेशियों को अधिक रक्त दिया जाता है, जिससे वे अधिक काम कर सकें।

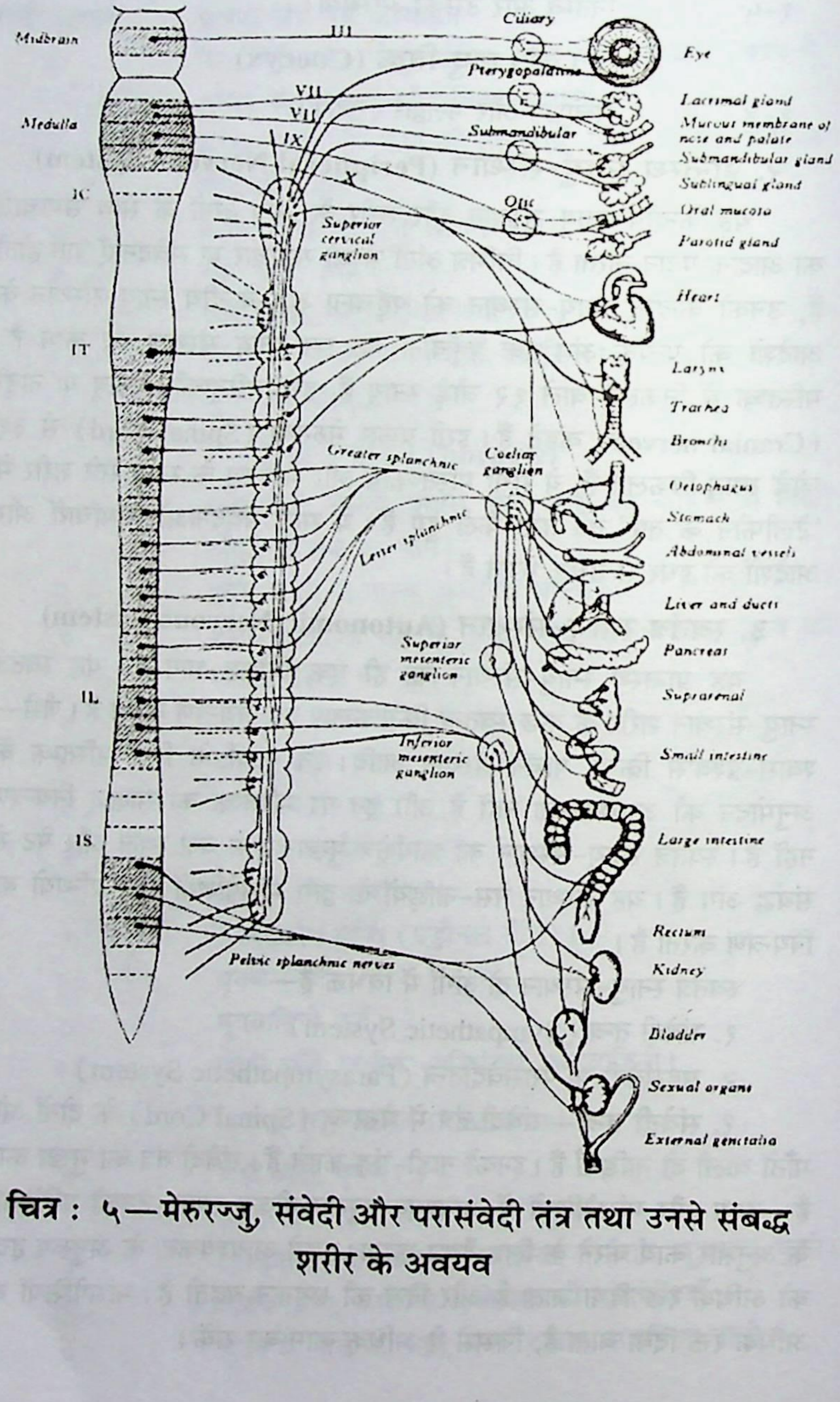

चित्र : ५—मेरुरज्जु, संवेदी और परासंवेदी तंत्र तथा उनसे संबद्ध शरीर के अवयव

२. सहसंवेदी तन्त्र—सहसंवेदी तंत्र संवेदी तंत्र के विपरीत कार्य करता है। संवेदी तन्त्र यदि हृदय आदि के कार्य में तीव्रता लाता है और उनकी गति बढ़ाता है तो सहसंवेदी तन्त्र उनकी गति को मन्द करता है, कम कर देता है और उनकी कार्यप्रणाली में शिथिलता ला देता है। इससे हृदय की धड़कन कम हो जाती है और मांसपेशियाँ को कम रक्त मिलता है।

योगसाधना और मेरुदंड—रीढ़ को ही मेरुदंड, पृष्ठवंश कहते हैं। पृष्ठवंश का योगसाधना में बहुत महत्त्व है। इसके मध्य में जो मेरुरज्जु (Spinal Cord) विद्यमान है, उसके तीन भाग हैं—**१. सुषुम्ना**। यह मध्य में है। यह सरस्वती या ज्ञान की धारा है। **२. इडा**। यह सुषुम्ना के बाईं ओर है। इसको गंगा भी कहते हैं। **३. पिंगला**। यह सुषुम्ना के दाईं ओर है। यह यमुना है। मेरुरज्जु के बीच से सारे ज्ञानतन्तु और क्रियातन्तु ऊपर-नीचे जाते हैं। योग में पृष्ठवंश को सीधा रखने का बहुत महत्त्व वर्णन किया गया है। प्रत्येक साधना-पद्धति में पृष्ठवंश को सीधा रखने पर बहुत बल दिया गया है। न केवल साधना के समय ही, अपितु दिनभर सीधा (तना हुआ) बैठने का अभ्यास करना चाहिए। आगे झुककर बैठने, लिखने या अन्य कार्य करने पर आगे के फेफड़ों पर दबाव पड़ता है, प्राणवायु फेफड़ों में पूरी नहीं पहुँच पाती। फलस्वरूप रीढ़ के कशेरुओं के मध्य जो गद्दी, द्रव और स्नायुतन्तु विद्यमान हैं, वे क्षीण होते हैं और मानव की कार्यक्षमता घटती है। अतएव योगासनों में शरीर को दाएँ-बाएँ और इधर-उधर मोड़ते हैं। इससे कशेरुओं के मध्य विद्यमान द्रव (चिकना पदार्थ) गतिशील रहता है। इससे पृष्ठवंश को शक्ति प्राप्ति होती है। इससे सभी ज्ञानतन्तुओं को बल मिलता है और वे पुष्ट होते हैं। इस पुष्टता का परिणाम है—नीरोगता और उत्तम स्वास्थ्य।

पृष्ठवंश के स्नायु-तंत्र को ठीक रखने के लिए आवश्यक है कि सदा सीधा बैठें। इसके साथ ही प्रतिदिन कम से कम दो मिनट कण्ठकूप (गले में विद्यमान गड्ढा) में अपनी ठोड़ी को जमावें। इससे स्वयं अनुभव होगा कि पृष्ठवंश सीधा हुआ है और उसमें हलकापन आया है। पृष्ठवंश की त्रुटियों को दूर करने का यह सरल उपाय है। पृष्ठवंश में ही विभिन्न ग्रन्थियाँ हैं। प्राणायाम से ग्रन्थिभेदन होता है। इन ग्रन्थियों के भेदन से ही विभिन्न विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। पृष्ठवंश को सीधा रखने का अन्य लाभ है—पृष्ठवंश में ज्ञानतन्तुओं की गति अबाध होती है। इससे बुद्धि और मन की शक्तियाँ पुष्ट होती हैं तथा दिव्य ज्ञान की धारा प्रवाहित होती है।

११. चक्रों का विवरण (Plexus)

चक्र क्या हैं?—चक्रों के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ हैं। चक्र घेरा या कोई गोल वस्तु नहीं है। यह नाड़ियों का जाल या गुच्छा है। जहाँ पर कई नाड़ियाँ

आकर जाल की तरह मिलती हैं, उस केन्द्रस्थल को चक्र (Plexus, प्लेक्सस) कहते हैं। शरीर में कई नाड़ी-गुच्छ हैं, परन्तु योग की दृष्टि से सात अति महत्त्वपूर्ण चक्र माने गए हैं। ये ग्रन्थि (गाँठ) की तरह हैं। इन गाँठों के खुलने को ग्रन्थिभेदन कहते हैं। जिस प्रकार विद्युत् के केन्द्रीय खंभों पर अनेक तारों का जोड़ होता है। वहाँ आकर वे तार मिलते हैं और फिर विभिन्न दिशाओं में चले जाते हैं, वैसे ही कुछ महत्त्वपूर्ण नाड़ियाँ इन चक्रों पर मिलती हैं। इन चक्रों पर ध्यान करने से इनकी गाँठ खुलती हैं और वहाँ से कुछ महत्त्वपूर्ण शारीरिक या मानसिक शक्ति प्राप्त होती है। इन चक्रों को विभूतियों का केन्द्र माना जाता है।

विशेष—चक्रों के Solar Plexus आदि अंग्रेजी नाम केवल संकेतमात्र हैं। इन्हें शुद्ध अनुवाद न समझें।

चक्रों को अविकसित पद्म या कमल कहा जाता है। ये बन्द कली की तरह रहते हैं। ध्यानरूपी विद्युत्-प्रकाश पड़ने पर ये कमल खिलते हैं। प्रत्येक चक्र में नाना प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ हैं।

प्रमुख सात चक्र हैं—१. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपूर, ४. अनाहत, ५. विशुद्ध, ६. आज्ञा, ७. सहस्रार। इनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

१. मूलाधार चक्र (Coccygeal Plexus)—यह गुदा से दो अंगुल ऊपर है। यह भू (पृथिवी) तत्त्व का प्रधान स्थान है। यह कुंडलिनी शक्ति का आधार है, अतः इसे मूलाधार चक्र कहते हैं। यहाँ पर कुंडलिनी शक्ति सोए हुए सांप की तरह कुंडली मारकर सोई हुई है। ध्यान से उसे जागृत किया जाता है।

लाभ—इस चक्र पर ध्यान करने से आरोग्य, प्रसन्नचित्तता, काव्य-निपुणता, कार्यदक्षता प्राप्त होती है। इसको उत्तेजित करने पर वीर्य स्थिर होता है और साधक ऊर्ध्वरेता बनता है, अर्थात् वीर्य ऊपरी ओर प्रवाहित होता है।

२. स्वाधिष्ठान चक्र (Sacral Plexus)—यह मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर पेड़ू के समीप है। यह जल तत्त्व का प्रमुख स्थान है। इसमें श्वेत गाढ़ा सा द्रव (वीर्य) भरा हुआ है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से ब्रह्मचर्य की साधना में सहायता मिलती है।

लाभ—इस चक्र पर ध्यान करने से प्रेम और अहिंसा के भाव जागृत होते हैं। कामभावना शान्त होती है और शरीर से रोग एवं थकावट दूर होकर स्वास्थ्य-लाभ होता है। साथ ही जिह्वा पर सरस्वती का निवास होना माना गया है।

३. मणिपूर चक्र (Solar Plexus)—इसे 'नाभिचक्र' भी कहते हैं। यह ठीक नाभि में है। यह अग्नितत्त्व-प्रधान है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से समस्त शरीर की रचना का ज्ञान प्राप्त होता है। योगसूत्र **'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्'** (योग० ३.२९) के द्वारा भी यही भाव व्यक्त किया गया है।

लाभ—इस चक्र पर ध्यान करने से मन की चंचलता कम होती है। शारीरिक और मानसिक दुःख घटते हैं और अजीर्ण आदि रोग दूर होते हैं।

४. अनाहत चक्र (Cardiac Plexus)—इसको 'हृत्-चक्र' भी कहते हैं। यह छाती में दोनों फुप्फुसों के बीच रक्ताशय नामक मांसपिंड के अन्दर एक छोटे रिक्त स्थान में है। यह एक छोटे अंगूर की आकृति का है। इसको हृदय-कमल या हृत्-पद्म भी कहा गया है। यह जीवात्मा का निवास-स्थान माना गया है। यह प्रकाश-पुंज है। यह वायुतत्त्व-प्रधान है। यहीं पर 'अनाहत ध्वनि' होती है। यह प्राणवायु का स्थान है।

लाभ—इस चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने पर वाक्-सिद्धि, कवित्वशक्ति की प्राप्ति, जितेन्द्रिय होना आदि लाभ प्राप्त होते हैं। भक्ति-भावना वाले व्यक्तियों को इस चक्र पर ध्यान लगाना अधिक लाभप्रद है।

५. विशुद्ध चक्र (Carotid Plexus)—यह कंठकूप (गले की दोनों हड्डियों के बीच अंगूठे के बराबर कोमल स्थान) में है। यह आकाश-तत्त्व का मुख्य स्थान है। संगीत के आधार षड्ज, ऋषभ आदि सप्त-स्वर इसी स्थान से प्रकट होते हैं।

लाभ—इस चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से कवि और महाज्ञानी होता है। मन शान्त होता है, दीर्घजीवी होता है और उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होता है। योगदर्शन का कथन है कि यहाँ पर ध्यान केन्द्रित करने से भूख-प्यास नहीं लगती। **'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः'** (योग० ३.३०)। इससे नीचे छाती में कछुए के सदृश 'कूर्मनाडी' है। उसमें ध्यान केन्द्रित करने पर मन को स्थिरता प्राप्त होती है। (**कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्,** योग० ३.३१)।

६. आज्ञाचक्र (Cerebral Plexus)—यह चक्र दोनों भ्रुवों के मध्य में भृकुटी के अन्दर स्थित है। यहाँ पर पीनियल और पिट्यूटरी ग्रन्थियाँ (Pineal & Pituitary glands) हैं। यहाँ पर भूरे रंग के कणों के तुल्य मांस की दो ग्रन्थियाँ हैं। ध्यानावस्था में इच्छाशक्ति की लहरों से ये दोनों ग्रन्थियों घूमने लगती हैं। ये ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत्-शक्ति-युक्त हैं। इनके पारस्परिक संघर्ष से प्रकाश उत्पन्न होता है। ध्यानावस्था में यह प्रकाश दिखाई देता है। यह चक्र महत्-तत्त्व-प्रधान है। यह दिव्य दृष्टि का केन्द्र है। यह शिव का तृतीय नेत्र है। आज्ञाचक्र सबसे महत्त्वपूर्ण चक्र है। इसके खुलने पर अन्य चक्र सरलता से खुल जाते हैं।

लाभ—इससे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। इस चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से वे सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जो अन्य चक्रों पर ध्यान से प्राप्त होती हैं।

७. सहस्त्रार चक्र (Cerebellum Plexus)—इसको 'ब्रह्म रन्ध्र' और 'दशम द्वार' भी कहते हैं। यह स्थान कनपटियों से दो-दो इंच अन्दर और कोमल तालु से लगभग दो अंगुल ऊपर है। यह एक ज्योतिपुंज के रूप में है। सहस्त्रार चक्र शक्तियों का पुंज है। सहस्त्रार का अर्थ है—सहस्त्रों अर (पहिए के केन्द्र से जुड़े छोटे डंडे) वाला। यहाँ भाव है—केन्द्र से निकलने वाली सहस्त्रों शक्ति की धाराएँ। सहस्त्रार चक्र को 'सहस्त्रदल-कमल' कहा जाता है, क्योंकि इस केन्द्र से सहस्त्रों शक्ति की धाराएँ प्रवाहित होती हैं। यह मस्तिष्क का केन्द्र है।

लाभ—इस चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से आत्मिक आनन्द और सभी दिव्य विभूतियों, सिद्धियों आदि की प्राप्ति होती है।

❑

अध्याय ३

अन्नमय कोश, योगासन

१. प्रमुख आसनों की विधि और उनके लाभ

आसन का स्वरूप—महर्षि पतंजलि का कथन है—'**स्थिरसुखम् आसनम्**' (योग० २.४६) अर्थात् आसन उसे कहते हैं, जिसमें दीर्घकाल तक सुखपूर्वक बैठा जा सके। योगसाधना में कई घण्टे तक बैठने का अभ्यास अपेक्षित होता है, अत: आवश्यक है कि साधक कुछ आसनों के सिद्ध कर ले, जिस आसन में बिना हिले-डुले पर्याप्त समय तक बैठ सके। धारणा, ध्यान और समाधि के लिए आसन का सिद्ध होना अनिवार्य है।

योग के इन आसनों को योगासन कहते हैं। श्री स्वामी योगेश्वरानन्द जी ने अपने ग्रन्थ 'बहिरंग योग' में योगासनों की संख्या ३०० दी है और इनको करने की विधि भी दी है। सामान्य साधक के लिए सभी आसनों को करना न संभव है और न अपेक्षित है। उनके लिए कुछ विशिष्ट २०-२५ आसन ही पर्याप्त हैं। यहाँ पर उन आसनों की ही विधि और लाभ का उल्लेख है।

शरीर की प्राथमिक आवश्यकताओं में नीरोगता या आरोग्य है। शरीर के नीरोग और हृष्ट-पुष्ट रहने पर ही सभी धार्मिक एवं सांसारिक कार्य संभव हैं, अत: भारतीय मनीषियों का कथन है—'**धर्मार्थ-काम-मोक्षाणाम् आरोग्यं मूलमुत्तमम्**' '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चतुवर्ग की सफलता के लिए शरीर का नीरोग होना आवश्यक है। स्वस्थ शरीर ही धर्म का साधन हो सकता है। योग-साधना के लिए भी स्वस्थ और नीरोग शरीर ही उपयोगी है।

आसनों की उपयोगिता—शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए आसन अत्यन्त उपयोगी हैं। साधकों के लिए आवश्यक है कि वे कुछ आसन अवश्य करें। इससे शरीर में स्फूर्ति, सक्रियता और कार्यक्षमता बढ़ती है। शरीर को रोगों से बचाने के लिए आसन रामबाण हैं। यदि बाल्यकाल से आसनों का अभ्यास किया जाय तो ९० प्रतिशत रोग शरीर में प्रवेश ही नहीं कर पाएंगे। आसन ही एक ऐसी विधि है, जो शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक की जा सकती है। यह एक ओर शारीरिक व्यायाम है, तो दूसरी ओर रोग-चिकित्सा है। यह शरीर के स्नायु-संस्थान को सर्वथा निर्दोष बनाता है। शरीर का संतुलित विकास करता है। संक्षेप में योगासनों के ये लाभ हैं—

१. शरीर को नीरोग बनाना और उसका सन्तुलित विकास करना।

२. स्नायु-संस्थान (नस-नाड़ियों) की शुद्धि करना और उनके दोष दूर करना।

३. स्नायु-तंत्र को पुष्ट करना और उनको सक्रिय बनाना।

४. हृदय को शक्ति प्रदान करना।

५. शरीर में स्फूर्ति लाना और उसकी कार्यक्षमता बढ़ाना।

६. पाचन-तंत्र की सक्रियता बढ़ाना और मन्दाग्नि आदि दोष हटाना।

७. शरीर की अनावश्यक चर्बी घटाना और मोटापा दूर करना।

८. शरीर में उत्साह, उमंग, ओज और बल की वृद्धि।

आसनों के विषय में कुछ आवश्यक निर्देश

१. समय—शौचादि से निवृत्त होकर आसन करें। प्रातःकाल का समय सर्वोत्तम है। सायंकाल भी खाली पेट या मिताहार लेकर आसन कर सकते हैं। कम से कम १५ मिनट और अधिक से अधिक एक घंटा समय दें।

२. स्थान—खुले और स्वच्छ स्थान में आसन करें। शुद्धवायु मिलनी चाहिए।

३. वेशभूषा—शरीर पर कम से कम वस्त्र चाहिएं। ऋतु के अनुसार हलका स्वेटर आदि पहन कर आसन करें।

४. आहार—हलका एवं सात्त्विक भोजन करें। दूध, घी, मक्खन, अन्न, हरा शाक, ऋतु के अनुकूल फल एवं मेवा आदि। कटु, तीक्ष्ण, मद्य, मांस, धूम्रपान आदि सर्वथा निषिद्ध हैं। भोजन आसनों के आधा या एक घंटा बाद लें। भोजन के पश्चात् ३-४ घण्टे तक आसन न करें।

५. स्नान—सामान्यतया स्नान के बाद आसन करें। यदि स्नान बाद में करना हो तो आसनों के आधा घण्टा बाद करें।

६. आयु—१२ वर्ष की आयु के बाद बालक आसनों का अभ्यास कर सकते हैं। इससे पूर्व २-४ फुटकर आसन कर सकते हैं। १६ वर्ष के बाद कठिन आसन कर सकते हैं। वृद्ध व्यक्ति सरल आसन ही करें। रोगावस्था में, ऋतुकाल आदि में आसन न करें। रोगावस्था में रोगोपचार-सम्बन्धी आसन ही करें। अन्य व्यायाम योगासन से पूर्व या उसके बाद ही करें।

७. सामान्यतया योगासनों का यह क्रम रखें। पहले ध्यान वाले आसन, फिर खड़े होकर करने वाले आसन, तत्पश्चात् बैठकर करने वाले आसन, फिर पीठ के बल लेटकर करने वाले आसन, फिर पेट के बल लेटकर करने वाले आसन, अन्त में शीर्षासन और उसके पश्चात् शवासन। कुछ विद्वान् शीर्षासन को सबसे पहले करन के पक्षधर हैं।

८. अपने शरीर की क्षमता के अनुसार ही १५, २० मिनट या आधा घण्टा आसन करें। प्रारम्भ में २-४ आसन ही करें। क्रमशः आसनों की संख्या और समय बढ़ाते जाएँ।

९. आसन करने से पूर्व भूमि पर दरी या चादर आदि बिछा लें। जाड़े में कम्बल या ऊनी शाल आदि।

१०. योगासनों के लिए आवश्यक है कि नियमित रूप से करें। कभी छोड़ना, कभी करना, इससे आसनों का लाभ नहीं मिलेगा। आवश्यकतानुसार समय और आसनों की संख्या कम कर सकते हैं। शीघ्र सफलता के लिए श्रद्धा और विधिपूर्वक अधिक समय तक आसन करने का क्रम चालू रखें।

११. योगासन साधना है। इसे तन्मयता और शान्ति से करें। शीघ्रता या जल्दबाजी न करें। कोई भी आसन झटके से न करें। इससे हानि संभव है।

१२. योगासनों की समाप्ति पर शवासन १ या २ मिनट अवश्य करें।

१३. आसनों की विशेष सफलता के लिए विचार-शुद्धि आवश्यक है। धार्मिक पुस्तकों का पठन सहायक है। विचारशुद्धि से मनोबल बढ़ता है।

१४. ध्यान वाले आसनों को करते समय आज्ञाचक्र या सहस्रार चक्र में ध्यान केन्द्रित करें। वहाँ 'ओम्' या ॐ को प्रतीक के रूप में रखें। प्रकाश-दर्शन तक यह विधि करें, बाद में ज्योति पर ध्यान केन्द्रित करें।

सामान्य निर्देश

सभी आसनों के विषय में इन नियमों का ध्यान रखें—

१. आसन शान्त और स्वस्थ चित्त होकर करें। तन्मयता आवश्यक है। बीच में कोई अन्य कार्य न करें।

२. प्रत्येक आसन के प्रारम्भ में सांस भर कर क्रिया प्रारम्भ करें। सांस रोके हुए ही आसन पूरा करें। आसन पूरा होते ही धीरे-धीरे सांस छोड़ दें। अधिक समय वाले आसनों में बीच में सांस छोड़कर फिर सांस भर लें। पश्चिमोत्तान आसन और नौलि आदि क्रियाएँ सांस बाहर निकालकर ही की जाती हैं।

३. कोई भी आसन झटके से न करें।

४. आसनों की समाप्ति पर शवासन अवश्य करें।

प्रमुख आसन और उनकी विधि

(क) ध्यान-हेतु उपयोगी आसन

१. सिद्धासन

यह सिद्ध पुरुषों द्वारा अपनाया गया और सिद्धि देने वाला आसन माना गया है। इसका बहुत गुणगान है। यह सरल आसन है। १५ मिनट या आधा घण्टा इस आसन में बैठने का अभ्यास करें।

विशेष—सभी ध्यान वाले आसनों के विषय में आवश्यक है कि 'सम-पृष्ठ- शिरो-ग्रीवः' पीठ, सिर और गर्दन एक सीध में रहें। सिर से लेकर नीचे

तक रीढ़ की हड्डी सीधी रहे, न झुकी हो और न मुड़ी हो। इससे ज्ञान-तंतुओं का प्रवाह अबाध गति से होता है।

विधि—सीधे बैठकर बायां पैर मोड़कर सीवनी (गुदा और मूत्रेन्द्रिय के बीच का कोमल स्थान) में लगावें। फिर दायां पैर मोड़कर बाएँ पैर के ऊपर रखें। मूत्रेन्द्रिय को बचाकर रखें, उस पर दबाव न पड़े। दोनों हाथ घुटनों पर सीधा रखें। ज्ञानमुद्रा लगावें, अर्थात् तर्जनी अंगुलि को अंगूठे के मूल में लगावें। शेष तीन अंगुलियों को सीधा खुला रखें। शरीर सामान्य स्थिति में रखें, अकड़न न हो। आँखें बन्द करके भ्रूमध्य में ध्यान केन्द्रित करें। इस आसन में दायें पैर को नीचे और बायें पैर को ऊपर रखकर भी कर सकते हैं।

लाभ—इस आसन से मन स्थिर होता है। काम-भावना रुकती है। सुषुम्ना का मार्ग खुलने लगता है। प्राण और वीर्य की गति ऊपर की ओर होती है।

२. पद्मासन

पद्म का अर्थ कमल है। इस आसन में पैरों के तलवे कमलपत्र के तुल्य दिखाई देते हैं।

विधि—दाहिने हाथ से दाहिना पैर उठाकर बाएँ पैर की जंघा पर रखें। इसी प्रकार बायाँ पैर बायें हाथ से उठाकर दाहिनी जंघा पर रखें। घुटने भूमि पर टिके रहें। मेरुदण्ड को सीधा रखें।

दोनों हाथों को अंजलि बनाकर (बायाँ हाथ नीचे, दाहिना ऊपर) नाभि के पास, एड़ियों के ऊपर रखें। भ्रूमध्य में या नासिका के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि स्थिर करें। हाथों को घुटनों पर ज्ञानमुद्रा की स्थिति में भी रख सकते हैं।

यह आसन कुछ कठिन है। जिन्होंने बचपन से इसका अभ्यास किया है, वे ही इसको सरलता से कर सकते हैं, अन्य नहीं।

इसको भी पैर बदलकर कर सकते हैं, अर्थात् पहले बायाँ पैर दाहिनी जंघा पर रखें और बाद में दाहिना पैर बाईं जंघा पर।

लाभ—इसका हठयोग में बहुत गुणगान है। इससे मन की चंचलता दूर होती है। ध्यान-समाधि के लिए अत्युत्तम आसन है। इससे मानसिक शान्ति मिलती है। शरीर में चुस्ती रहती है। बौद्धिक काम करने वालों के लिए बहुत उपयोगी है।

३. स्वस्तिक आसन

इस आसन में पैरों की आकृति स्वस्तिक चिह्न जैसी बन जाती है, अतः इसे स्वस्तिक आसन कहते हैं।

विधि—पहले सीधा बैठिए। दाहिने पैर को हाथ से उठाकर बाएँ पैर के जाँघ और पिंडली के बीच में लगाइए। फिर बाएँ हाथ की सहायता से बाएँ पैर को दाहिने पैर की जाँघ और पिंडली के बीच में फँसाकर स्थिर कीजिए। यह स्वस्तिक आसन हुआ। इसमें दोनों पैरों के पंजों को दोनों पैरों की जाँघ और पिंडली के बीच में फँसाना होता है।

दोनों हाथ सिद्धासन के तुल्य घुटनों पर रखें और ज्ञानमुद्रा लगावें। आँखें बन्द करके भ्रूमध्य में ध्यान लगावें।

लाभ—यह आसन सरल है। इसमें बहुत देर तक आसानी से ध्यानावस्था में बैठा जा सकता है। यह प्राणायाम, धारणा, ध्यान के लिए उत्तम आसन है। मन को शान्ति मिलती है। इससे शीघ्र योग-सिद्धि होती है।

४. सुखासन

इस आसन में अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकते हैं, अतः इसे सुखासन कहते हैं। यह पालथी मारकर बैठने के तुल्य ही है।

विधि—पहले सीधा बैठिए। बाएँ पैर की एड़ी को अंडकोश के दाहिनी ओर रखें। फिर दाहिने पैर को बाएँ पैर के ऊपर इस प्रकार रखें कि वह अंडकोश के बाईं ओर रहे। दोनों हाथ की अंगुलियों को परस्पर फंसाकर नाभि के पास रखें। शरीर को सीधा रखें।

लाभ—यह सरल आसन है। इसमें सरलता से धारणा, ध्यान, भजन-कीर्तन आदि किया जा सकता है। इससे इन्द्रियों और मन की थकान दूर होती है। श्वास की गति सम रहती है।

५. वज्रासन

विधि—पहले सीधा बैठिए। फिर थोड़ा उठकर बाएं और दाएं पैर को क्रमशः घुटने से पीछे की ओर मोड़ें। पैर के पंजे पीछे फैले हुए हों। दोनों एड़ियों के मध्य ८-१० अंगुल का अन्तर हो। दोनों एड़ियां बाहर की ओर निकली हों। पैर का तलवा ऊपर की ओर रहेगा। इस पर इस प्रकार बैठिए कि आपके नितम्ब (चूतड़) भूमि तक पहुंच जाएं। सीधे तनकर बैठें। हाथ और अंगुलियाँ दोनों घुटनों पर रखें। आँख बन्द कर भ्रूमध्य में दृष्टि जमावें। मुसलमान इसी आसन पर बैठकर नमाज पढ़ते हैं। यह आसन बैठने और ध्यान आदि के लिए उपयोगी है। इस आसन पर सीधा बैठने से स्वयं सिर, ग्रीवा और पीठ एक सीध में हो जाते हैं।

लाभ—यह ध्यान के लिए उत्तम आसन है। इस आसन पर बैठकर भस्त्रिका, सूर्यभेदी, कुंभक-रेचक आदि प्राणायाम करने से शीघ्र सफलता मिलती है। कुंडलिनी-जागरण में सहायक है। केवल यही आसन है जो भोजन के

पश्चात् तुरन्त किया जा सकता है। भोजन के बाद १०-१५ मिनट इस आसन पर बैठने से भोजन सरलता से पचता है। घुटनों का दर्द इससे ठीक होता है।

(ख) खड़े होकर किए जाने वाले आसन

६. ताड़ासन

इसमें ताड़ के पेड़ की तरह सीधा खड़ा रहना होता है, अतः इसे ताडासन कहते हैं।

विधि—पहले सावधान अवस्था में सीधे खड़े हो जाइए। साँस भरिए। हाथों को सामने से धीरे-धीरे ऊपर ले जाइए। हाथ ऊपर खींचे रखें। पैरों की एड़ियाँ ऊपर उठावें। पंजों के सहारे रुकने का प्रयत्न करें। फिर धीरे-धीरे हाथ नीचे लावें। अब सांस छोड़ दें। तीन या पाँच बार कीजिए।

लाभ—यह आसन लम्बाई बढ़ाने में सहायक है। लम्बा साँस लेने से फुप्फुस दृढ़ और विस्तृत होते हैं। सीना पुष्ट होता है। श्वसन-संस्थान सक्रिय होता है। दमा के रोगियों के लिए लाभप्रद है।

७. कोणासन (त्रिकोणासन)

इस आसन को करने से त्रिकोण बनता है, अतः इसे कोणासन या त्रिकोणासन कहते हैं।

विधि—पहले सीधे खड़े हों। दोनों पैरों को पूरा खोलें। लगभग दो फीट का अन्तर हो। दोनों हाथ बगल से उठावें। कन्धे के बराबर करके रुकें। साँस भरें। अब दाईं ओर बगल से इतना झुकें कि टखने हाथ से छू सकें। बायाँ हाथ ऊपर सीधा रहे। अब धीरे-धीरे दोनों हाथ खोले हुए सीधे खड़े हो जाएँ। साँस छोड़ें। फिर साँस भरकर पूर्ववत् बाईं ओर पूरा झुकें। हाथ टखने छू सकें। दायां हाथ सीधा खड़ा रहेगा। अब धीरे-धीरे सीधे खड़े हो जाएं। दोनों हाथ खुले रहेंगे। सांस छोड़ें। इसी प्रकार ३ या ५ बार करें।

लाभ—इससे पसलियाँ पुष्ट होती हैं। पसलियों आदि का दर्द ठीक होता है। पेड़ू में स्थित सभी अंग सक्रिय होते हैं। रीढ़ की मांसपेशियाँ सबल होती हैं। सारे शरीर में रक्त-भ्रमण ठीक ढंग से होता है। कमर, पीठ, गर्दन और भुजाएं बलिष्ठ होती हैं। पसलियों की चर्बी कम होती है। जिगर, गुर्दे, पैनक्रियाज़ और बड़ी आंत सक्रिय होती हैं।

८. पाद-हस्तासन (उत्थित पश्चिमोत्तान)

यह खड़े होकर पश्चिमोत्तान आसन है। इसमें हाथ से पैरों के अंगूठे को पकड़ना होता है, अतः इसे पाद-हस्तासन कहते हैं।

विधि—सीधे खड़े हो जाइए। साँस भरिये। दोनों हाथों को कड़ा रखते हुए आगे झुकिए। नीचे झुककर दोनों हाथों की अंगुलियों से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़ने का प्रयत्न कीजिए। धीरे-धीरे प्रयत्न करने पर हाथ अंगूठे तक पहुँच जाएगा। फिर प्रयत्न कीजिए कि सिर घुटने से लग जाए। ध्यान रहे कि पाँव सीधे रहें, घुटने मुड़े नहीं। बीच में साँस बदलते रहें। ३ या ५ बार करें।

इस आसन के कई भेद हैं। सुविधानुसार उनका अभ्यास करें। जैसे—१. दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा पकड़ना। २. दाहिने हाथ से बाएं पैर का अंगूठा पकड़ना। इसी प्रकार बाएं हाथ से क्रमशः दोनों पैरों के अंगूठे पकड़ना। अभ्यास पुष्ट होने पर दोनों हाथों को भूमि पर रखना।

लाभ—इस आसन से कमर, रीढ़ की हड्डी आदि के स्नायु खिंचते हैं, अतः वे पुष्ट होते हैं और उनके रोग दूर होते हैं। जिगर और तिल्ली निर्दोष होते हैं। पेट और आंतों की शुद्धि होती है। पेट की चर्बी कम होती है, जठराग्नि बढ़ती है, भूख बढ़ती है, अजीर्ण (कब्ज) दूर होता है। पेट के कीड़े नष्ट होते हैं। इससे सुषुम्ना नाड़ी शुद्ध होती है और उसका बल बढ़ जाता है।

(ग) बैठकर किए जाने वाले आसन

९. पश्चिमोत्तान आसन

पश्चिम का अर्थ है—पिछला भाग या पीठ। इस आसन में पीठ की नसें खिंचती हैं और पीठ पर तनाव पड़ता है, अतः इसे पश्चिमोत्तान आसन कहते हैं। यह अतिविशिष्ट आसनों में से एक है। इस आसन से पेट और पीठ पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

विधि—पहले सीधे बैठें। फिर पैरों को आगे फैलावें। पैर मिले हुए हों। घुटने न मुड़ें। यह आसन साँस बाहर निकालते हुए होता है। दोनों हाथों को आगे फैलावें। झुकते हुए आगे हाथ से दोनों पैर के अंगूठे पकड़ने का प्रयत्न करें। हाथ वहाँ तक न पहुँचें तो जहाँ तक पहुँचें, वहीं रुक जाएं और सिर झुकाकर घुटने से मिलाने का प्रयत्न करें। कुछ दिनों के प्रयत्न से धीरे-धीरे पैर के अंगूठे पकड़ में आ जाएंगे और सिर भी घुटने से मिलने लगेगा। अभ्यास बढ़ने पर हाथ अंगूठे से भी आगे चले जाएंगे। सिर भी दोनों घुटनों के बीच से भूमि पर टिकने लगेगा। छोटी आयु में इस आसन का अभ्यास बहुत सरलता से हो जाता है। धीरे-धीरे साँस भरते हुए इस आसन को समाप्त करें और सीधे बैठ जाएं। इस आसन को तीन या पाँच बार करें। अन्य आसन साँस भरकर किए जाते हैं। यह साँस छोड़ते हुए किया जाता है।

इस आसन के कई भेद हैं। जैसे—जानुशिरासन आदि। दोनों पैर की जगह एक पैर फैलावें। दूसरे पैर को घुटने से मोड़कर सीवनी पर लगावें। दोनों हाथ से एक पैर के पंजे पकड़ें। पैर बदलकर दोनों पैर से अलग-अलग इसे करें।

लाभ—इससे रीढ़ में लोच आती है। रीढ़ का संतुलन ठीक होता है। घुटनों का दर्द, साइटिका (Sciatica), बवासीर आदि रोग दूर होते हैं। सुषुम्ना का द्वार खुलने में सहायता मिलती है। पेट की ग्रन्थियों के स्राव सुचारु रूप से निकलते हैं। पेट के सभी रोग अजीर्ण आदि ठीक होते हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होती है, भूख बढ़ती है। पेट की चर्बी घटती है।

१०. जानुशिरासन

यह पश्चिमोत्तान आसन का ही एक भेद है। इसमें जानु अर्थात् घुटने पर सिर लगाया जाता है, अतः इसे जानुशिरासन कहते हैं।

विधि—पश्चिमोत्तान की तरह ही सीधे बैठें, दोनों पैर आगे फैलावें। एक पैर का घुटना मोड़कर उसकी एड़ी सीवनी (मलद्वार के ऊपर जोड़) पर लगावें। साँस छोड़ते हुए आगे झुककर दोनों हाथों से फैले हुए पैर का पंजा पकड़ें और सिर घुटने पर लगावें। साँस लेते हुए सीधे हो जाइए। इसी प्रकार दूसरे पैर की एड़ी सीवनी पर लगावें और फैले हुए पैर का पंजा पकड़ें। इस प्रकार क्रमश दोनों पैरों से करें। ३ या ५ बार करें।

लाभ—पश्चिमोत्तान वाले सभी लाभ इससे भी होते हैं। रीढ़ में लोच आती है। वीर्य सम्बन्धी दोष दूर होते हैं। साइटिका रोग ठीक होता है। वायुप्रकोप, मूत्र रुकना, आँतों की गर्मी, मधुमेह आदि रोग दूर होते हैं। सिर भारी होना, आँखों में जलन, भूख न लगना, पेट दर्द, नाभि टलना आदि रोगों में भी लाभप्रद है।

(घ) पीठ के बल लेटकर किए जाने वाले आसन

११. उत्तानपाद आसन

इस आसन में पैरों को ऊपर उठाकर खींचे हुए रखना होता है, अतः इसे उत्तानपाद कहते हैं।

विधि—पहले आसन पर पीठ के बल लेट जाइए। हाथ बगल में रखें या मोड़कर छाती पर रखें। साँस भरें। पैरों को मिलाकर रखें और उन्हें आगे की ओर ताने रहें। पैरों को धीरे-धीरे उठाते हुए ३० डिग्री पर ले जाकर रोक लें। जितनी देर रोक सकते हों, रोकें। फिर धीरे-धीरे नीचे लावें और साँस छोड़ दें। इसे ३ या ५ बार करें। अभ्यास बढ़ने पर पैरों को ४५ डिग्री और ६० डिग्री पर भी रोकने का अभ्यास करें।

लाभ—यह नाभि-टलना (नाभि उतरना) में विशेष लाभप्रद है। यह आसन पेट के रोगों के लिए उत्तम है। पेट फूलना, अपच, वायुगोला और कटिपीड़ा को दूर करता है। जिगर और क्लोम (पैंक्रियाज़) की गड़बड़ी को ठीक करता है।

१२. नौकासन

इस आसन में सिर और पैर दोनों उठाते है। केवल कटिभाग भूमि पर रहता है। इससे नौका की सी आकृति बनती है, अतः इसे नौकासन कहते हैं।

विधि—पहले सीधे पीठ के बल लेट जाएँ। साँस भरें। पैरों को मिलाकर रखें। दोनों हाथ मोड़कर थाती पर रखें। फिर धीरे-धीरे दोनों पैरों और सिर को उठाना प्रारम्भ करें और ३० डिग्री पर लाकर रोक दें। शरीर दोनों ओर से उठेगा, पैर खिंचे रहेंगे। फिर धीरे-धीरे सिर और पैर नीचे लावें। साँस छोड़ें। यह आसन ३ या ५ बार करें।

लाभ—कमर और पीठ के स्नायुओं का संकोच-विकास होने से स्वास्थ्य ठीक रहता है। कमर दर्द दूर करने में सहायक है। मधुमेह के लिए भी हितकर है। आँतों को पुष्ट करता है।

१३. पवनमुक्तासन

इस आसन के करने से पवन (अपान वायु) बाहर निकल जाती है, अतः इसे पवन-मुक्तासन कहते हैं।

विधि—पीठ के बल लेट जावें। साँस भरकर दाहिने पैर के घुटने को मोड़ें। छाती पर लाकर दोनों हाथों से घुटने को दबाइए जिससे पेट दब सके। साथ ही सिर को आगे झुकाकर घुटने से मिलायें। सांस छोड़कर घुटने और पैर से पेट दबाइए। इससे पेट में जमा दूषित अपान वायु निकलेगी और पेट साफ होगा। सिर और हाथ हटाकर सामान्य स्थिति में पीठ के बल लेटें। यह एक चक्र हुआ।

इसी प्रकार साँस भरकर बायाँ घुटना मोड़कर छाती पर ले जावें। सिर मिलाकर पेट पर दबाव डालें। इसके बाद दोनों पैरों के घुटने मोड़कर छाती पर लावें और सिर मिलाकर पूर्ववत् पेट पर दबाव डालें। यह ३-३ बार करें। जिनके पेट में गैस अधिक बनती है, उनके लिए बहुत लाभप्रद है।

लाभ—इससे बड़ी आँत पर दबाव पड़ता है और अपान वायु बाहर निकल जाती है। गैस बनना, कब्ज, अम्लपित्त, अफारा आदि दोष दूर होते हैं। पेट की बढ़ी हुई चर्बी को कम करता है। अग्न्याशय (Pancreas) को सक्रिय करता है। हृदय रोगों में भी लाभप्रद है।

१४. पादोत्तान आसन

इसमें पैरों को उठाकर ९० डिग्री पर रखकर तानकर रखना होताहै, अतः इसे पादोत्तान आसन कहते हैं।

विधि—पीठ के बल लेट जाएँ। पैर फैला लें। हाथ बगल में रखें। अब साँस भरकर दायाँ पैर और बायाँ हाथ ऊपर उठाकर ९० डिग्री के कोण पर ले जावें। हाथ के पंजे और पैर की अंगुलिया तनी रहें। फिर धीरे-धीरे हाथ-पैर नीचे लाकर साँस छोड़ें। दूसरी बार में साँस भरकर पूर्ववत् बायाँ पैर और दायाँ हाथ ऊपर ९० डिग्री के कोण पर ले जावें। हाथ और पैर तने रहें। फिर धीरे-धीरे हाथ-पैर नीचे लाकर साँस छोड़ें। यह क्रिया ३ या ५ बार करें।

तीसरी बार में साँस भरकर दोनों हाथ और दोनों पैर पूर्ववत् ऊपर ९० डिग्री के कोण पर ले जावें। फिर धीरे-धीरे हाथ-पैर नीचे लावें, साँस छोड़ें। इस आसन में हाथ-पैर जितने तने रहेंगे, उतना अधिक लाभ होगा।

लाभ—यह आसन कई रोगों पर विशेष लाभप्रद है। यह हर्निया (Hernia, आँत नीचे उतरना) रोग को ठीक करता है। साइटिका (Sciatica) रोग में भी लाभप्रद है। पुराना कब्ज दूर होता है और जठराग्नि तेज होती है। नाभि टलने की बीमारी ठीक होती है। हाथ और पैर के तनाव से कंधे, जंघा, नितम्ब आदि पुष्ट होते हैं। महिलाओं के मासिक धर्म को नियमित करता है।

१५. सर्वांग आसन

इस आसन में शरीर के सभी अंगों का व्यायाम हो जाता है, अतः इसे सर्वांग आसन कहते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ आसनों में से एक है।

विधि—पहले पीठ के बल आसन पर लेट जाएँ। पैर और पंजा कड़ा रखें। सांस भरें। साँस भरकर धीरे-धीरे पैरों को ऊपर उठाते हुए ९० डिग्री के कोण पर ले जाकर रोकें। साँस छोड़ें। साँस दुबारा भरकर हाथ का सहारा लेते हुए पीठ और पैर को ऊपर ९० डिग्री के कोण पर ले जावें। पैर तने रहें। हाथ पीठ पर रखकर सहारा दें। फिर साँस छोड़ दें। थोड़ी देर रुकें। ठोड़ी छाती पर लगी रहे। सारे शरीर का भार कंधों पर हो। कंधे से पैर के पंजे तक ९० डिग्री का कोण बने। दो मिनट रुकें। आँखें बन्द रखें। फिर साँस भरकर पैरों को थोड़ा पीछे की ओर मोड़कर धीरे-धीरे पीठ के बल नीचे आवें। थोड़ा रुकते हुए पैरों को धीरे-धीरे नीचे भूमि पर लावें और साँस छोड़ें। इसके बाद एक या दो मिनट शवासन करें।

इस आसन के कई उपभेद हैं। सर्वांग के बाद पैर सीधे पीछे ले जाकर भूमि पर टिकने पर हलासन, उसके बाद पैरों को मोड़कर कान के दोनों ओर

लगाने पर कर्णपीड आसन होता है। फिर उसी प्रकार पैर सीधा करना, फिर सर्वांग की स्थिति में आना और पूर्ववत् नीचे आना।

लाभ—नाम के अनुसार यह आसन सारे अंगों को पुष्ट करता है। विशेष रूप से गलग्रन्थि (Thyroid Gland) पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। इस आसन के करने से गलग्रन्थि से प्रचुर मात्रा में रस निकलता है और वह रक्त में मिल जाता है। यह रस श्वेतकणों को स्वस्थ रखता है और उनकी वृद्धि करता है, जिससे अनेक घातक रोगों को रोकने में वह समर्थ होता है। स्त्रियों की मासिक धर्म की गड़बड़ी ठीक होती है। हर्निया ठीक होता है। रक्तचाप में कमी आती है। नेत्र-ज्योति की वृद्धि होती है, पाचन-संस्थान ठीक होता है। मृगी रोग के लिए यह विशेष लाभप्रद है। पैराथायराइड ग्रन्थियों को भी यह प्रभावित करता है। इनसे उत्पन्न रस शरीर में उत्पन्न विष को निष्क्रिय करता है, अत: मृगी रोग नहीं होने पाता।

जिन साधकों को शीर्षासन अनुकूल नहीं पड़ता है। उन्हें सर्वांग आसन ही करना चाहिए।

१६. हलासन

यह पूर्ण सर्वांग आसन का ही एकभाग है। इस आसन को करते समय शरीर हल की आकृति का हो जाता है, अत: इसे हलासन कहते हैं।

विधि—पहले पीठ के बल लेटें। साँस भरें। दोनों पैर मिलाकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाते हुए सिर के पीछे ले जाकर सीधा रखते हुए पैर के पंजे भूमि पर लगा दें। घुटने न मुड़ें। हाथ पैर के पंजों की ओर फैला दें। साँस छोड़ें। फिर साँस भरकर धीरे-धीरे पैर उठाते हुए भूमि पर आ जावें। साँस छोड़ें।

लाभ—हलासन से मेरुदण्ड लचकीला होता है। रीढ़ की हड्डी का लचकीला होना स्फूर्ति और उत्तम स्वास्थ्य का सूचक है। इस आसन से अजीर्ण, पेट में गैस बनना, यकृत् और तिल्ली की वृद्धि आदि रोग दूर होते हैं। यह मधुमेह में लाभकर है, क्योंकि अग्न्याशय पर प्रभाव पड़ने से इन्सुलिन (Insulin) का निर्माण होता है। इससे रुधिर-शुद्धि होती है। जठराग्नि और भूख बढ़ती है। मोटापा और बाँझपन को दूर करता है।

१७. विपरीतकरणी आसन

शीर्षासन और सर्वांग के तुल्य इसमें शरीर उलटा हो जाता है, अत: इसे विपरीतकरणी (उलटा करना) कहते हैं। योग की महत्त्वपूर्ण मुद्राओं में यह भी एक है।

विधि—सर्वांग आसन के तुल्य इसमें भी सारे काम वही होंगे। केवल अन्तर यह है कि सर्वांग आसन में सिर को छोड़कर सारा शरीर उलटा हो जाता है, इसमें कन्धा और पीठ का ऊपरी भाग भूमि से लगा रहेगा। इस आसन को करते समय पैर उठाते हुए ऊपर ले जाते हैं और कूल्हें पर हाथ लगाकर कटिभाग और पैर को रोके रखते हैं। इसमें कन्धे से पैर तक का ९० डिग्री का कोण बनने के स्थान पर ७० या ७५ डिग्री का कोण बनता है। दो या तीन मिनट करें।

लाभ—सर्वांग आसन वाले सारे लाभ इससे भी होते हैं।

(ङ) पेट के बल लेटकर किए जाने वाले आसन

१८. नौकासन

इस आसन में पेट के बल लेटकर पैरों को ऊपर उठाने से नौका की-सी आकृति बनती है, अत: इसे नौकासन कहते हैं।

विधि—पेट के बल लेट जाएँ, हाथों को सिर की ओर पूरा फैला दें। साँस भरें। पीछे की ओर से पैरों को ऊपर उठावें और आगे से हाथों को। शरीर का पूरा भार नाभि पर डालें। पूरे आसन में हाथ और पैर दोनों तने रहें, ढीला न छोड़ें। नौका की-सी आकृति बन जाएगी। धीरे-धीरे साँस छोड़ें। दो-तीन बार करें।

लाभ—इससे नाभि का केन्द्र पुष्ट होता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। क्लोमग्रन्थि (Pancreas) पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। मोटापा घटता है। अजीर्ण दूर होता है। उदर-विकार समाप्त होते हैं।

१९. भुजंगासन

इस आसन में सिर उठाने से फन उठाए भुजंग (साँप) जैसी आकृति बनती है, अत: इसे भुजंग आसन कहते हैं।

विधि—पेट के बल आसन पर लेट जाएँ। दोनों पैरों की एड़ियों और पंजों को मिलाकर तान दें। दोनों हाथों को कोहनी पर मोड़कर छाती के दोनों ओर सटाकर रखें। हाथ के पंजे आगे तने रहेंगे। सिर पृथ्वी पर लगा रहेगा। साँस भरें। सिर को धीरे-धीरे ऊपर उठावें और इतना पीछे ले जावें कि सिर का पिछला भाग रीढ़ से लग जावे। आगे से शरीर को भी नाभि तक ऊपर उठावें। थोड़ा रुककर धीरे-धीरे सिर और शरीर के अग्रभाग को नीचे लाकर साँस छोड़ दें। पहले धड़ नीचे आएगा, फिर सिर। दो या तीन बार करें।

लाभ—इस आसन से मेरुदण्ड पीछे की ओर मुड़ने से उसमें लचकीलापन आता है। सभी कशेरुओं में अधिक रक्तसंचार होने वे सक्रिय और स्वस्थ होते हैं। कटिपीड़ा, पेट में गैस बनना, स्त्री रोगों में लाभप्रद है। एड्रिनल

ग्रन्थि (Adrenal gland) का स्राव प्रचुर मात्रा में बहने से स्फूर्ति और शक्ति आती है। गुर्दों की शक्ति बढ़ती है। मूत्र-निर्माण ठीक ढंग से होता है। धातुरोग ठीक होते हैं। स्त्रियों की बच्चेदानी ठीक स्थान पर आती है। मासिक धर्म ठीक ढंग से होता है। मधुमेह, खाँसी, दमा और पेट के रोगों में लाभप्रद है।

२०. शलभासन

शलभ का अर्थ टिड्डी है। इस आसन में शरीर का पिछला भाग उठा रहता है और टिड्डी की तरह आकृति हो जाती है, अत: इसे शलभासन कहते हैं।

विधि—पेट के बल आसन पर लेट जावें। मुँह-ठोड़ी भूमि पर लगे रहें। दोनों हाथ कमर के बगल में सीधे रखें। हथेली का पृष्ठभाग ऊपर की ओर रहे। पैर-पंजे मिले रहें, तने रहें। पूरा साँस भरकर हाथ और छाती पर भार डालते हुए नाभि से पिछला भाग धीरे-धीरे जितना ऊपर उठा सकते हों, उठावें। थोड़ी देर इस स्थिति में रहकर धीरे-धीरे नीचे आवें और साँस छोड़ें। इसे दो या तीन बार करें।

लाभ—इस आसन का कटिभाग पर विशेष प्रभाव पड़ता है, अत: किडनी (Kidney) के दोष दूर होते हैं। फेफड़ों पर अधिक दबाव पड़ने के कारण फेफड़ों में सक्रियता आती है। फेफड़ों को शक्तिशाली बनाने के लिए विशेष उपयोगी है। टाँगों को पुष्ट करता है, कटि-पीड़ा, मधुमेह, अजीर्ण, पेट में गैस बनना और स्त्री- रोगों में लाभप्रद है।

२१. धनुरासन

इस आसन में पैर मोड़कर दोनों हाथ से पैरों के टखने पकड़ने से धनुष की-सी आकृति बन जाती है, अत: इसे धनुरासन कहते हैं।

विधि—पेट के बल आसन पर लेटें। घुटने मोड़कर पीठ की ओर लावें। हाथों को पीछे मोड़कर पैरों के टखने पकड़ें। पैर मिले रहें। पूरा साँस भरकर सिर और शरीर का अगला भाग तथा नाभि से नीचे का भाग ऊपर उठावें। नाभिप्रदेश पर शरीर का सारा भार हो। सारा शरीर खिंचा हुआ हो। थोड़ी देर रुककर धीरे-धीरे नीचे आवें। साँस छोड़ दें। दो-तीन बार करें। फिर सामान्य स्थिति में आ जाएं। थोड़ा विश्राम करें।

लाभ—यह भुजंगासन और शलभासन का संमिलित रूप है, अत: इस दोनों आसनों के लाभ इस आसन से प्राप्त होते हैं, मेरुदंड में लचक आ जाती है। रीढ़ के नीचे के भाग का कड़ापन दूर होता है, पेडू की मांसपेशियाँ स्वस्थ होती हैं, महिलाओं के मासिक धर्म की अनियमितता दूर होती है। नाभि ठीक स्थान पर आती है। सारे शरीर की मांसपेशियाँ पुष्ट होती हैं। पाचन क्रिया ठीक होती

है। सभी ग्रन्थियाँ और स्नायुमण्डल में सक्रियता आती है। रक्तचाप भी ठीक होता है।

२२. मयूरासन

इस आसन में शरीर की स्थिति मयूर (मोर) के तुल्य हो जाती है, अतः इसे मयूर-आसन कहते हैं।

विधि—सीधा बैठिए। दोनों हाथ के पंजे उलटे रखें। दोनों हाथ की कोहनियाँ मिली रहें। सारे शरीर का भार कोहनियों पर डालते हुए आगे झुकें और कोहनियों के जोड़ पर नाभि वाला भाग रखें। साँस भरें और धीरे-धीरे शरीर का संतुलन बनाते हुए सिर और नाभि के नीचे का भाग ऊपर उठाइए। जब संतुलन ठीक बन जाए तब पैरों को पीछे की ओर खोलें। शरीर को सिर से पैर तक एक सीध में करें। थोड़ी देर रुकें। आवश्यकतानुसार साँस छोड़ें-बदलें। अभ्यास बढ़ जाने पर सिर और पैर को क्रमशः थोड़ा नीचे-ऊपर कर सकते हैं। अन्त में घुटनों को मोड़ें और भूमि पर टिकावें, फिर कोहनियाँ खोलें। इस आसन को करते हुए १ या २ मिनट रुकें। इसको एक बार करना ही पर्याप्त है।

यह कठिन आसन है। पहले मेज या तख्त के किनारे करने का अभ्यास करें। छोटी आयु में इसका अभ्यास सरलता से हो जाता है।

लाभ—मोर साँप को काटकर मार डालता है, उसपर विष का प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार इस आसन को करने से पाचन शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि विष भी हजम हो जाता है। यह आसन पाचन शक्ति को बढ़ाता है। यह आसन पेट के रोगों में विशेष लाभदायक है। गुर्दे, तिल्ली, जिगर, अग्न्याशय और आमाशय को लाभ पहुँचाता है। मधुमेह में भी लाभकारी है, भूख बढ़ती है। इससे फेफड़ों, पसलियों और हृदय को बल मिलता है।

(च) विविध आसन

२३. शीर्षासन

इस आसन में सारे शरीर को सिर के बल स्थिर करते हैं, अतः इसे शीर्षासन कहते हैं। यह आसनों में शीर्षस्थ है, अतः यह शीर्षासन कहा जाता है।

विधि—इस आसन में सिर के नीचे रखने के लिए चार तह किया हुआ मोटा तौलिया या कम्बल रखें। दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर फँसा कर गोलाकार बनाकर भूमि पर रखें। हाथ की कोहनियों को भी भूमि पर रखें। अब सिर के माथे वाले भाग को भूमि पर रखकर संतुलन बनाते हुए धीरे-धीरे ऊपर उठने का क्रम शुरू करें और कमर सीधी करें, पैर घुटने पर मुड़े हुए हों। साँस स्वाभाविक रूप से चलता रहे। संतुलन ठीक हो जाने पर धीरे-धीरे पैरों को पूरा

उठाकर पीठ के बल रुके रहें। प्रारम्भ में १०-१५ सेकेण्ड रुकें। फिर घुटने मोड़कर संभलकर धीरे-धीरे नीचे आवें। आरम्भ में २ मिनट का अभ्यास करें। फिर समय बढ़ाकर ५ मिनट तक कर सकते हैं। सामान्यतया २ या ३ मिनट शीर्षासन करना श्रेयस्कर है। घी-दूध-मेवा की व्यवस्था होने पर ५ मिनट तक करें। इससे अधिक देर तक करना हानिकारक भी हो जाता है, अतः ५ मिनट तक करना ही सामान्य नियम बनावें।

प्रारम्भ में सहायता के लिए कोई साथी रखें या दीवार के सहारे करें। अभ्यास हो जाने पर कहीं भी कर सकते हैं। इसको आसनों के अन्त में ही करें। शीर्षासन के बाद १ या २ मिनट सीधा खड़ा रहें और शरीर का रक्त-संचार सामान्य होने दें। बाद में शवासन अवश्य करें। शीर्षासन देर तक करने से हानि की भी संभावना रहती है। इस आसन में ये सावधानी बरतें—१. सिर का माथे वाले भाग ही भूमि पर लगे। २. झटके से कोई काम न करें, न झटके से ऊपर जावें और न झटके से नीचे आवें। ३. सम्पूर्ण क्रिया धीरे-धीरे करें। शरीर का संतुलन बनाए रखें। ४. आसन के समय आँखें बन्द रखें। ५. जिन लोगों को यह आसन अनुकूल नहीं पड़ता वे सर्वांग आसन ही करें। उसमें हानि की संभावना नहीं रहती।

लाभ—सर्वांग आसन के जो लाभ बताए गए हैं। वे सभी शीर्षासन के भी हैं। रक्त का संचार सिर की ओर होने से आँख, नाक, कान के विकार शान्त होते हैं। ज्ञानवाहक तन्तु पुष्ट होते हैं। मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है। स्मरणशक्ति, धारणा शक्ति और चिन्तन शक्ति बढ़ती है। मुख पर तेजस्विता आती है। पिट्यूटरी और पीनियल ग्रन्थियों की कार्यक्षमता बढ़ती है। देह में स्फूर्ति बनी रहती है। हर्निया, मृगी और सिरदर्द के रोगियों के लिए यह आसन लाभप्रद है।

२४. शवासन

इस आसन में शरीर को शव (मुर्दे) की तरह ढीला छोड़ दिया जाता है, अतः इसे शवासन कहते हैं। यह शरीर में नई स्फूर्ति लाता है। बच्चे से वृद्ध तक सभी इसे कर सकते हैं।

विधि—दरी या कम्बल पर पीठ के बल लेट जावें। दोनों पैरों के बीच लगभग १ फुट का अन्तर रहे, हाथ कमर के बगल में रखें। हथेली ऊपर की ओर हो। सारा शरीर पूर्णतया ढीला छोड़ दें। आँखें बन्द कर लें। शरीर में कोई चेष्टा न हो। मृतक के तुल्य निश्चेष्ट पड़े रहें। अब अपने मन को एकाग्र करके नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे शरीर का अवलोकन करें। पैरों पर ध्यान दें और देखें कि पैर की सब नसें ढीली हो गई हैं। इसी प्रकार धड़ और सिर को ढीला करें। फिर श्वास पर ध्यान दें। ध्यान से देखें कि श्वास अन्दर आ रहा है और फिर बाहर निकल रहा है। इसमें फेफड़ों में साँस आने और फिर फेफड़ों से बाहर जाने की

क्रिया का दर्शन करें। बाद में नासिका के अग्र भाग पर ध्यान केन्द्रित करें। देखें कि साँस लेने के समय शीतल वायु अन्दर जा रही है और साँस छोड़ते समय गर्म वायु निकल रही है। मन में और कोई भाव न आने दें। शवासन सब आसनों के बाद करें। यह दो मिनट से पाँच मिनट करें। मानसिक और शारीरिक थकान दूर करने के लिए इसे कभी भी २ से ५ मिनट कर सकते हैं।

लाभ—इसके अनेक लाभ हैं--

१. मांसपेशियाँ शिथिल होने से थकान उतर जाती है और शरीर तनावमुक्त होता है।

२. सारा नाड़ी-तंत्र व्यवस्थित होता है और मानसिक तनाव दूर होता है।

३. इससे पूरे शरीर में नवशक्ति और स्फूर्ति का संचार होता है।

४. मन की एकाग्रता से स्नायु-मंडल पर अत्यन्त शान्तिकारक प्रभाव पड़ता है।

५. मन को शान्त और अन्तर्मुखी बनाता है।

६. इससे उच्च रक्तचाप, अनिद्रा का रोग, मन का उदास रहना, मानसिक तनाव आदि रोग दूर होते हैं। शरीर को पूर्ण विश्राम मिलता है। मन को बहुत शान्ति मिलती है।

२. शुद्धि क्रियाएँ, षट्कर्म

योग-साधना के लिए आवश्यक है कि साधक का शरीर भी शुद्ध हो। इस शुद्धि के लिए हठप्रदीपिका (२.२२ से २.३७) और घेरण्ड संहिता (१.१२ से १.५९) में षट्कर्मों का विस्तार से वर्णन है। इसमें षट्कर्मों के नाम, विधि और लाभ का बहुत विस्तार सें विवेचन किया गया है। सारा प्रसंग प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक नहीं है, अतः इनमें से उपयोगी अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

ये षट्कर्म अर्थात् शारीरिक शुद्धि के लिए किए जाने वाले ६ कर्म (क्रियाएँ) हैं। इनके नाम हैं—१. धौति, २. बस्ति, ३. नेति, ४. त्राटक, ५. नौलिक (नौलि), ६. कपालभाति।

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते॥ हठ० २.२२

१. धौतिक्रिया

धौतिक्रिया का अर्थ है—शुद्धि क्रिया, धोना, साफ करना, मैल का निस्सारण, शरीर के अन्दर विद्यमान मल को बाहर निकालना धौतिक्रिया है। इसके कुछ भेद नीचे दिए जा रहे हैं—

(क) वमन धौति, कुंजल क्रिया, गजकरणी

वमन का अर्थ है—कै करना, खाए हुए पदार्थ को बाहर निकाल देना। कुंजल शब्द कुंजर के लिए है। कुंजल क्रिया का अर्थ है—हाथी जैसे सूंड से पानी पीकर उसे फिर बाहर निकाल देता है, उसी प्रकार खाए और पीए हुए पदार्थ को बाहर निकाल देना। इसको ही गजकरणी अर्थात् हाथी के तुल्य क्रिया करना कहते हैं। कुंजर और गज दोनों का अर्थ हाथी है। यह आमाशय की शुद्धि के लिए है।

विधि—प्रातः शौचादि से निवृत्त होकर ३-४ लीटर गुनगुना पानी तैयार करें। उसमें १ या २ चम्मच नमक मिला लें। ८-१० गिलास पानी एकसाथ पी जावें। जितना अधिक से अधिक संभव हो, उतना पानी पी लें। इसके पश्चात् कहीं नाली के समीप कमर तक झुककर खड़े हो जावें, बायाँ हाथ पेट पर रखें। दाएँ हाथ की दो अँगुलियाँ (तर्जनी और मध्यमा) गले में अधिकतम दूरी तक ले जाकर जीभ के पिछले भाग पर दबाव डालें। अंगुलियों से २-३ बार दबाव डालने पर अन्दर से कै की इच्छा होगी। अन्दर से अन्न-जल निकलना शुरू हो जाएगा। ३-४ बार ऐसा करने पर पेट का सारा मल निकल जाएगा। इसके बाद मुँह धो लें। इसके बाद आधा घण्टा तक कोई अन्न न लें। बाद में खिचड़ी लेना ठीक पड़ता है।

यह सप्ताह में एक बार कर लें। अपच होने पर या अपथ्य खाने पर जब पेट में कुछ गड़बड़ मालूम हो, इसे कर लें। इससे तबीयत ठीक हो जाएगी। इसे प्रतिदिन न करें। अभ्यास हो जाने पर गुनगुने के स्थान पर सादा पानी ले सकते हैं।

लाभ—इससे पेट की गड़बड़ी, भूख न लगना, अपच, मुँह का कड़वापन, पित्त का उपद्रव समाप्त होता है। पाचनक्रिया को ठीक रखता है।

(ख) वस्त्रधौति

यह किसी गुरु से विधिवत् सीखकर ही करें। इसके लिए २० फुट लम्बा और चार अंगुल चौड़ा मलमल का कपड़ा लिया जाता है। कपड़ा दोनों ओर सिला हो। गर्म जल में गीला करके निचोड़ लें। धीरे-धीरे कपड़े को मुँह में अन्दर डालते हैं। पहले २-३ फुट निगलने का अभ्यास डालें, फिर अधिक लम्बा। कपड़े का अन्तिम हिस्सा सदा पकड़कर रखें। ५-७ मिनट बाद धीरे-धीरे कपड़ा निकालें।

वस्त्र धौति यदि कहीं से कमजोर है तो टूट सकती है। वस्त्र धौति आवश्यक हो तभी करें, अन्यथा नहीं। कपड़ा अन्दर रह जाने पर संकट पैदा करता है, अतः इसका अभ्यास न करें।

(ग) दन्तधौति

दन्त धौति का अर्थ है—दन्तधावन, दाँतों को स्वच्छ करना। इसके लिए आवश्यक है कि प्रातः नीम या बबूल आदि की दातून को अच्छे प्रकार से

चबाकर कूंची-सी बना लें और उससे दाँतों को स्वच्छ करें। आयुर्वेदिक दन्त-मंजन का भी उपयोग कर सकते हैं। अन्य पेस्ट या पाउडर आदि उतने लाभप्रद नहीं है।

(घ) नेत्र धौति

आँखों को स्वच्छ रखना नेत्र-धौति है। नेत्र ईश्वरीय वरदान हैं। इनको स्वच्छ रखने के लिए ये प्रयोग उपयोगी हैं :—

१. नेत्र को स्वच्छ रखने के लिए Eye wash glass खरीद लें। (ये भारतीय योग संस्थान, शालीमार बाग, दिल्ली से प्राप्य हैं)। गुलाबी फिटकिरी का ५० या १०० ग्राम का डला भी बाजार से ले लें। एक डिब्बे या गिलास में पानी रख लें। Eye wash glass को रखकर लाल फिटकिरी पर हाथ से थोड़ा-थोड़ा पानी पतली धार से डालें। जब ग्लास भर जावे तो दाहिनी आँख धोने के लिए बाईं आँख बाएँ हाथ की अंगुलि से बन्द कर लें और थोड़ा आगे झुककर आई-ग्लास में दाईं आँख खुली हुई डाल दें। उस ग्लास के पानी में ८-१० बार आँख खोलें और बन्द करें। तत्पश्चात् उस पानी को फेंक दे। फिर आई-ग्लास में दुबारा पूर्ववत् पानी भर लें। अब बाईं आँख धोने के लिए दाईं आँख दाएँ हाथ की अँगुलि से बन्द कर लें और आई-ग्लास के पानी में बाईं आँख डालें। पूर्ववत् ८-१० बार आँख खोलें और बन्द करें। इस प्रकार प्रतिदिन नेत्रधौति करें। यह आँखों के लिए अत्युत्तम ओषधि है। इसे आजीवन कोई नेत्ररोग नहीं होगा। यदि कोई नेत्ररोग प्रारम्भ हुआ है तो वह भी ठीक हो जाता है। छोटी आयु से यह प्रक्रिया करने पर नेत्ररोग नहीं होते। यह दिन में केवल एक बार प्रात:काल करें। आवश्यक होने पर सबेरे-शाम दो बार कर सकते हैं।

२. स्नान करते समय स्नान से पूर्व मुँह में पानी भर लें और थोड़ा झुककर भरी बाल्टी में अपना मुँह डाल दें। ४-५ बार आँख खोलें और बन्द करें। सिर उठाकर मुँह का पानी निकाल दें। फिर यही विधि दो या तीन बार करें। इसमें एक या डेढ़ मिनट लगेगा। शुद्ध, स्वच्छ और ठंडा पानी आँखों को ठंडक देता है और आँख के दोष नष्ट कर देता है। यह अभ्यास ठंडे पानी से ही करें। भूलकर भी गर्म पानी से न करें। उक्त दोनों प्रकार अनुभूत हैं और स्थायी लाभ देने वाले हैं।

२. बस्ति क्रिया

वस्ति क्रिया प्राचीन एनीमा की विधि है। गुदा द्वारा पानी को ऊपर खींचकर बड़ी आँत को धोना बस्ति क्रिया है। इसके लिए नौलि आदि क्रियाओं का अच्छा अभ्यास आवश्यक है।

इसके लिए वर्तमान एनीमा विधि का प्रयोग सरल है। उसका अभ्यास कर सकते हैं। यह प्रतिदिन आवश्यक नहीं है। जिन्हें कब्ज की शिकायत अधिक रहती हैं, उनके लिए ही यह उपयोगी है। आवश्यकता होने पर एनीमा का प्रयोग करें। प्रतिदिन योगासन और प्राणायाम करने वालों को यह अजीर्ण या कोष्ठबद्धता की शिकायत नहीं होती।

३. नेति क्रिया

नाक और गले की शुद्धि के लिए नेति-क्रिया विशेष उपयोगी है। नेति क्रिया में जलनेति और सूत्रनेति का अभ्यास विशेष उल्लेखनीय है।

(क) जलनेति

दोनों नासाछिद्रों को स्वच्छ रखने के लिए जलनेति है। इसमें एक नासा-द्वार से पानी प्रविष्ट कराकर दूसरी नाक से निकाला जाता है।

विधि—इसके लिए विशेष रूप से बना टोंटीदार पात्र लेना पड़ता है। (यह जलनेति का लोटा भारतीय योग संस्थान, दिल्ली से प्राप्य है)। इसमें गुनगुना पानी तीन-चौथाई भर लें। उसमें एक चम्मच नमक मिला लें। पहले दाहिनी नाक से करें। किसी बेसिन के पास खड़े होकर या बैठकर कर सकते हैं। इसको करने से पूर्व थोड़ा आगे झुक जावें और सिर थोड़ा बाईं ओर झुका लें। अब टोंटीनुमा लोटे का अग्रभाग दाहिनी नाक के छेद में डालें। लोटा थोड़ा ऊपर करें। इससे दाहिनी नाक से होकर पानी बाईं ओर नाक से निकलने लगेगा। यदि कोई अवरोध हो तो नाक को पहले साफ कर लें। आधा लोटा पानी निकल जाने पर रुक जावें और दोनों नाक जोर से छिनक लें। इससे रुका हुआ पानी निकल जाएगा। फिर सिर दाहिनी ओर झुकावें और बाईं ओर के नासाछिद्र में लोटे का अग्रभाग डालें। यह जल अब दाहिनी नाक से निकलने लगेगा। जल समाप्त होने पर सीधे खड़े हो जाएँ और क्रमशः एक-एक नाक बन्द करके ३-४ बार जोर से छींके। दोनों ओर से छींकने से बचा हुआ जल नाक से निकल जाएगा।

अभ्यास पुष्ट हो जाने पर गर्म के स्थान पर ठण्डे जल से भी बिना नमक डाले यह क्रिया की जा सकती है। यह जलनेति नासाछिद्रों की शुद्धि के लिए प्रतिदिन मंजन के बाद करनी चाहिए।

लाभ—यह नाक से संबद्ध सभी रोगों के लिए लाभप्रद है। जुकाम, नाक बन्द होना, नजला आदि तथा श्वास-सम्बन्धी रोगों दमा आदि के लिए भी उपयोगी है। इसे आबालवृद्ध सभी प्रतिदिन कर सकते हैं। स्त्रियाँ भी इसे कर सकती हैं। इससे नाक साफ रहती है और जुकाम आदि नहीं हो पाता है।

(ख) सूत्रनेति

यह जल के स्थान पर सूत की बनी मजबूत डोरी होती है। (यह भी भारतीय योग संस्थान, दिल्ली से प्राप्य है)। इसे प्रयोग करने से पहले डिटोल आदि किसी कीटाणुनाशक के हल्के घोल में ढंग से धो लें। इसको नाक में डालकर मुँह से निकाला जाता है और धीरे-धीरे रगड़ा जाता है।

विधि—सूत्रनेति को कीटाणुनाशक डिटोल आदि के घोल में धो लें। सूत्रनेति का चिकना होना आवश्यक है। चिकनी न हो तो घी या वेसलीन लगाकर प्रयोग करें। इसे पहले दाहिनी नाक में डालें। सिर थोड़ा पीछे की ओर मोड़ें। जब सूत्रनेति गले में पहुँच जाए तब मुँह खोलकर दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों को मुँह में डालकर हलक तक ले जावें और कैंची की भाँति सूत्रनेति को पकड़ लें। अब सूत्रनेति के दोनों छोरों की दाएँ और बाएँ हाथ से पकड़कर १०-१२ बार रगड़ें या आगे-पीछे करें। इतने समय मुँह खुला रहेगा। इसके बाद सूत्रनेति को बाहर निकाल लें। इसे जल से धो लें। इसके बाद यही क्रिया बाईं नाक से करें। बाद में सूत्रनेति को धोकर रख दें।

लाभ—जो जलनेति के लाभ हैं, वे ही सूत्रनेति के लाभ हैं। जानकारी के लिए इसका वर्णन किया गया है। इसे सप्ताह में एक या दो बार कर सकते हैं। सूत्रनेति यदि खुरदरी, टूटी या कमजोर हो तो उसका प्रयोग न करें। उससे हानि होने की संभावना है।

४. त्राटक

एकाग्र चित्त से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को देखते रहना त्राटक है।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसंपातपर्यन्तम्, आचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥ हठ० २.३२

विधि—शान्त एवं एकान्त स्थान में आसन पर बैठिए। सामने २ या ३ फीट की दूरी पर किसी स्टूल आदि पर सरसों के तेल का या घी का दीपक जलाकर रखें। दीपक के स्थान पर मोमबत्ती का भी प्रयोग कर सकते हैं। दीपक या मोमबत्ती इस प्रकार रखी जाय कि उसकी लपट (लौ) ठीक आँखों के सामने पड़े। अब सावधान रहते हुए दीपक या मोमबत्ती की लौ पर बिना पलक झपकाये एकटक निरन्तर देखें। जब आँख थक जाए तो उसे बन्द कर लें। आँख बन्द करने पर भ्रूमध्य में दीपक या मोमबत्ती की लौ दिखाई पड़ती रहेगी। उस पर ध्यान लगाए रहें। जब वह लौ भ्रूमध्य में दीखनी बन्द हो जाए तो आँख खोल लीजिए और फिर दीपक की लौ के ऊपरी भाग पर केन्द्रित कीजिए। फिर आँख बन्द करने और खोलने का क्रम कम से कम १० या १५ मिनट अवश्य करें।

प्रारम्भ ५ मिनट से करें। क्रमशः समय बढ़ाते हुए १५ मिनट तक पहुँच जाएँ। अभ्यास बढ़ने पर आँख बन्द करके भ्रूमध्य में लौ के दीखने का समय बढ़ता जाएगा। तदनुसार आँख खोलकर देखने का समय घटता जाएगा और भ्रूमध्य में लौ दीखने का समय बढ़ता जाएगा। यह साधना की प्रगति का सूचक है।

लाभ—त्राटक से मन की चंचलता दूर होती है। मन में एकाग्रता आती है। मानसिक तनाव दूर होता है। हठप्रदीपिका (२.३३) का कथन है कि इससे नेत्ररोग दूर होते हैं, शरीर में आलस्य, तन्द्रा आदि समाप्त हो जाते हैं, शरीर में चुस्ती बनी रहती है। मन की इस एकाग्रता से कारण साधक को दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। वह दूसरे के मन की बात जानने लगता है। यह अभ्यास रात्रि में मोने से पूर्व करना अधिक लाभप्रद है।

५. नौलि

इस क्रिया में पेट के मध्यभाग में विद्यमान दोनों माँसपेशियों (नलों) को बाहर निकालकर घुमाया जाता है, अतः इसे नौलि क्रिया कहते हैं।

विधि—इस क्रिया में दोनों पैरों के बीच एक-डेढ़ फीट का अन्तर रखकर खड़े हो जाइए। आगे झुकें और दोनों घुटनों पर हाथ रखें। घुटने भी मुड़े हुए हों। अब पूर्ण रेचक करके उड्डीयान बन्ध करें और पेट अन्दर खींचें। बाह्य कुंभक की स्थिति में पेट के बीच की दोनों माँसपेशियों (नलों) को दबाव से बाहर निकालें। इन नलों को क्रमशः दाहिनी और बाईं ओर घुमाया जाता है। इससे मन्दाग्नि, कब्ज, दस्त, पेचिश, पेट का मोटापा आदि रोग दूर होते हैं।

यह नौलि क्रिया कठिनतम क्रियाओं में है। इसे किसी योग्य गुरु से सीखकर ही करना चाहिए, अन्यथा नहीं।

६. कपालभाति

इस क्रिया के करने से कपाल (मस्तक) भाति (चमकने लगता है), अतः इसे कपालभाति कहते हैं।

विधि—किसी अभ्यस्त आसन में बैठ जावें। हाथ घुटनों पर रखें। पहले लम्बा साँस लेते हुए पूरक करें और बिना कुंभक किए रेचक करें अर्थात् साँस तुरन्त बाहर निकालें। इस क्रिया में केवल नाभि के नीचे का पेट का हिस्सा आगे आता है और पीछे जाता है। जिस प्रकार धौंकनी दबाने से वायु वेग से बाहर निकलती है और खोलने पर वायु वेग से अन्दर जाती है, उसी प्रकार पूरक से साँस भरती है और रेचक से साँस निकालती हैं। इसमें बीच में रुकना नहीं है, कुंभक नहीं होगा। धीरे-धीरे श्वास की गति बढ़ावें और एक मिनट में ६० या १०० बार तक साँस लें और छोड़ें। यह क्रिया ५ मिनट या अधिक से अधिक १० मिनट करें।

लाभ—इससे आँतों और नाड़ियों की शुद्धि होती है और भूख बढ़ती है। यह चर्बी घटाती है। पाचन शक्ति, शारीरिक शक्ति और स्फूर्ति बढ़ाती है। कफज दोषों को नष्ट करती है। इससे चेहरे पर कान्ति आती है। यह निम्न रक्तचाप (Low blood-pressure) में लाभकर है। कुंडलिनी-जागरण में सहायक है।

७. अग्निसार

जठराग्नि को प्रदीप्त करने के कारण इसको अग्निसार क्रिया कहते हैं।

विधि—सीधे खड़े होकर पैरों के बीच में एक-डेढ़ फुट का अन्तर करें, आगे झुककर घुटनों पर हाथ रखें। पूरा साँस बाहर निकाल दें और इसे बाहर ही रोककर रखें। पेट के निचले भाग को खींचकर मेरुदण्ड से लगाने का प्रयत्न करें, फिर पेट को आगे लावें। इसके बाद साँस फिर भरकर दुबारा बाहर निकालकर यही क्रिया दुहरावें। आगे-पीछे ले जाते समय पेट कड़ा ही रखें। अभ्यास होने पर एक साँस में यह पेट को आगे-पीछे ले जाने की क्रिया ३-४ बार की जा सकती है।

लाभ—यह पाचन-क्रिया को ठीक करता है, मन्दाग्नि दूर होती है, आँतों को पुष्ट करता है। उदर और बस्ति प्रदेश के रोग-कीटाणु सर्वथा नष्ट होते हैं। कब्ज दूर करने के लिए यह रामबाण है। अभ्यास बढ़ाकर इसको २५ या ५० बार करें। योगग्रन्थों में इसको १०० बार तक करने का विधान है—'नाभिग्रन्थि मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत्'।

षट्कर्म के अतिरिक्त यह एक अन्य उपयोगी क्रिया है, अतः इसका यहाँ उल्लेख किया गया है।

❑

अध्याय ४

प्राणमय कोश, प्राणायाम

१. प्राणायाम का महत्त्व और उपयोगिता

प्राण क्या है ?—प्राण वह विश्वव्यापिनी शक्ति है, जो संसार की ऊर्जा का स्रोत है। यदि संसार में प्राणशक्ति न हो तो संसार में गति, प्रगति, उन्नति और विकास न हो। गति, प्रगति और विकास ऊर्जा के कारण होती है। ऊर्जा का ही प्रत्यक्ष रूप प्राण है। मानव को ऊर्जा देने वाली शक्ति प्राण है। विश्वव्यापिनी ऊर्जा (Energy) को यदि हम महाप्राण कहेंगे तो मानव शरीर में विद्यमान ऊर्जा को प्राण कहेंगे। इस प्राणशक्ति को विकसित कर हम न केवल शारीरिक विकास कर सकते हैं, अपितु मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास भी कर सकते हैं और इसके फल-स्वरूप दिव्यदृष्टि आदि अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त कर सकते हैं।

प्राण का स्वरूप—वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में प्राण का विस्तृत विवेचन हुआ है। कुछ विशेष उपयोगी बातें यहाँ दी जा रही हैं।

अथर्ववेद में २६ मंत्रों का एक पूरा सूक्त (११.४) प्राण से संबद्ध है। इसमें कहा गया है कि प्राण शक्ति ही संसार का आधार है। प्राण ही संसार का नियामक है। यदि प्राणशक्ति न हो तो संसार का कोई काम नहीं चलेगा। शिशु जब से गर्भ में आता है, तभी से प्राणशक्ति उसका विकास करती है। प्राणशक्ति वर्षा के रूप में वृक्ष-वनस्पतियों को जीवन देती है। प्राण के दो भेद हैं—प्राण और अपान। इनमें से प्राण शक्ति-दाता है और अपान दोषों को दूर करता है।

(क) **प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।** अथर्व० ११.४.१५

(ख) **प्राणो ह सर्वस्येश्वरः।** अथर्व० ११.४.१०

(ग) **प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।** अ० ११.४.१

(घ) **नमस्ते प्राण प्राणते नमस्ते अस्त्वपानते।** अ० ११.४.८

(ङ) **द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।**
दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद् रपः॥ अ० ४.१३.२

ब्राह्मण ग्रन्थों आदि में भी प्राण का विवेचन हुआ है। कुछ विशेष उपयोगी सन्दर्भ ये हैं—शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि प्राण अग्नि है अर्थात् यह अग्नि के तुल्य दोषों को नष्ट करती है। शतपथ का ही कथन है कि यह विश्वज्योति है अर्थात् यह संसार में चेतना की ज्योति जगाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्राणों को रुद्र देवता कहा गया है, क्योंकि प्राणों के जाते ही शरीर मृत हो जाता है और सभी को वह रुला देता है। शतपथ ब्राह्मण में प्राण की दो विशेष क्रियाओं का

उल्लेख है। ये हैं—१. समञ्चन अर्थात् सिकुड़ना, संकुचित होना (Contraction), २. प्रसारण—फैलना, विस्तृत होना, फैलाव होना (Relaxation)। शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय उपनिषद् में प्राण के विराट् रूप का वर्णन करते हुए उसे ब्रह्म कहा गया है, अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त है।

(क) प्राणा अग्निः। शत० ६.३.१.२१

(ख) प्राणो वै विश्वज्योतिः। शत० ७.४.२.२८

(ग) प्राणा वाव रुद्राः। एते हीदं सर्वं रोदयन्ति। छा० उप० ३.१६.३

(घ) प्राणो वै समञ्चन-प्रसारणम्। शत० ८.१.४.१०

(ङ) प्राणो वै ब्रह्म। शत० १४.६.१०.२। तैत्ति० उप० ३.३

प्राण का विराट् रूप—शतपथ ब्राह्मण आदि में प्राण को ब्रह्म बताया गया है। ब्रह्म संसार की ऊर्जा की समष्टि है। वह संसार को नियन्त्रित कर रही है। उस महाशक्ति का ही व्यष्टि रूप व्यक्तिगण प्राण है। यह प्राण और विराट् ब्रह्म दोनों एक ही तत्त्व हैं। प्राणायाम के द्वारा अपनी प्राणशक्ति को विकसित करके महाशक्ति से समन्वय स्थापित करके महान् शक्तियाँ और दिव्य शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। प्राणायाम का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर-सांनिध्य की प्राप्ति है। प्राणायाम इसका मार्ग प्रशस्त करता है।

प्राणायाम का अर्थ—'प्राणानाम् आयामः' अर्थात् प्राणों का आयाम। इसके दो अर्थ हैं—१. प्राणों का विस्तार, फैलाव, प्राण की शक्ति की वृद्धि। २. प्राणों पर नियन्त्रण, प्राणों को अपने वश में करना, प्राणों को अपने नियन्त्रण में लेकर उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार रोकना और छोड़ना। अतएव पतंजलि ने श्वास और प्रश्वास की गति को रोकने को प्राणायाम कहा है।

तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। योग० २.४९

प्राणायाम के भेद—प्राणायाम के मुख्य रूप से तीन भेद किये गये हैं—पूरक, रेचक और कुम्भक।

१. पूरक—पूरक का अर्थ है—भरना, पूर्ण करना। पूरक क्रिया से अभिप्राय है—बाहरी वायु को साँस के द्वारा खींचकर अन्दर ले जाना। इसको 'श्वास' कहते हैं।

२. रेचक—रेचक का अर्थ है—खाली करना, रिक्त करना। रेचक क्रिया में शरीर के अन्दर की वायु को बाहर निकालना अर्थात् साँस को बाहर फेंकना है।

३. कुम्भक—कुम्भक का अर्थ है—साँस को रोककर रखना। इसके दो भेद हैं—

(क) आभ्यन्तर कुम्भक—साँस को अन्दर खींचकर अन्दर ही रोककर रखना।

(ख) बाह्य कुम्भक—साँस को बाहर निकालने के बाद उसे बाहर ही रोककर रखना।

इन तीन क्रियाओं के आधार पर ही प्राणायाम के अनेक भेद-उपभेद हुए हैं।

२. प्राण और उपप्राण

प्राण के ५ भेद हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान। इसी प्रकार उपप्राण के भी ५ भेद हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय। एक प्रसिद्ध श्लोक में इनके ये स्थान बताए हैं—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः, समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशस्थो, व्यानः सर्वशरीरगः॥

१. प्राण—यह मुख्य वायु है। इसका स्थान हृदय है। इसका कार्यक्षेत्र कंठ से लेकर डायफ्राम (Diaphragm) तक है। यह श्वसन-संस्थान, हृदय और ग्रास नली को प्रभावित करता है। यह हृदय को शक्ति देता है, फेफड़ों को शुद्ध और पुष्ट करता है और कंठनली को स्वस्थ रखता है। यह पोषक वायु है।

२. अपान—यह शोधक वायु है। इसका कार्यक्षेत्र नाभि से नीचे गुदाद्वार तक है। इसका मुख्य स्थान मलद्वार है। यह बड़ी आँत, मल-मूत्र-विसर्जन प्रणाली को संचालित करता है।

३. समान—यह पाचन-तंत्र से संबद्ध वायु है। इसका स्थान नाभिक्षेत्र है। इसका कार्यक्षेत्र डायफ्राम से लेकर नाभि तक है। यह पाचन-संस्थान, उदर, यकृत्, गुर्दे, अग्न्याशय एवं छोटी आँत का संचालन करता है।

४. उदान—यह उत्थान शक्ति से संबद्ध है। इसका स्थान कण्ठ है। इसका कार्यक्षेत्र कंठनली से ऊपर सारा मस्तिष्क-क्षेत्र है। यह मस्तिष्क, आँख, नाक, कान, वाणी, स्वरयंत्र आदि का संचालन करता है। मनोबल और स्मरण शक्ति को विकसित करता है।

५. व्यान—यह सारे शरीर में व्याप्त जीवनी शक्ति है। यह पूर्वोक्त सभी चारों जीवन-शक्तियों में समन्वय स्थापित करता है। साथ ही नाड़ी-संस्थान, रुधिर-संचार एवं मांसपेशियों का संचालन करता है। इसका कार्यक्षेत्र सारा शरीर है। यह त्वचा में भी व्याप्त है।

उपप्राण ५ हैं। ये सहयोगी प्राण हैं, अतः इन्हें उपप्राण कहते हैं। संक्षेप में इनके कार्य ये हैं—

१. नाग—इसके कारण छींकना, डकार, खाँसी आदि आते हैं। यह शरीर की शुद्धि करती है और रोगों का संकेत करती है।

२. कूर्म—इसका सम्बन्ध नेत्रों से है। इसके कारण नेत्रों के पलक खुलते और बन्द होते हैं।

३. कृकल—इससे भूख-प्यास लगती है।

४. देवदत्त—इससे जंभाई आती है। निद्रा और तन्द्रा आती है।

५. धनंजय—इससे शरीर का पोषण होता है तथा मृत्यु के बाद शरीर का विघटन होता है। इसके कारण ही शरीर में शोथ (सूजन, ट्यूमर आदि) होता है।

उद्‌गारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः।
कृकरः क्षुत्कृते ज्ञेयो, देवदत्तो विजृम्भणे॥
न जहाति मृतं वापि, सर्वव्यापि धनंजयः॥ घेरण्ड० ५.६० की टिप्पणी
धनंजयस्य शोकादि-सर्वकर्म प्रकीर्तितम्। योगी याज्ञल्कल ४.६९

३. प्राणायाम का महत्त्व और लाभ

मानव-शरीर की प्रत्येक चेष्टा एवं गति का आधार प्राण है। प्राण के कारण ही मनुष्य कोई चेष्टा कर पाता है। यह प्राणशक्ति हमें वायु से, सूर्य से एवं भोजन आदि से प्राप्त होती है। मानव शरीर में यह जीवनी शक्ति है। जीवन का प्रारम्भ प्राण के साथ होता है और अन्त भी प्राण के निर्गमन के साथ होता है। इस प्राणशक्ति का सदुपयोग करके ओजस्विता, तेजस्विता और आत्मिक बल प्राप्त किया जा सकता है और दुरुपयोग से अल्पायु और विविध रोग आदि। अतएव इस बहुमूल्य धन को जितना सुरक्षित रखा जाएगा, उतना ही कल्याण है।

प्राणायाम प्राणशक्ति का संवर्धन है। घेरण्डसंहिता में बहुत सुन्दर बात कही गई है कि यह शरीर कच्चा घड़ा है। जैसे कच्चा घड़ा जल में रखा हुआ शीघ्र गल जाता है, उंसी प्रकार यह शरीर भौतिक वातावरण में प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है। इसको योगरूपी अग्नि में तपाकर पक्का करें। प्राणायाम आदि कार्यों से यह पुष्ट होता है।

आमकुम्भ इवाम्भःस्थो जीर्णमाणः सदा घटः।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्॥ घेरण्ड० १.८

प्राणायाम का महत्त्व बताते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि जिस प्रकार आग में डालने से लोहे आदि धातुओं का मल जल जाता है और वह निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम करने से शरीर के सारे मल एवं दूषित तत्त्व जलकर नष्ट हो जाते हैं। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि यह मैल ही सारे रोगों का कारण है। यदि प्राणायाम से इस मैल को जला दिया जाता है तो शरीर निर्मल हो जाने से रोग स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु० ६.७१

विभाग
शान्ति कुंज, हरिद्वार

स्व2/2016

योगदर्शन के व्यास-भाष्य में प्राणायाम का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि प्राणायाम से बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं है। इससे शरीर के सारे मल नष्ट हो जाते हैं और ज्ञानरूपी ज्योति प्रज्वलित हो जाती है।

तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानां
दीप्तिश्च ज्ञानस्य। योग० २.५२ पर व्यासभाष्य

पतंजलि मुनि ने प्राणायाम के मुख्यरूप से दो लाभ बताए हैं—१. जीवात्मा के ऊपर अविद्या के अंधकार का एक आवरण पड़ा हुआ है, अतएव आत्मा के प्रकाश का दर्शन नहीं हो पाता। प्राणायाम से यह आवरण नष्ट हो जाता है और आत्मा के प्रकाश का दर्शन हो जाता है। २. प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राणायाम के द्वारा प्राण पर नियन्त्रण हो जाने से मन पर भी नियन्त्रण हो जाता है। मन पर नियन्त्रण होने से धारणा की विशेष योग्यता प्राप्त हो जाती है। धारणा की योग्यता प्राप्त होने से मन किसी भी एक बिन्दु पर सरलता से स्थिर हो जाता है।

(क) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। योग० २.५२
(ख) धारणासु च योग्यता मनसः। योग० २.५३

यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में से एक को रोक लिया जाय तो दूसरा स्वयं रुक जाता है। अतएव हठप्रदीपिका में कहा गया है कि प्राणवायु के चंचल होने पर मन भी चंचल होता है और प्राणवायु के निश्चल या शान्त होने पर मन भी स्थिर हो जाता है। अतः मन की स्थिरता के लिए प्राणायाम करे।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥ हठ० २.२

प्राणायाम के लाभ—प्राणायाम से मुख्य रूप से ये लाभ होते हैं—
१. प्राणायाम से फेफड़ों में शुद्ध वायु का प्रवेश और दूषित वायु कार्बन डाइ-ऑक्साइड (Carbon dioxide, CO_2) के निष्कासन से शरीर की शुद्धि, नीरोगता और पुष्टि।

२. प्राणायाम से मन की चंचलता दूर होती है। मन शान्त होता है और मन में दुर्विचार नहीं आते। कुमार्ग की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। सद्विचारों का अभ्युदय होता है।

३. मनोनिरोध के लिए प्राणायाम अमोघ अस्त्र है।

४. प्राणायाम से वीर्य की ऊपर की ओर गति होती है। ऊर्ध्वरेता होने से तेजस्विता, कान्ति, प्रसन्नता और आत्मिक बल की वृद्धि होती है।

५. प्राणायाम से आयु की वृद्धि होती है। शीघ्र श्वास लेने से आयु कम होती है। मनुष्य की आयु श्वासों पर निर्भर है। जितना कम श्वास लेंगे, उतनी

आयु बढ़ेगी। कम श्वास लेने पर कम शक्ति व्यय होगी। अतएव कम श्वास लेने से संचित ऊर्जा देर तक चलेगी। इस प्रकार प्राणायाम से १०, १२ वर्ष आयु बढ़ाई जा सकती है। कुत्ता १ मिनट में २८-३० श्वास लेता है, अत: आयु १५-२० वर्ष है। मनुष्य १ मिनट में १५-१६ श्वास लेता है, अत: आयु १०० वर्ष और कछुआ १ मिनट में ४-५ श्वास लेता है, अत: आयु २०० वर्ष है।

६. प्राणायाम से नाड़ी-संस्थान, पाचन-संस्थान, श्वसन-संस्थान और रक्तसंचार-संस्थान सभी सक्रिय रहते हैं और उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है।

७. मस्तिष्क की सूक्ष्म और सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं। मानस रोग तनाव आदि नष्ट होते हैं।

८. प्राणायाम से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बल की वृद्धि होती है।

९. प्राणायाम से असाध्य रोग भी ठीक हो जाते हैं। इसी आधार पर प्राणायाम-चिकित्सा प्रचलित हुई है।

१०. प्राणायाम से स्फूर्ति, जागरूकता, सक्रियता और नव जीवन की प्राप्ति होती है। शरीर की पुष्टि के कारण सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहने की क्षमता आ जाती है। प्राणायाम से मनोबल, इच्छाशक्ति और आत्मिक-शक्ति बढ़ती है। प्राणायाम शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास का सर्वोत्तम साधन है।

सावधानी—सभी प्राणायामों के विषय में विशेष वक्तव्य है कि किसी योग्य गुरु से विधिवत् प्राणायामों को सीखकर ही ये प्राणायाम करें। स्वयं पुस्तक पढ़कर ही ये प्राणायाम न करें। अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि होने की बहुत संभावना रहती है।

प्राणायाम-सम्बन्धी निर्देश

१. स्थान—प्राणायाम के लिए स्थान स्वच्छ एवं खुला होना चाहिए, जहाँ शुद्ध वायु का प्रवेश हो। धूल, धुआँ, सीलन आदि न हो। तेज हवा में अभ्यास न करें।

२. समय—प्रात:काल सूर्योदय से पूर्व ब्राह्म मुहूर्त सर्वोत्तम समय है। रात्रि में सोने से पूर्व भी प्राणायाम कर सकते हैं।

३. आसन—भूमि पर कम्बल या दरी बिछाकर उसपर हलका सूती वस्त्र बिछावें। आसन सुखद होना चाहिए, जिसपर सरलता से आधा या एक घण्टा बैठा जा सके।

४. वस्त्रादि—ऋतु के अनुकूल हलके वस्त्र पहनें। शीत ऋतु में कुछ ऊनी वस्त्र स्वेटर आदि अवश्य पहनें। प्राणायाम से पूर्व स्नान कर लें या प्राणायाम के १५ मिनट बाद स्नान करें।

५. सिद्धासन, स्वस्तिक आसन, पद्मासन या वज्रासन में से एक आसन चुन लें। उस पर कम से कम आधा घण्टा बैठने का अभ्यास डालें। प्राणायाम के लिए १५-२० मिनट से लेकर आधा घण्टा समय रखें।

६. '**समपृष्ठशिरोग्रीवः**'—प्राणायाम और ध्यान आदि के लिए आवश्यक है कि बैठने पर पीठ, गर्दन और सिर एक सीध में हों। पीठ सीधी हो, आगे या पीछे झुकी न हो।

७. '**वशी हितमिताशनः**' (हठ० २.१)—प्राणायाम के पूर्ण लाभ के लिए आवश्यक है कि साधक संयम का पालन करें। भोजन सात्त्विक हो और साधक मिताहारी हो। अभक्ष्य पदार्थों मांस-मदिरा आदि का सेवन सर्वथा वर्जित है।

८. प्राणायाम के समय बलप्रयोग कभी न करें। जितनी देर साँस सरलता से रोक सकते हैं, उतनी ही देर रोकें और फिर छोड़ दें। धीरे-धीरे अन्दर और बाहर साँस रोकने का अभ्यास बढ़ावें। प्रारम्भ में प्राणायाम के लिए ५ मिनट समय रखें। प्रति सप्ताह एक या दो मिनट समय बढ़ाते हुए १५ या २० मिनट पर आ जावें। आधा घण्टा से अधिक प्राणायाम करना हानिकर हो सकता है। झटके से कोई काम न करें, हानि हो सकती है।

९. प्रारम्भ में केवल पूरक और रेचक का अभ्यास करें। कुछ समय पश्चात् बाह्य और आभ्यन्तर कुंभक का भी अभ्यास करें। अभ्यास पुष्ट हो जाने पर मूलबन्ध आदि तीनों बन्धों का अभ्यास करें।

१०. गर्मियों में उष्णता बढ़ाने वाले भस्त्रिका, सूर्यभेदी आदि प्राणायाम न करें। इसी प्रकार जाड़े में शीतलता बढ़ाने वाले शीतली आदि प्राणायाम न करें।

११. पूरक, कुम्भक, रेचक—साँस अन्दर लेने को 'पूरक' कहते हैं। साँस अन्दर या बाहर रोककर रखने को 'कुम्भक' कहते हैं। साँस बाहर निकालने को 'रेचक' कहते हैं। प्राणायाम में पूरक आदि के समय का सामान्यतया अनुपात यह रहता है—पूरक १, कुम्भक ४ और रेचक २, अर्थात् यदि पूरक १ सेकेण्ड है तो कुम्भक ४ सेकेण्ड और रेचक २ सेकेण्ड। प्रारम्भ में यह अनुपात १, २, १ रखें। फिर अभ्यास बढ़ाकर १, ४, २ पर आवें। आगे अभ्यास बढ़ने पर इसी अनुपात को २, ८ और ४ सेकेण्ड पर ला सकते हैं, अर्थात् पूरक २ से० कुम्भक ८ से० और रेचक ४ से०। इस प्रकार प्रारम्भ में एक प्राणायाम १, ४, २ होने पर ७ सेकेण्ड में पूरा हुआ। अनुपात २, ८, ४ से० होने पर १४ सेकेण्ड में एक प्राणायाम पूरा होगा।

१२. प्राणायाम का अभ्यास प्रतिदिन नियमित रूप से करने से ही लाभ होगा।

१३. प्राणायाम किसी गुरु से विधिवत् सीखकर ही प्रारम्भ करें।

१४. बहुत निर्बल, रोगी, गर्भिणी स्त्री आदि प्राणायाम न करें। वे यथाशक्ति गहरे साँस (Deep breathing) लें। प्रात: सूर्योदय के समय सूर्याभिमुख होकर २०-२५ गहरे साँस लेना और छोड़ना सभी के लिए लाभप्रद है।

१५. प्रात: सूर्योदय के समय १० या १५ मिनट सूर्य की ओर मुँह करके सूर्य की अवरक्त किरणें (Infra-red rays) छाती पर लेना अमृत है। यह सभी हृदय रोगों, सिर के रोगों, रक्ताल्पता (खून की कमी) आदि रोगों के लिए रामबाण है। यदि सूर्योदय के समय सूर्य की किरणें प्रतिदिन १०-१५ मिनट छाती पर ले ली जाएँ तो उसे कोई स्थायी बीमारी जीवन भर नहीं होगी।

४. प्राणायाम के प्रकार

प्राणायाम से संबद्ध कुछ पारिभाषिक शब्द हैं। इनका ज्ञान आवश्यक है। ये शब्द हैं—

१. इडा—बाएं नासिका-छिद्र को इडा नाडी कहते हैं। इसको चन्द्र नाडी या चन्द्र स्वर भी कहते हैं। इसके लिए 'गंगा' शब्द का भी प्रयोग होता है। यह शीतलता प्रदान करती है। मेरुरज्जु (Spinal Cord) में बाईं ओर की नाडी इडा नाडी है।

२. पिंगला—दाएं नासिका-छिद्र को पिंगला नाडी कहते हैं। इसे सूर्य नाडी या सूर्य स्वर भी कहते हैं। इसके लिए 'यमुना' शब्द का भी प्रयोग होता है। यह उष्णता प्रदान करती है। मेरुरज्जु में मध्यगत नाड़ी में दाईं ओर की नाड़ी पिंगला नाडी है।

३. सुषुम्ना या सुषुम्णा—यह मेरुरज्जु में मध्यस्थ नाड़ी है। इसके दाईं ओर की नाड़ी पिंगला और बाईं ओर की नाड़ी इडा है। सुषुम्ना को सरस्वती भी कहते हैं। यह सर्वथा रिक्त रहती है। कुंडलिनी जागृत होकर इसी मार्ग से ऊपर शिरोभाग में आज्ञाचक्र तक जाती है।

४. पूरक—साँस अन्दर ले जाने या भरने को पूरक कहते हैं।

५. रेचक—साँस बाहर निकालने या छोड़ने को रेचक कहते हैं।

६. कुम्भक—साँस रोककर रखने को कुंभक कहते हैं। ये दो हैं—**१. आभ्यन्तर कुंभक**—साँस को अन्दर रोककर रखना, **२. बाह्य कुंभक**—साँस को बाहर निकालकर बाहर ही रोककर रखना।

७. अनुलोम प्राणायाम—जिस नाक से साँस लेना, उसी नाक से छोड़ना।

८. अनुलोम-विलोम प्राणायाम—जिस नाक से साँस लेना, उसे दूसरी नाक से छोड़ना। जैसे—बाईं नाक से साँस लेना और दाईं नाक से छोड़ना। इसी प्रकार दाईं नाक से साँस लेना और बाईं नाक से छोड़ना।

९. स्तम्भ वृत्ति—साँस को अन्दर या बाहर न ले जाकर वहीं पर रोककर रखना।

१०. विषयाक्षेपी—यह बाह्य और आभ्यन्तर कुंभक के लिए है। जब बाह्य कुम्भक करने पर साँस अन्दर आने लगे तो उसे बलपूर्वक और अधिक समय तक बाहर रोके रखने का प्रयत्न करना। इसी प्रकार आभ्यन्तर कुंभक करने पर जब साँस बाहर निकलने लगे तो उसे प्रयत्नपूर्वक और अधिक समय तक रोककर रखना।

११. प्रच्छर्दन—यह रेचक क्रिया है। साँस को बाहर निकालना।

१२. विधारण—यह कुम्भक क्रिया है। साँस को अन्दर रोककर रखना।

१३. श्वास-प्रश्वास—साँस अन्दर भरना श्वास है। साँस बाहर निकालना प्रश्वास है। प्रश्वास को निःश्वास भी कहते हैं।

नाडी-शुद्धि प्राणायाम

विभिन्न प्राणायामों को करने से पूर्व नाडी-शुद्धि प्राणायाम अवश्य कर लें। इससे इडा आदि नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। इसकी ४ विधियाँ हैं।

दाईं और बाईं नाक को बन्द करने की सामान्य विधि यह है—दाहिनी नाक को बन्द करना हो तो दाहिने हाथ के अँगूठे से बन्द करें और बाईं नाक बन्द करनी हो तो दाहिने हाथ की अन्तिम दो अंगुलियाँ अर्थात् कनी और अनामिका (कनी अंगुली के पास वाली अंगुली) का प्रयोग करें। अभ्यास बढ़ जाने पर केवल दाहिनी ओर दबाव डालने से दायाँ स्वर और बाईं ओर दबाव डालने से बायाँ स्वर चलने लगता है और बिना हाथ लगाए दूसरा स्वर बन्द हो जाता है।

विधि-१—इसमें कुंभक नहीं होगा। केवल लम्बा साँस लेना है। बाईं नाक से लम्बा साँस ४ सेकेण्ड में भरें और बिना रोके ८ सेकेण्ड में छोड़ें। इस प्रकार तीन बार करें। अंगूठे से दाहिनी नाक बन्द रखें। यह अनुलोम प्राणायाम है।

विधि-२—इसमें भी कुंभक नहीं होगा। अब कनी और अनामिका अंगुलियों से बाईं नाक बन्द कर लें। दाहिनी नाक से लम्बा साँस ४ सेकेण्ड भरें और बिना रोके ८ सेकेण्ड में छोड़ें। इस प्रकार तीन बार करें। यह भी अनुलोम प्राणायाम है।

विधि-३—इसमें भी कुंभक नहीं होगा। बाईं नाक से लम्बा साँस ४ सेकेण्ड भरें और दाईं नाक से ८ सेकेण्ड में छोड़ें। यह आधा प्राणायाम हुआ। अब दाईं नाक से ४ सेकेण्ड साँस भरें और बाईं नाक से ८ सेकेण्ड में छोड़ें। यह एक चक्र पूरा हुआ। ऐसे तीन प्राणायाम करें। यह अनुलोम-विलोम प्राणायाम है।

विधि-४—इसमें कुंभक होगा। पहले बाईं नाक से लम्बा साँस ४ सेकेण्ड भरें और उसे १६ सेकेण्ड अन्दर रोकें। अब इसे दाहिनी नाक से धीरे-धीरे ८

सेकेण्ड में छोड़ें। इसी प्रकार अब दाहिनी नाक से लम्बा साँस ४ सेकेण्ड भरें, १६ सेकेण्ड अन्दर रोकें और ८ सेकेण्ड में बाईं नाक से धीरे-धीरे छोड़ें। यह एक चक्र हुआ। ऐसे ३ चक्र पूरे करें। यह अनुलोम-विलोम प्राणायाम है।

इन नाड़ी-शोधन प्राणायामों से शरीर में विद्यमान ७२ हजार नाड़ियों की शुद्धि होती है। विधि १ से इडा नाड़ी की और विधि २ से पिंगला नाड़ी की शुद्धि होती है। विधि ३ और ४ से इडा और पिंगला के साथ ही सुषुम्णा नाड़ी की भी शुद्धि होती है।

घेरण्ड संहिता (अ० ५ श्लोक ३५ से ४५) में केवल चतुर्थ विधि का ही उल्लेख है। उसमें इसके दो भेद किए हैं—सबीज और निर्बीज तथा समनु और निर्मनु। यदि प्राणायाम के समय बीज मंत्र 'ओम्' का मन ही मन जप करते हैं तो वह प्राणायाम 'सबीज' या समनु है। यदि 'ओम्' का मन ही मन जप नहीं करते हैं तो वह 'निर्बीज' या निर्मनु प्राणायाम है। अनुपात १, ४, २ का रहना चाहिए अर्थात् यदि ४ सेकेण्ड में साँस भरते हैं तो कुंभक १६ सेकेण्ड और रेचक ८ सेकेण्ड।

५. पातंजल योग के अनुसार चार प्राणायाम

प्राणायाम का लक्षण—पतंजलि मुनि ने प्राणायाम का लक्षण दिया है—श्वास और प्रश्वास की गति को नियन्त्रित करना, अर्थात् उसकी स्वाभाविक गति को रोककर उसे सधाना।

तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। योग० २.४९

अन्य तीन सूत्रों में प्राणायाम के चार भेदों का उल्लेख है। ये ४ भेद हैं—१. बाह्य कुंभक, २. आभ्यन्तर कुम्भक, ३. स्तम्भवृत्ति, ४. विषयाक्षेपी।

(क) प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य। योग० १.३४

(ख) बाह्याभ्यन्तर-स्तम्भवृत्तिर्देश-काल-संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। योग० २.५०

(ग) बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी चतुर्थः। योग० २.५१

१. बाह्य कुम्भक (बाह्यवृत्ति, रेचक)

इसमें श्वास बाहर निकालकर अधिक से अधिक समय तक बाहर ही रोकने का प्रयत्न किया जाता है। साधारणतया एक मिनट में १५ या १६ साँस लिया जाता है, ८ श्वास और ८ प्रश्वास। २ सेकेण्ड में साँस भरना और दो सेकेण्ड में छोड़ना। इस प्रकार एक श्वास-प्रश्वास में ४ सेकेण्ड लगते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर कुंभक का प्रयोजन है कि दोनों कुंभकों का समय बढ़ाकर तथा पूरक और रेचक का समय बढ़ाते हुए २ सेकेण्ड से ३ सेकेण्ड पर आवें और

फिर अभ्यास के द्वारा ४ या ५ सेकेण्ड पर आवें। ५ सेकेण्ड पर आने का अभिप्राय है, एक मिनट में ४ या ५ श्वास-प्रश्वास।

विधि—प्राणायाम के लिए आसन पर बैठकर अपने श्वास को रेचक करते हुए पूरा बाहर निकाल दीजिए और प्रयत्न कीजिए कि अधिक से अधिक समय तक बाहर रोक सकें। जब कष्ट अनुभव हो तब धीरे-धीरे पूरक करते हुए श्वास अन्दर भरें। श्वास को अन्दर न रोककर अर्थात् आभ्यन्तर कुंभक न करके फिर रेचक करते हुए बाहर निकालें और फिर यथाशक्ति अधिक से अधिक समय तक रोकें। बाद में पूरक करते हुए अन्दर श्वास भरें। यह अभ्यास ३ या ५ बार करें। बाहर रोकने में बहुत अधिक जोर न दें। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ावें। अभ्यास के समय 'ओम्' का मन ही मन जप करते रहें।

लाभ—इस प्राणायाम से मन की चंचलता दूर होती है और बुद्धि तीव्र होती है।

२. आभ्यन्तर कुम्भक (आभ्यन्तर वृत्ति, पूरक)

यह बाह्य कुम्भक के विपरीत है। इसमें पूरक द्वारा श्वास अन्दर भरकर अधिक से अधिक समय रोकना है।

विधि—इसमें पहले श्वास को पूरा बाहर निकाल दें। फिर धीरे-धीरे पूरक करते हुए श्वास अन्दर भरिए। श्वास भर जाने पर अधिक से अधिक समय तक अन्दर रोकें और छाती को फुलावें। छाती में अधिक श्वास पहुँचे। फिर थकान अनुभव होने पर धीरे-धीरे श्वास छोड़ें। बाहर श्वास को अधिक न रोकते हुए फिर पूरक द्वारा श्वास भरें। श्वास लेना और छोड़ना, एक चक्र हुआ। इस प्रकार ३ या ५ बार करें।

लाभ—बाह्य कुंभक के तुल्य।

३. स्तम्भ वृत्ति (कुम्भक)

इस प्राणायाम में श्वास को न अन्दर ले जाना है और न बाहर निकालना है। श्वास जिस स्थिति में है, उसी स्थिति में रोककर रखना है।

विधि—आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करते हुए अपने श्वास को जहाँ का तहाँ रोक देना है। श्वास यदि बाहर निकला है तो उसे बाहर ही रोके रहिए। दम फूलने लगे तो फिर हलका पूरक करके साँस बाहर निकालिए और उसे वहीं रोककर रखिए, जैसे साइकिल को आगे-पीछे न करके एक जगह पर रोक करके रखना। इसमें अभ्यास करना है कि श्वास को जब और जहाँ चाहें रोककर रख सकते हैं।

४. विषयाक्षेपी (कुम्भक)

इसके दो भेद हैं—१. बाह्यविषयाक्षेपी कुंभक, २. आभ्यन्तरविषयाक्षेपी कुंभक।

(१) बाह्य विषयाक्षेपी कुम्भक—यह बाह्यकुम्भक के तुल्य ही है। इसमें अन्तर यह है कि बाह्यकुंभक में केवल श्वास को बाहर रोकने का विधान है। इसमें विधान है कि श्वास को बाहर रोकने के बाद धक्का लगा-लगाकर और २-३ बार साँस को बाहर निकालें और रोकें। इससे शरीर के अन्दर की सारी दूषित वायु बाहर निकल जाती है।

विधि—बाह्य कुम्भक के तुल्य रेचक करते हुए श्वास बाहर निकालें और बाहर रोकें। फिर २ या ३ बार जोर लगाकर श्वास को बाहर निकालकर रोकें। जब जी घबड़ाने लगे तो धीरे-धीरे पूरक करते हुए श्वास अन्दर भरें। अन्दर कुंभक न करके फिर श्वास को बाहर निकालें। पूर्ववत् २ या ३ बार और श्वास निकालते हुए कुम्भक करें। यह अभ्यास दो या तीन बार से अधिक न करें।

लाभ—बाह्य कुंभक के तुल्य हैं।

(२) आभ्यन्तर विषयाक्षेपी—यह आभ्यन्तर कुम्भक के ही तुल्य है।

विधि—आसन पर बैठकर आभ्यन्तर कुंभक के तुल्य पहले श्वास बाहर निकालें और धीरे-धीरे पूरक करते हुए श्वास अन्दर भरें और कुम्भक करें। इसमें भी बाह्याक्षेपी कुंभक के तुल्य २-३ बार जोर लगाकर साँस और अन्दर भरें तथा रोकें। अधिक से अधिक साँस अन्दर भरकर रोकने का अभ्यास करें। थकान होने पर धीरे-धीरे श्वास छोड़ें और बाहर कुंभक न करके साँस फिर अन्दर भरें और पूर्ववत् २-३ बार श्वास भरते हुए कुंभक करें। इसमें मूलाधार से लेकर नासिका तक श्वास भर लेना अभीष्ट है। यह अभ्यास भी दो या तीन बार से अधिक न करें।

लाभ—आभ्यन्तर कुंभक के तुल्य ही हैं। मन की चंचलता दूर होती है और बुद्धि तीव्र होती है। कुंडलिनी शक्ति के जागरण में ये दोनों विषयाक्षेपी कुंभक सहायक हैं।

६. हठयोग के अनुसार ८ कुम्भक प्राणायाम

हठयोग के आचार्यों ने प्राणायाम के विषय में विशेष सफलता प्राप्त की है। उन्होंने इसके भेदों और लाभ आदि का विशेष विवेचन और विश्लेषण किया है। हठयोग के ज्ञान के लिए २ ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं—१. हठप्रदीपिका, योगी स्वात्माराम-कृत, २. घेरण्ड संहिता, योगी घेरण्डकृत। इन दोनों ग्रन्थों में हठयोग से संबद्ध सभी विषय दिए गए हैं। दोनों आचार्यों का मत है कि राजयोग की

सिद्धि के लिए हठयोग प्रथम सोपान है। हठयोग का ठीक ज्ञान होने पर राजयोग में सरलता से सफलता मिलती है। धारणा-ध्यान-समाधि की सफलता के लिए हठयोग का ज्ञान आवश्यक है।

हठयोग सम्बन्धी प्राणायामों के ज्ञान के लिए इन बातों का ज्ञान आवश्यक है—**(क) तीन बन्ध**—प्राणायाम के साथ इन बन्धों का प्रयोग होता है। ये हैं— १. मूलबन्ध, २. उड्डीयान बन्ध, ३. जालन्धर बन्ध।

१. मूलबन्ध—मलद्वार (गुदा) और उसके पास के हिस्से को ऊपर की ओर खींचकर रोकना मूलबन्ध है। उसको ढीला छोड़ना बन्ध खोलना है।

२. उड्डीयान बन्ध—नाभि-सहित पेट को अन्दर की ओर खींचकर रीढ़ की हड्डी की ओर लगाना उड्डीयान बन्ध है।

३. जालन्धर बन्ध—होड़ी को कंठकूप (गले के नीचे का गड्ढा) में लगाकर दबाकर रखना जालन्धर बन्ध है।

प्राणायामों में इन बन्धों का उपयोग होता है।

(ख) अंगुलियों का प्रयोग—प्राणायामों में पूरक और रेचक करते समय नासिका के छिद्रों को बन्द करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए दाहिने हाथ की अंगुलियों का प्रयोग करना होता है। इसके लिए विधि यह है—

(१) दाहिनी नाक का छिद्र बन्द करने के लिए दाहिने हाथ का अंगूठा प्रयुक्त होता है। बाईं नाक का छिद्र बन्द करने के लिए दाहिने हाथ की दो अंगुलियों कनी और अनामिका (कनी के पासवाली अंगुलि) का प्रयोग होता है। शेष दो अंगुलियों (तर्जनी और मध्यमा) को अन्दर की ओर मोड़कर रखते हैं। बाएं नासिकाछिद्र (इडा) से साँस लेना होगा तो दायां नासिकाछिद्र अंगूठे से बन्द करेंगे। यदि दाहिने नासिका छिद्र से साँस लेना होगा तो बाएं नासिका-छिद्र को दाएं हाथ की कनी और अनामिका अंगुलियों से बन्द करेंगे। बाएं हाथ का उपयोग नहीं होता है।

(ग) बीजमंत्र का जप—बीजमंत्र 'ओम्' है। यह सर्वमान्य बीजमंत्र है। कुछ ग्रन्थों में रं, लं, वं आदि का भी बीजमंत्र के रूप में निर्देश है। रेचक, पूरक आदि के साथ जहाँ बीजमंत्र का उल्लेख हो, वहाँ 'ओम्' का जप करें। जप में सेकेण्ड के स्थान पर बीजमंत्र ६, १२, २४ बार जपने का उल्लेख है। वहाँ उतनी बार 'ओम्' का जप करें।

(घ) प्राणायाम के लिए सिद्धासन, पद्मासन या वज्रासन में से कोई एक आसन लगावें। साधारणतया प्रतिदिन कोई भी प्राणायाम ३ या ५ बार करें। उसके बाद धारणा, ध्यान और समाधि करें।

(ङ) तालयुक्त प्राणायाम—प्राणायाम तालयुक्त ही करना चाहिए अर्थात् १,४,२ का अनुपात हो। १ सेकेण्ड पूरक, ४ सेकेण्ड कुम्भक, २ सेकेण्ड रेचक। प्रारम्भ में १,२,१ के अनुपात से प्रारम्भ करें और अभ्यास बढ़ाकर १,४,२ का अनुपात करें। बाह्यकुंभक करना हो वह भी ४ सेकेण्ड का होगा।

आठ प्राणायामों के नाम, विधि और लाभ

हठप्रदीपिका के अनुसार ८ कुम्भक प्राणायाम ये हैं—

१. सूर्यभेदन, २. उज्जायी, ३. सीत्कारी, ४. शीतली, ५. भस्त्रिका, ६. भ्रामरी, ७. मूर्च्छा, ८. प्लाविनी।

सूर्यभेदनमुज्जायी, सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा, प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः॥ हठ० २.४४

घेरण्ड संहिता के अनुसार ८ कुम्भक प्राणायाम ये हैं—१. सहित, २. सूर्यभेद, ३. उज्जायी, ४. शीतली, ५. भस्त्रिका, ६. भ्रामरी, ७. मूर्च्छा, ८. केवली।

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका, भ्रामरी मूर्च्छा, केवली चाष्ट कुम्भकाः॥ घेरण्ड० ५.४६

दोनों सूचियों में ६ नाम समान हैं। दो में अन्तर है। घेरण्ड संहिता में सीत्कारी और प्लाविनी प्राणायाम नहीं हैं। उनके स्थान पर सहित और केवली प्राणायाम हैं। इस प्रकार प्राणायामों की संख्या १० हो जाती है।

सामान्य निर्देश—प्राणायामों के साथ बन्ध भी लगाए जाते हैं। पूरक के साथ ही मूलबन्ध भी लगावें, अर्थात् गुदा-स्थान को ऊपर खींचकर रोके रखें। उसके बाद आभ्यन्तर कुंभक करते समय जालन्धर बन्ध भी लगावें, अर्थात् हनु (ठुड्डी) को झुकाकर कंठकूप (गले के बाहर नीचे गड्ढा वाला स्थान) में लगावें। इसके बाद रेचक करते समय जालन्धर बन्ध हटा दें और उड्डीयान बन्ध लगावें। बाह्यकुंभक करते समय उड्डीयान बन्ध और मूलबन्ध लगे रहेंगे, अर्थात् पूरा साँस बाहर निकालने के बाद पेट को अन्दर की ओर खींचते हुए रीढ़ की हड्डी से मिलाने का प्रयत्न करें। इसके बाद फिर दूसरा प्राणायाम प्रारम्भ करें।

पूरक और आभ्यन्तर कुंभक के समय अपान वायु के ऊपर खींचने और जालन्धर बन्ध के कारण प्राण वायु को नीचे ढकेलने के कारण प्राण और अपान का नाभिप्रदेश में मिलन होता है। इससे पेट के सारे रोग दूर होते हैं। रेचक और बाह्य कुंभक के समय मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध लगाने से पेट का पूरा खिंचाव हो जाता है। इससे अपान वायु का प्रकोप दूर हो जाता है। अपान वायु का प्रकोप ही मृत्यु का कारण है। अतएव उड्डीयान बन्ध को मृत्युंजय (मृत्यु-रोधक) कहा जाता है।

१. सूर्यभेदन (सूर्यभेद, सूर्यभेदी) प्राणायाम

सूर्यभेदन कुंभक को सूर्यभेद और सूर्यभेदी भी कहते हैं।

विधि—अपने अभ्यस्त आसन पर शान्ति से बैठकर सूर्यनाडी (दायाँ नथुना) से धीरे-धीरे पूरा साँस भरें और जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुंभक करें। साथ ही यह भी अनुभव करें कि सिर से लेकर पैर तक प्राण वायु भर गई है। फिर चन्द्रनाडी (बायाँ नथुना) से धीरे-धीरे श्वास छोड़ें। यह एक चक्र पूरा हुआ। फिर सूर्य नाडी से पूर्ववत् श्वास भरें और कुंभक करके बाईं नाक से श्वास छोड़ें। श्वास सूर्य नाडी से ही लेना है। यह कुंभक प्रारम्भ में ३ या ५ बार करें। अभ्यास बढ़ाकर २१ बार तक करें। यह प्राणायाम गर्मी बढ़ाता है, अतः शीत ऋतु में ही करना चाहिए।

लाभ—यह प्राणायाम वात और कफ को नष्ट करता है। इससे जठराग्नि बढ़ती है, भूख खुलकर लगती है। जुकाम (प्रतिश्याय), गले के विकार, पेट के कीड़े दूर होते हैं। यह पित्त बढ़ाता है, अतः पित्त-प्रकृति वाले इसका अभ्यास न करें। यह कुंडलिनी शक्ति के जागरण में सहायक है।

दक्षनाड्या समाकृष्य, बहिस्थं पवनं शनैः।
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं शनैः॥ हठ० २.४९

२. उज्जायी प्राणायाम

विधि—अपने अभ्यस्त आसन पर बैठकर मुख को बन्द करके दोनों नथुनों से धीरे-धीरे श्वास अन्दर लें। श्वास केवल हृदय तक ही ले जाना है। कण्ठ से हृदय तक श्वास पूरी तरह भर लें। जालन्धर बन्ध लगावें। यथाशक्ति कुंभक करके बाएं नथुने से श्वास धीरे-धीरे निकालें। यह प्राणायाम ३ या ५ बार करें।

लाभ—यह भी उष्णता प्रदान करने वाला प्राणायाम है। इससे कफ-सम्बन्धी रोग दूर होते हैं, भूख बढ़ती है। इससे जलोदर रोग नष्ट होता है और धातु-सम्बन्धी दोष समाप्त होते हैं। इससे गले के विकार दूर होते हैं।

श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम्।
नाडी-जलोदराधातुगतदोष-विनाशम्॥ हठ० २.५२-५३

३. सीत्कारी प्राणायाम

विधि—इसमें नाक की जगह मुख से श्वास लिया जाता है और नाक से छोड़ा जाता है। जीभ को दोनों ओर से मोड़कर कौवे की चोंच की तरह बना लें। जीभ मुँह से कुछ आगे तक निकलेगी। मुड़ी हुई गोलाकार जीभ को आगे

निकाल-कर सी-सी की तरह शब्द करते हुए लम्बी साँस लें। कुंभक न करें और तुरन्त दोनों नाकों से वेगपूर्वक साँस निकाल दें। इसी प्रकार दुबारा मुँह से ही श्वास लें और नाक से छोड़ें। यह भी ३ या ५ बार करें।

लाभ—यह शीतलता प्रदान करता है। ग्रीष्म ऋतु में ही करना चाहिए। इससे नींद और आलस्य पर नियन्त्रण हो जाता है। शरीर की सुन्दरता बढ़ती है। भूख-प्यास का प्रभाव कम पड़ता है। इससे वाणी सुरीली बनती है।

सीत्कां कुर्यात् तथा वक्त्रे, घ्राणेनैव विजृम्भिकाम्।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते॥

हठ० २.५४-५५

४. शीतली प्राणायाम

विधि—इसमें भी नाक की जगह मुँह से श्वास लिया जाता है और नाक से छोड़ा जाता है। सीत्कारी के तुल्य जीभ को दोनों ओर से मोड़कर गोलाकार नाली की तरह बना लें। जीभ से वायु को अन्दर खींचकर कुम्भक करें। बाद में दोनों नथुनों से श्वास छोड़ें। दुबारा भी मुँह से ही श्वास लें और नाक से छोड़ें। इसको ३ या ५ बार करें। यह शीतलता प्रदान करता है, अतः इसे शीत ऋतु में न करें। गर्मी में विशेष लाभप्रद है।

लाभ—यह प्राणायाम शरीर को शीतलता प्रदान करता है। यह वायुगोला, तिल्ली बढ़ना, ज्वर, वात, पित्त और कफ के दोषों को नष्ट करता है। विष के प्रभाव को भी नष्ट करता है। उच्च रक्तचाप (High Blood-Pressure) में बहुत लाभप्रद है। उच्च रक्तचाप वाले को यह प्राणायाम ८-१० बार करना चाहिए। इससे रक्तचाप नियमित रहेगा। भूख-प्यास को भी कम करता है।

गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च॥

हठ० २.५८

५. भस्त्रिका प्राणायाम

भस्त्रिका का अर्थ लोहार की धौंकनी है। इस प्राणायाम में लोहार की धौंकनी की तरह वायु भरी जाती है और निकाली जाती है।

विधि—सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिक आसन पर बैठें। हाथ घुटनों पर रखें। पीठ, गर्दन और सिर सीधे रखें। आगे न झुकें। इसमें साँस को अन्दर भरना और छोड़ना है। कुंभक नहीं करना है। शान्ति से बैठकर जैसे लौहार की धौंकनी से वायु भरी जाती है, उसी प्रकार धीरे-धीरे लम्बा साँस खींचें और नाभि से नीचे तक ले जावें और कुंभक न करते हुए धीरे-धीरे उसी प्रकार बाहर निकालें। इस

प्रकार १० बार साँस लेना-निकालना करें। १० बार करने के पश्चात् दाहिने नथुने से पूरक करें और साथ ही कुंभक भी करें। कुंभक के बाद बाईं नाक से रेचक करें। यह एक चक्र हुआ। इस प्रकार से ३ या ५ चक्र करें। ६ चक्र पूरा करने को 'षण्मुखी कुम्भक' कहते हैं।

लाभ—यह मुख्य प्राणायामों में से एक है। भस्त्रिका त्रिदोषनानाशक है, अर्थात् वात, पित्त और कफ तीनों दोषों को नष्ट करता है। यह उष्णता प्रदान करता है, अत: गर्मी में इसे एक या दो बार से अधिक न करें। शीत ऋतु में इसे अधिक बार कर सकते हैं। यह निम्न रक्तचाप (Low blood-pressure) में विशेष उपयोगी है। निम्न रक्तचाप के रोगियों को यह ४-५ मिनट करना लाभप्रद है। यह भूख बढ़ाता है। यह नजला, जुकाम, गले के अन्य रोगों को दूर करता है। इससे स्वास्थ्य उत्तम रहता है। इससे मन स्थिर होता है। यह कुंडलिनी को जागृत करने में विशेष उपयोगी है। इससे शीघ्र प्रकाश का दर्शन होता है।

वातपित्त-श्लेष्महरं शरीराग्नि-विवर्धनम्।
कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्॥ हठ० २.६५-६६

६. भ्रामरी प्राणायाम

इस प्राणायाम में भ्रमर (भौंरा) के तुल्य पूरक और रेचक में गुंजन (ऊँ, ऊँ ध्वनि) की जाती है, अत: इसे भ्रामरी प्राणायाम कहते हैं।

विधि—सिद्धासन या अन्य आसन पर बैठकर बाएँ नासा-छिद्र से भौंरे के तुल्य ऊँ-ऊँ ध्वनि करते हुए पूरक करें। आँखे बन्द रखें और भ्रूमध्य में अपना ध्यान जमाये रहें। श्वास लेने के बाद आभ्यन्तर कुंभक करें। तत्पश्चात् दाएँ नासाछिद्र से भौंरे के तुल्य ऊँ-ऊँ करते हुए साँस छोड़ें। रेचक को कुछ लम्बा करें। इस प्रकार पूरक और रेचक में भौंरे के तुल्य ऊँ-ऊँ ध्वनि करें। सारी प्रक्रिया में मुख बन्द रहेगा। केवल नाक से साँस लेना और छोड़ना है।

घेरण्ड संहिता का कथन है कि इस प्राणायाम को करते समय हाथ से दोनों कानों को बन्द कर लें। अभ्यास बढ़ने पर कानों में धीरे-धीरे बाँसुरी, भौंरी, घण्टा, वीणा आदि की ध्वनि सुनाई पड़ने लगेगी। इसके बाद अनाहत शब्द और 'ओम्' की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। प्रकाश का दर्शन होता है। मन शान्त हो जाता है और समाधि की स्थिति बन जाती है। (घेरण्ड० ५.७२-७३)

लाभ—भ्रामरी प्राणायाम से मन शीघ्र शान्त हो जाता है। स्वरयंत्र ठीक होता है और आवाज सुरीली हो जाती है। मन की चंचलता दूर करने के लिए यह प्राणायाम विशेष उपयोगी है।

प्रथमं झिल्लिकानादं वंशीनादं ततः परम्।
एवं नानाविधो नादो जायते नित्यमभ्यासात्।
एवं भ्रामरीसंसिद्धिः समाधिसिद्धिमाप्नुयात्॥

घेरण्ड० ५.७४-७७

७. मूर्च्छा प्राणायाम

इस प्राणायाम में मूर्च्छा की सी स्थिति हो जाती है, अतः इसे मूर्छा-प्राणायाम कहते हैं।

विधि—सिद्धासन या पद्मासन में बैठकर बाएं नासाछिद्र से श्वास लेते हुए आभ्यन्तर कुम्भक करें और जालन्धर बन्ध लगावें। दृष्टि भ्रूमध्य में लगावें। मन में कोई बाहरी विचार न आने दें। जालन्धर लगाए हुए ही कुम्भक के बाद दोनों नासाछिद्रों से धीरे-धीरे वायु बाहर निकालें। कुम्भक के समय यह विचार करें कि मन सर्वथा शान्त है और कुछ मूर्च्छा (बेहोशी) सी हो रही है। श्वास बाहर निकालने के बाद फिर सीधे हो जाएँ और अब दाएं नासाछिद्र से श्वास लेकर कुम्भक करें और जालन्धर बन्ध लगावें। कुंभक के बाद पूर्ववत् जालन्धर लगाए हुए ही दोनों नाक से श्वास छोड़ें। यह प्राणायाम २-३ बार करें।

लाभ—इस प्राणायाम के अभ्यास से कैरोटिड साइनस (Carotid Sinus, विज्ञान नाड़ी) पर दबाव पड़ता है, अतः मूर्च्छा जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कैरोटिड साइनस में ज्ञानतन्तुओं का समूह एकत्र है, अतः उसपर दबाव से मूर्च्छा की अनुभूति होती है एवं मन में शान्ति उत्पन्न होती है।

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः।
रेचयेन्-मूर्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा॥ हठ० २.६९

८. प्लाविनी प्राणायाम

इस प्राणायाम में पेट को मशक की तरह फुला लेते हैं। इससे साधक फूले हुए गुब्बारे की तरह पानी पर तैर सकता है, अतः इसे प्लाविनी (तैरने वाला) प्राणायाम कहते हैं।

विधि—सिद्धासन या पद्मासन पर बैठकर नासाछिद्रों से पूरक करते हुए पेट को इतना फुला लें, जिससे वह मशक की तरह फूला हुआ हो जाय। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नासाछिद्रों से धीरे-धीरे श्वास छोड़ें, फिर दुबारा श्वास भरें। इस प्राणायाम को ३ या ५ बार करें।

लाभ—इस प्राणायाम के अभ्यास से भूख बढ़ती है, कब्ज दूर होता है। इससे अपान वायु शुद्ध होती है। इसका अधिक अभ्यास होने पर साधक पानी में बिना हाथ-पैर हिलाए तैरता हुआ रह सकता है। वह जल में नहीं डूबेगा।

अन्तःप्रवर्तितोदार-मारुतापूरितोदरः।
पयस्यगाधेऽपि सुखात् प्लवते पद्मपत्रवत्॥ हठ० २.७०

९. सहित-कुम्भक प्राणायाम

घेरण्ड संहिता में सहित-कुम्भक का उल्लेख है। सहित-कुम्भक के दो प्रकार हैं—१. सगर्भ, २. निगर्भ।

सहितो द्विविधः प्रोक्तः सगर्भश्च निगर्भकः।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निगर्भो बीजवर्जितः॥ घेरण्ड० ५.४७

१. सगर्भ सहित-कुम्भक—सगर्भ सहित-कुंभक में बीजमंत्र 'ओम्' का उच्चारण किया जाता है और निगर्भ में 'ओम्' का उच्चारण नहीं किया जाता।

विधि—सिद्धासन या पद्मासन पर बैठकर ८ बार 'ओम्' का मानसिक जप करते हुए बाएं नासाद्वार से पूरक करें। ३२ बार ओम् का जप करते हुए कुम्भक करें। फिर १६ बार ओम् का जप करते हुए रेचक करें। इसको दूसरी बार में दाएं नासाद्वार से साँस लें, पूर्ववत् कुंभक और रेचक करें। इसमें बीजमंत्र ओम् का मानसिक जप आवश्यक है। प्रारम्भ में ८ बार जप संभव न हो तो ४, १६, ८ के अनुपात से जप करते हुए इसे करें। अभ्यास बढ़ाकर क्रमशः ६ और ८ पर आ जावें। क्रमशः दोनों नाक से करते हुए ३ या ५ बार इसे करें।

२. निगर्भ सहित-कुम्भक—इसमें प्रथम से अन्तर यह है कि इसमें बीजमंत्र ओम् का उच्चारण या मानसिक जप नहीं किया जाता है। ओम् के मानस जप के साथ करना अधिक लाभप्रद है।

लाभ—इससे मन और इन्द्रियाँ शान्त होने लगती हैं। देह में स्फूर्ति, कान्ति, सामर्थ्य बढ़ते हैं। भूख-प्यास पर नियन्त्रण होता है। भ्रूमध्य में ध्यान लगाने से 'ओम्' (ॐ) अक्षर चमकने लगता है।

१०. केवली कुम्भक प्राणायाम

विधि—इसमें स्वस्तिक या सिद्धासन पर बैठकर न रेचक करें और न पूरक। जिस स्थिति में हैं, उसी स्थिति में रुक जाएँ। इस प्रकार श्वास को जहाँ का तहाँ रोककर शान्त बैठ जाना ही केवली-कुम्भक प्राणायाम है। इस समय मन में ओम् का जप करते रहें।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवल-कुम्भकः॥ हठ० २.७२

लाभ—केवली कुम्भक से श्वास-प्रश्वास की गति सम हो जाती है और वह कम होने लगती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि साँस जितना कम बार

लिया जाएगा, उतनी ही आयु बढ़ती है। जल्दी साँस लेने से आयु घटती है। यह प्राणायाम आयु बढ़ाता है और दिव्य-दृष्टि देता है।

७. परम्परागत प्राणायाम

श्री स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ 'बहिरंग योग' में इनके अतिरिक्त ६० और प्राणायामों का उल्लेख किया है। साथ ही इनकी विधि और लाभ भी दिए हैं। उनमें से कुछ उपयोगी प्राणायाम यहाँ दिए जा रहे हैं।

१. अग्निप्रदीप्त प्राणायाम

विधि—सिद्धासन या पद्मासन में बैठकर दाहिने हाथ के अंगूठे से दाएं नासाद्वार को बन्द करके बाएं नथुने से शनैः-शनैः प्राण को पूरक द्वारा मूलाधार तक इतना भर दें कि कण्ठ से मूलाधार तक कहीं भी कोई स्थान खाली न रहे। बलपूर्वक इतना साँस भरें कि छाती और मुख लाल पड़ जावें। प्रारम्भ में थोड़ा साँस भरें। अभ्यास बढ़ाते हुए कुम्भक बढ़ाते जाएँ। यदि जी घबराए तो दूसरे नथुने से रेचक करके साँस कम कर दें। साँस अधिक भर जाने पर सिर चकराने लगता है। कण्ठ से ऊपर साँस न भरें, अन्यथा मूर्च्छा आने लगती है।

लाभ—इसके अभ्यास से देह में अतिशीघ्र पसीना आने लगता है। बहुत ठण्ड में भी पसीना आ जाता है। शीत-निवारण के लिए योगी इसका अभ्यास करते हैं।

२. अनुलोम-विलोम प्राणायाम

विधि—अभ्यस्त आसन पर बैठकर दायाँ नथुना बन्द करके बाएं नथुने से वेगपूर्वक साँस बाहर निकालें। इसके बाद शीघ्रता से बाएं नथुने से ही साँस भरें। पूरा साँस भर जाने पर दाएं नथुने से वेगपूर्वक साँस बाहर निकालें। फिर शीघ्रता से ही दाएं नथुने से ही साँस भरें और बाएं नथुने से निकाल दें। इस प्रकार क्रमशः दोनों नथुनों से २०-२५ बार करें।

लाभ—इस प्राणायाम से नाक और फेफड़े का मैल नष्ट हो जाता है। जुकाम की शिकायत नहीं रहती। श्वास-प्रश्वास की गति सम हो जाने से मन शान्त हो जाता है।

३. नाड़ी-शोधन प्राणायाम

विधि—दाएं नथुने को अंगूठे से बन्द करके बाएं नथुने से धीरे-धीरे पूरा श्वास भरें और बिना कुम्भक किए दाएं नथुने से धीरे-धीरे श्वास छोड़ें। इसी प्रकार ८-१० बार बाएं नथुने से साँस भरें और दाएं से निकालें।

लाभ—इससे सभी नाड़ियों और शिराओं की शुद्धि होती है। रक्तसंचार

ठीक होता है। मन एकाग्र होता है। शरीर में स्फूर्ति आती है। नासिका के अग्रभाग में सुगन्ध का अनुभव होने लगता है।

४. प्रच्छर्दन प्राणायाम

विधि—आसन पर बैठकर दोनों नासाछिद्रों से बलपूर्वक साँस बाहर निकालें और बाह्य कुंभक करें। इससे रेचक और बाह्य कुंभक साथ-साथ हो जाते हैं। इसे ३ या ५ बार करें।

लाभ—इससे शरीर की शुद्धि होती है और मन एकाग्र होता है।

५. कपालभाति प्राणायाम

इस प्राणायाम की दो विधियाँ हैं। षट्कर्म और मुद्राओं में भी इसका उल्लेख है।

विधि-१—सिद्धासन पर बैठकर लोहार की धौंकनी के तुल्य दोनों नासाछिद्रों से शीघ्रता से रेचक करें और तुरन्त पूरक करें। इसे ५ मिनट कर सकते हैं।

विधि-२—बाएं नासाछिद्र से धीरे-धीरे पूरक करें और बिना कुंभक किए दाएं नासाछिद्र से रेचक करें। इसी प्रकार बाएं नासाछिद्र से पूरक करें और दाएं से रेचक करें। इसमें दोनों नासाछिद्रों से पृथक्-पृथक् साँस लेना और छोड़ना होता है। इसे भी ३ या ५ मिनट करें।

लाभ—इससे फेफड़ों की शुद्धि, कफ का नाश, कफज रोगों की निवृत्ति और आयुवृद्धि होती है।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी॥ हठ० २.३६

६. सूक्ष्म नाडी-शोधन प्राणायाम

इसके तीन भेद हैं—

(क) इडा-नाडी-शोधन, (ख) पिंगला-नाडी-शोधन, (ग) सुषुम्णा-नाडी-शोधन।

मेरुरज्जु (Spinal cord) के ठीक बीच में इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियाँ हैं। ये ऊपर सहस्रार चक्र से लेकर नीचे मूलाधार चक्र तक फैली हुई हैं। इन तीनों में से सुषुम्णा मध्य में है। इसके बाईं ओर इडा नाड़ी या चन्द्र नाडी है। सुषुम्णा के दाहिनी ओर पिंगला नाडी या सूर्य नाडी है। पिंगला धनात्मक (Positive) है। इडा ऋणात्मक (Negative) है और सुषुम्णा (Neutral) है। इन तीनों नाड़ियों को शुद्ध करने के लिए ये तीन प्राणायाम हैं।

इन तीनों प्राणायामों में पूरा साँस न भरके आधा श्वास ही भरा जाता है। साथ ही मानसिक क्रिया की जाती है कि श्वास के साथ ही साथ मन को ऊपर सहस्रार से लेकर नीचे मूलाधार तक ले जाते हैं और उसी प्रकार लौटते समय रेचक करते हुए मूलाधार से सहस्रार तक ले जाकर श्वास छोड़ देते हैं। मानस क्रिया में मन श्वास के साथ ऊपर से नीचे आता है और नीचे से ऊपर जाता है। तब एक चक्र पूरा होता है। तीनों प्राणायामों में ऐसे ५ या ७ चक्र प्रत्येक प्राणायाम में करें। प्राण के साथ मन का रहना आवश्यक है। साथ ही लौटते समय मूलाधार चक्र को ऊपर खींचे रहें।

(क) इडा-नाडी-शोधन—एकाग्र चित्त होकर बैठें। बाईं नाक से हलका श्वास, 'ओम्' के मानस जप के साथ, भरते हुए इडा नाडी के माध्यम से मूलाधार चक्र तक जावें और रेचक करते हुए अपान वायु को 'ओम्' के साथ ऊपर उठाते हुए सहस्रार चक्र तक ले जाकर श्वास छोड़ें। ऐसे ५ या ७ चक्र पूरे करें।

(ख) पिंगला-नाडी-शोधन—पूर्ववत् दाहिनी नाक से ओम् का ध्यान करते हुए पूरक करें और सहस्रार से मूलाधार तक जावें और रेचक के समय अपान को ऊपर खींचते हुए सहस्रार चक्र तक जाकर श्वास छोड़ें। ऐसे ५-७ चक्र पूरे करें।

(ग) सुषुम्णा-नाडी-शोधन—इसमें भी पूर्ववत् दोनों स्वरों में 'ओम्' के ध्यान के साथ श्वास भरते हुए सुषुम्णा नाडी के माध्यम से मूलाधार तक प्राण उतारें और धीरे-धीरे रेचक करते हुए अपान वायु को मूलाधार से उठाते हुए सुषुम्णा नाडी के माध्यम से ही सहस्रार चक्र तक जावें। इसे भी ५-७ बार करें।

८. बन्ध और मुद्राएँ

(क) बन्ध

शरीर के किसी अवयव को किसी प्रकार बाँधने या नियन्त्रित करने को बन्ध कहते हैं। प्राणायामों में इनकी विशेष आवश्यकता पड़ती है। बन्ध और मुद्रा में अन्तर यह है कि आसनों के साथ नाड़ियों और मांसपेशियों के नियन्त्रण को 'मुद्रा' कहते हैं। इसी को जब प्राणायाम के साथ किया जाता है, तब उसे 'बन्ध' कहते हैं।

१. मूलबन्ध

मेरुदण्ड, पृष्ठवंश या रीढ़ के सबसे अन्तिम भाग को मूल कहते हैं। यहीं पर इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों का अन्तिम भाग है। इसी स्थान पर मलद्वार (गुदा) है। मलद्वार और उसके चारों ओर के भाग को ऊपर खींचकर रोककर रखने को मूलबन्ध कहते हैं।

विधि—सिद्धासन पर बैठकर दोनों हाथ घुटनों पर रखें। श्वास अन्दर लेकर कुंभक करें, साथ ही जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध लगावें। गुदा-प्रदेश को ऊपर खींचें। फिर रेचक करके बाह्य कुम्भक करें और साथ ही मूलबन्ध लगावें। मूलबन्ध बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कुम्भकों के साथ लगता है। साधक ध्यानावस्था और अन्य समय में भी इस मूलबन्ध को लगाए रख सकते हैं।

लाभ—इससे अपानवायु की ऊपर की ओर गति होती है। अपान प्राणवायु से मिलता है। इससे पेट के रोग दूर होते हैं। दस्त-पेचिश आदि में लाभ होता है। पाचनशक्ति बढ़ती है। वीर्य की ऊपर की ओर गति होती है। साधक ऊर्ध्वरेतस् होता है। कुंडलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपर चढ़ती है।

२. उड्डीयान बन्ध (उड्यान बन्ध)

उड्डीयान बन्ध का ही संक्षिप्त रूप उड्यान बन्ध भी है। इसमें प्राण ऊपर उठकर सुषुम्णा में प्रविष्ट होता है, अतः इसे उड्डीयान कहते हैं।

विधि—यह बन्ध बैठकर और खड़े होकर दोनों प्रकार से किया जा सकता है। पहले रेचक करके श्वास पूरा बाहर निकाल दें। फिर पेट को ढीला करके उसे बलपूर्वक खींचकर मेरुदंड (रीढ़ की हड्डी) से लगावें, जिससे पेट के स्थान पर गड्ढा दिखाई पड़ने लगे। जितना पेट अन्दर खिंचेगा, उतना अच्छा है। फिर धीरे-धीरे श्वास लें। इसे ३ या ५ बार करें।

लाभ—यह मृत्युंजय बन्ध कहा जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। इससे मन्दाग्नि नष्ट होती है, भूख बढ़ती है, फेफड़े पुष्ट होते हैं। इससे हृदय पर दबाव पड़ता है, अतः हृदय के रोगी इसे न करें।

३. जालन्धर बन्ध

यह बन्ध गले के नाड़ी-समूह (नाडी-जाल) को बाँधकर रखता है, अतः इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं।

विधि—इसमें सिर को नीचे झुकाते हैं और हनु (ठोड़ी) को कण्ठकूप (गले के नीचे गड्ढे वाला स्थान) में दृढ़तापूर्वक लगाते हैं। शरीर सीधा रहे, केवल सिर झुकेगा। प्राणायाम करते समय पूरक करके आभ्यन्तर कुंभक करने पर इसे लगाते हैं। इससे श्वास कंठ से ऊपर नहीं जाता और प्राण-अपान का संयोग होता है, जिससे सभी उदर-विकार दूर होते हैं।

लाभ—इस बन्ध से कंठ सुरीला होता है। इडा और पिंगला का द्वार बन्द होने से प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करता है। इस बन्ध से मेरु-रज्जु पर तनाव पड़ता है, जिससे मेरुदण्ड ठीक रहता है। मेरुदण्ड के कशेरु यथास्थान हो जाते हैं और

Spondylitis (रीढ़ की हड्डी में अकड़न) बीमारी में लाभ होता है। गले में दबाव पड़ने से चुल्लिका और उपचुल्लिका (Thyroid and Parathyroid) ग्रन्थियाँ ठीक ढंग से काम करने लगती हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से जालन्धर बन्ध अत्यन्त उपयोगी है।

४. महाबन्ध

विधि—बाएं पैर की एड़ी को सीवनी (मलद्वार का जोड़) में लगावें और दाहिने पैर को बाईं जंघा के ऊपर रखें। बाएं नथुने से पूरक करके जालंधर बन्ध लगावें। नीचे से अपान वायु को ऊपर खींचकर मूलबन्ध लगावें और आभ्यन्तर कुंभक करें। फिर दाहिनी नाक से धीरे-धीरे रेचक करें। इसी प्रकार दूसरी बार में दाहिनी नाक से पूरक करते हुए जालंधर बन्ध लगावें। नीचे से अपान वायु को खींचकर मूलबन्ध लगावें और कुंभक करें। बाद में बाईं नाक से धीरे-धीरे रेचक करें। यह दो या तीन बार करें। (हठ० ३.१८-१९)

लाभ—इससे प्राण ऊर्ध्वगामी होता है। इडा-पिंगला-सुषुम्णा तीनों का संगम होता है। ऊपर से प्राण का दबाव और नीचे से अपान का दबाव पड़ने से नाभिस्थल पर दोनों का मेल होता है। इससे कुंडलिनी शीघ्र जागृत होती है। इससे प्रमेह, पुराना ज्वर, तिल्ली बढ़ना आदि रोग ठीक होते हैं।

५. जिह्वा बन्ध

विधि—जिह्वा को उलटकर उसे कोमल तालु (Soft Palate) से लगावें। जिह्वा का जितना अधिक भाग कोमल तालु से लगा रहेगा और कोमल तालु पर जितना दबाव पड़ेगा, उतना अच्छा है। मुख को बन्द रखें। ध्यान आदि से समय जीभ को उलट कर उसके अग्रभाग को कोमल तालु से लगाकर रखें। इससे ध्यान अधिक केन्द्रित रहता है। इसे कम से कम ५ मिनट करें।

लाभ—जीभ को उलटकर कोमल तालु से लगाकर रखने से शरीर में नव-जीवन और स्फूर्ति आती है। गले की सभी बीमारियों में यह लाभप्रद है। टान्सिल बढ़ना, कान के रोग, स्वरयंत्र के विकार, नाक के रोग आदि में यह विशेष लाभप्रद है।

(ख) मुद्राएँ (योग से संबद्ध)

हठप्रदीपिका ने १० मुद्राओं का उल्लेख किया है। ये हैं—१. महामुद्रा, २. महाबन्ध, ३. महावेध, ४. खेचरी, ५. उड्डीयान, ६. मूलबन्ध, ७. जालन्धर, ८. विपरीतकरणी, ९. वज्रोलि, १०. शक्तिचालन। (हठ० ३.६)

६. महामुद्रा

विधि—दोनों पैर फैलाकर बैठें। बाएं पैर को मोड़कर उसकी एड़ी सीवनी (गुदा-उपस्थ के मध्य का जोड़) पर लगा दें। अब साँस निकालकर आगे झुकें और दाहिने पैर के पंजे को दोनों हाथों से पकड़ लें। अब पूरक करके जालंधर बन्ध और मूलबन्ध लगावें। धीरे-धीरे प्रयत्न करें कि सिर घुटने से लग जावे। न लगे तो जहाँ तक सिर नीचे झुका सकते हों, वहाँ तक झुकावें। घुटना मुड़ना नहीं चाहिए। फिर दोनों बन्ध खोलकर धीरे-धीरे रेचक करते हुए ऊपर उठें। इस प्रकार तीन बार बायां घुटना मोड़कर करें। बाद में तीन बार दायां घुटना मोड़कर करें। दोनों ओर की संख्या बराबर रहे।

लाभ—इससे खाँसी, मन्दाग्नि, पेट के रोग, कब्ज, क्षय, प्रमेह, पुराना ज्वर, कुष्ठ, मन्दाग्नि, तिल्ली का बढ़ना आदि रोग दूर होते हैं। इससे कुंडलिनी शीघ्र जागृत होती है।

क्षय-कुष्ठ-गुदावर्त-गुल्माजीर्ण-पुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥ हठ० ३.१६

७. महावेध मुद्रा

विधि—पद्मासन लगाकर पहले पूरक करके आभ्यन्तर कुम्भक करें। अब तीनों बन्ध लगावें। घुटनों के दोनों ओर हथेलियाँ रखकर पूरे शरीर को ऊपर उठा लें और मूलाधार स्थल को भूमि पर बार-बार थोड़े झटके से रखें, जिससे मूलाधार भाग को कुछ झटका लगे। साथ ही यह ध्यान करें कि प्राण इडा-पिंगला को छोड़कर कुंडलिनी शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है। बाद में धीरे-धीरे रेचक करें। यह अभ्यास किसी गुरु के सामने ही करें।

लाभ—इससे कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है। प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करता है। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा में तीनों परस्पर संबद्ध मुद्राएँ हैं। यथासंभव इन्हें एक साथ मिलाकर करना चाहिए।

८. खेचरी मुद्रा

विधि—जीभ को उलटकर ऊपर कोमल तालु (Soft-Palate) में लगावें। जीभ को जहाँ तक अन्दर ले जा सकते हों ले जावें, उतना अच्छा है। अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में लगावें। इसको खेचरी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा में कोमल तालु के सबसे ऊपरी भाग तालु-कुहर या कपाल-कुहर तक जीभ को पहुँचाने का विधान है। यह माना जाता है कि कपाल-कुहर में इडा-पिंगला और सुषुम्णा का मेल होता है और यहाँ पर अमृत की बूंदें क्षरित होती हैं।

कपाल-कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ हठ० ३.३१

हठप्रदीपिका (३.३१ से ५३) और घेरण्ड संहिता (३.२१ से ३०) में खेचरी मुद्रा का बहुत विस्तार से वर्णन है। जीभ को लंबा करने के लिए छेदन, चालन और दोहन आदि प्रकार बताए गए हैं। जीभ की जड़ को चाकू आदि से काटने से गूंगा हो जाने की संभावना है, अतः सामान्य साधक इससे बचें। मक्खन, घी आदि लगाकर अंगुली से या वस्त्र से जीभ को खींचने की विधि को दोहन कहते हैं। यह विधि की जा सकती है।

लाभ—खेचरी मुद्रा के बहुत लाभ बताए गए हैं। हठप्रदीपिका का कथन है कि जो खेचरी मुद्रा को सिद्ध कर लेता है, उसे रोग, मृत्यु, आलस्य, निद्रा, भूख-प्यास आदि नहीं सताते। उसे कोई रोग नहीं होता और वह जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है। (हठ० ३.३८-३९)

न रोगो मरणं तन्द्रा, न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य, यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ हठ० ३.३८

९. विपरीतकरणी

इसमें शिर को नीचे और पैर को ऊपर किया जाता है, अतः इसे विपरीत-करणी मुद्रा कहा जाता है। आसनों में इसका उल्लेख है।

विधि—चादर, दरी या कम्बल पर पीठ के बल लेट जावें। हाथ बगल में रखें। साँस भरकर पैर ९० डिग्री तक की सीध में ले आवें। साँस छोड़कर दुबारा साँस भरें। पैरों को थोड़ा सिर की ओर झुकावें, झटका देकर पीठ को ऊपर उठावें, पीठ को हाथों का सहारा दें और कूल्हे की हड्डी पर दोनों ओर हाथ रखें और पूरे शरीर को हाथों पर रोकें। इस प्रकार सिर, गर्दन और पीठ का ऊपरी हिस्सा भूमि पर होगा तथा शेष सारा शरीर ऊपर उठा हुआ होगा। पीठ से पैर तक का हिस्सा ६० या ७० डिग्री का कोण बनाएगा। इस स्थिति में पहुँचकर साँस स्वाभाविक रूप से लें। जालंधर बन्ध स्वयं लग जाएगा अर्थात् ठोड़ी कंठकूप में लग जाएगी। प्रारम्भ १ या २ मिनट से करें और ३ या अधिक से अधिक पाँच मिनट करें। फिर हाथ का सहारा देकर पहले पीठ भूमि पर रखें, फिर धीरे-धीरे पैर नीचे रखें। इसके करने से खुश्की अधिक होती है, अतः ५ मिनट से अधिक न करें। घी-दूध आदि की मात्रा अधिक लेने पर ५ मिनट से अधिक कर सकते हैं।

लाभ—यह विपरीतकरणी सर्वांग-आसन का ही एक अंग है। इससे शीर्षासन वाले सारे लाभ प्राप्त हो जाते हैं। यह शीर्षासन से सरल और उतना ही

लाभप्रद है। सर्वांग में पीठ को और ऊपर उठाकर ९० डिग्री पर ले जाते हैं। उसमें पूरी पीठ ऊपर उठ जाती है। इससे भूख बढ़ती है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, झुर्री नहीं पड़ती, बाल काले हो जाते हैं। प्रतिदिन अभ्यास करने से अकाल मृत्यु नहीं होती।

हठप्रदीपिका का कथन है कि पीयूष ग्रन्थि (Pituitary gland) से जो पीयूष (अमृत) स्रवित होता है, उसे नाभिस्थित सूर्य खा जाता है, अतः बुढ़ापा आता है। इसके करने से अमृत गले में ही रुका रहता है, नाभि तक नहीं पहुँचता, अतः बुढ़ापा नहीं आने पाता।

यत् किंचित् स्रवते चन्द्राद् अमृतं दिव्यरूपिणः।
तत् सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥ हठ० ३.७६

१०. वज्रोली (वज्रोलि) मुद्रा

विधि—केमिस्टों के यहाँ रबर की बनी नली 'कैथेटर' मिलती है, उसे मूत्रेन्द्रिय में डाल कर धीरे-धीरे जल मूत्राशय तक पहुँचाया जाता है। बाद में दूध, तेल आदि खींचने का अभ्यास किया जाता है। इससे मूत्राशय स्वच्छ रहता है। सामान्य साधकों को इसके करने की आवश्यकता नहीं है।

११. शक्तिचालिनी मुद्रा

विधि—वज्रासन में बैठें। दोनों नासाछिद्रों से पूरा श्वास भरें और उसे मलद्वार में स्थित अपानवायु से मिलावें। फिर अश्विनी मुद्रा करें अर्थात् गुदा को १०-२० बार ऊपर खींचें और छोड़ें। इस स्थिति में प्रयत्न करें कि अन्दर की वायु सुषुम्णा के अन्दर प्रवेश करने लगे। साँस भरने के बाद अनेक बार अश्विनी मुद्रा करने से धीरे-धीरे सुषुम्णा में वायु का प्रवेश होने लगता है। ऐसा करने से कुंडलिनी शक्ति जागृत होने लगती है। अश्विनी मुद्रा के पश्चात् २-४ मिनट भस्त्रिका प्राणायाम करें। इससे कुंडलिनी का ऊर्ध्वगमन होता है। कुंडलिनी जागृत हुई है, इसकी पहचान यह है कि मेरुदण्ड के अन्दर सुषुम्णा में चींटियों के रेंगने जैसा अनुभव होने लगता है।

लाभ—इससे शीघ्र प्राणोत्थान होकर कुण्डलिनी जागृत होती है। आलस्य, प्रमाद दूर होता है। इसको स्वास्थ्यवर्धक और सर्वरोगनाशक कहा गया है।

१२. योनिमुद्रा

विधि—सिद्धासन पर बैठे। पहले काकी-मुद्रा करें अर्थात् जीभ को मोड़कर कौवे की चोंच के समान बना लें, ओष्ठ भी गोलाई में हो जाएंगे। इस

प्रकार गोलाकार मुंह से पूरक करके कुंभक करें। साथ ही कान आदि को पूरा बन्द कर लें। इसकी विधि यह है—दोनों अंगूठों से दोनों कान बन्द करें, दोनों तर्जनी से दोनों आँख, दोनों मध्यमा से दोनों नाक, दोनों अनामिका एवं कनिष्ठा को मिलाकर दोनों ओर से मुँह बन्द करें। इस क्रिया को 'षण्मुखी मुद्रा' कहते हैं।

इस प्रकार सब द्वार बन्द करके मन ही मन अन्दर 'ओम्' का जप करें। साथ ही यह भी विचार करें कि कुंडलिनी जागृत होकर चक्रों का भेदन करते हुए ऊपर आज्ञाचक्र में स्थित सहस्रदल कमल की ओर जा रही है। फिर रेचक करके श्वास बाहर निकाल दें। (घेरण्ड संहिता ३.३३-३८)

लाभ—इससे प्राण-अपान का मेल होता है और कुंडलिनी जागृत होकर ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। इसमें शिव-शक्ति के समागम की भावना की जाती है। कुंडलिनी शीघ्र जागृत होती है। दिव्य प्रकाश का दर्शन होता है और चक्र-दर्शन का क्रम प्रारम्भ होता है। इसके अनेक बार करने से समाधि की स्थिति आती है।

१३. उन्मनी मुद्रा

विधि—सिद्धासन या पद्मासन पर बैठकर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें। नेत्र अधखुले रखें। ध्यान आज्ञाचक्र या ब्रह्मरन्ध्र में रखें। मन में कोई विचार संकल्प या विकल्प न आने दें। मन को विचारहीन करने के कारण इसे उन्मनी मुद्रा कहते हैं। श्वास सामान्यरूप से चलने दें।

लाभ—इस मुद्रा में कोई भी विचार मन में न आने देने से अमनस्कयोग की स्थिति आ जाती है। शरीर की विस्मृति होने लगती है। प्रत्याहार की अवस्था आ जाने से बुद्धि स्थिर हो जाती है। समाधि की स्थिति आ जाती है। ज्ञान का प्रकाश उदय होने लगता है और ऋतंभरा प्रज्ञा का आभास होता है।

१४. शाम्भवी मुद्रा

विधि—सिद्धासन या पद्मासन में बैठें। 'समपृष्ठशिरोग्रीवः' होकर सीधे बैठें। नेत्रों को खुला रखें, पलकों को न हिलावें। सामने कोई लक्ष्य न रखते हुए, अमनस्क भाव से त्राटक करें। देखते हुए भी कुछ न देखें। आपका ध्यान न बटे। आपका ध्यान हृदय में स्थित कारण-शरीर की ओर रहे। इसमें त्राटक करना है। जितनी अमनस्कता होगी, उतनी ही सफलता मिलेगी। शांभवी मुद्रा की सफलता इस बात पर निर्भर है कि आँख खुली होने पर अमनस्क होने के कारण बाहर का कुछ न दिखाई पड़ना। ध्यान हृदयस्थ अन्तर्जगत् पर होगा। श्वास सामान्य रूप से चलेगा।

लाभ—इस मुद्रा की सिद्धि से उन्मनी मुद्रा के लाभ प्राप्त होते हैं। मन और बुद्धि शान्त होते हैं। साधक का ध्यान हृदय में प्रविष्ट होने लगता है। इससे

शीघ्र समाधि लगने लगती है। अन्तःकरण के तत्त्वों का साक्षात्कार सरलता से होने लगता है। शरीर की सुध-बुध भूलने लगती है और मन अन्तर्जगत् में लीन होता है। इससे मन में आनन्द की अनुभूति होती है। आँख बन्द करके ध्यान करने की अपेक्षा आँख खोलकर ध्यान लगाना कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु इसका लाभ कई गुना अधिक माना गया है।

१५. काकी मुद्रा

विधि—सिद्धासन या पद्मासन पर बैठकर, 'समपृष्ठशिरोग्रीवः' होकर सीधे रहें। ओष्ठों की सहायता से जीभ को गोल मोड़कर कौवे की चोंच की तरह बना लें। इससे पूरक करके आन्तरिक कुम्भक करें। इसके बाद 'षण्मुखी मुद्रा' करें, अर्थात् दोनों हाथ के अंगूठों से दोनों कान बन्द करें, दोनों तर्जनी से दोनों नेत्र, दोनों मध्यमा से दोनों नासाछिद्र, अनामिका और कनिष्ठा दोनों को मिलाकर ओष्ठों को दोनों ओर से बन्द करें। यथाशक्ति कुंभक करके दोनों नासाछिद्रों से धीरे-धीरे रेचक करें। इसको ४-५ बार करें।

लाभ—इससे पित्त का प्रकोप शान्त होता है। पित्तजन्य रोग नष्ट होते हैं। नेत्रों की शक्ति बढ़ती है और दिव्य ज्योति की उत्पत्ति होती है।

१६. अश्विनी मुद्रा

अश्व (घोड़ा) मल त्यागने के बाद अपनी गुदा को कई बार सिकोड़ता है और फैलाता है। अश्विनी मुद्रा में अश्व के तुल्य ही गुदा का आकुंचन और प्रसारण किया जाता है, अतः इसे अश्विनी मुद्रा कहतें हैं।

विधि—सुखासन में बैठकर गुदा को ऊपर सिकोड़ें, फिर बाहर की ओर फैलावें। इस प्रकार १०-१५ बार करें। पूरक करके या बिना पूरक किए ही इसका अभ्यास करें। इसे २-३ मिनट करें।

लाभ—इससे प्राणोत्थान और कुण्डलिनी-जागरण शीघ्र होता है। मूलाधार चक्र की शुद्धि होती है। ज्योति-दर्शन शीघ्र होता है।

१७. त्रिबन्ध-मुद्रा

इसमें जालंधर, उड्डीयान और मूलबन्ध ये तीनों बन्ध लगाए जाते हैं, अतः इसे त्रिबन्ध मुद्रा कहते हैं।

विधि—पद्मासन लगाकर बैठें। थोड़ा पूरक करें, प्रश्वास को नाभिमंडलस्थ समान वायु से मिलावें और मूलाधार से अपान वायु को ऊपर खींचे। इसके बाद तीनों बन्ध लगाकर आन्तरिक वायु को सुषुम्णा में प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करें। इसी अवस्था में रहते हुए दोनों हथेलियाँ दोनों बगल में भूमि पर रखें। इसके पश्चात् नितम्बों को उठाकर भूमि पर धीरे-धीरे झटके से रखें। ऐसा

कई बार करें। इससे प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करने लगते हैं।

लाभ—इस मुद्रा के करने से प्राण सुषुम्णा में शीघ्र प्रवेश करते हैं। कुण्डलिनी सचेत होकर ऊपर की ओर उठने लगती है और चक्र भी क्रमशः प्रकाशित होने लगते हैं।

१८. मातंगिनी मुद्रा

विधि—इसमें जल में खड़े होकर, जलनेति वाला भरा लोटा नाक में लगाकर उसका पानी अन्दर खीचें और उस पानी को मुँह से निकालें। बाद में मुँह में जल भरकर, मुँह बन्द करके, उस जल को दोनों नाकों से निकालें। फिर मुँह में पानी भरकर अन्दर साँस से झटका देकर पिचकारी की तरह दोनों नाक से उस पानी को निकालें। इस प्रकार कई बार करें।

लाभ—यह जलनेति का ही दूसरा प्रकार है। जलनेति वाले सारे लाभ इससे होते हैं। इससे मस्तिष्क, ब्रह्मरन्ध्र और नेत्रों को शीतलता मिलती है। इससे सिरदर्द, आँख दुखना, नजला, जुकाम आदि रोग नहीं होते हैं। बाल सफेद नहीं होते। दृष्टि तीव्र होती है और मुख पर कान्ति आती है।

१९. योगमुद्रा

विधि—पद्मासन लगाकर बैठें। रेचक करके बाह्य कुम्भक करें। अब तीनों जालन्धर आदि बन्ध लगावें। धीरे-धीरे आगे झुकते हुए सिर को पृथिवी से लगा दें। छाती जितना आगे झुक सके झुकावें। इस स्थिति में जितनी देर रुक सकते हो रुकें। फिर पूरक करते हुए सिर को ऊपर उठावें। यह एक चक्र हुआ। इस प्रकार ३-४ बार करें।

लाभ—इससे शरीर स्वस्थ रहता है, मन प्रसन्न रहता है, नाड़ियों की शुद्धि होती है, प्राणों को शक्ति मिलती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह मुद्रा धारणा-ध्यान-समाधि की प्रगति में सहायक है।

२०. तडागी मुद्रा

तडाग (तालाब) में जैसे पानी भर जाता है, उसी प्रकार पेट में वायु भर लेने के कारण इसे तडागी मुद्रा कहते हैं।

विधि—शवासन की मुद्रा में आसन पर लेट जावें। श्वास धीरे-धीरे अन्दर खींचे। अधिक से अधिक श्वास अन्दर खींचकर पेट को पूरा फुला लें। कुंभक करें और वायु को पेट के अन्दर इस प्रकार हिलावें, जैसे तालाब में जल हिलता है। कुम्भक के पश्चात् धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। इसे २-३ बार कर सकते हैं।

लाभ—इससे पेट के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

२१. ब्रह्ममुद्रा

इस मुद्रा में आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ चारों ओर मुड़ा जाता है, अत: इसे ब्रह्ममुद्रा कहते हैं। मान्यता है कि ब्रह्मा के चारों ओर मुँह हैं, अत: उसका यह प्रतीक है। ब्रह्ममुद्रा बैठकर और खड़े होकर दोनों प्रकार से की जाती है। जिस प्रकार अनुकूल पड़े, उस प्रकार करें। बैठकर करना हो तो सुखासन, सिद्धासन या वज्रासन पर बैठें। इसमें प्रारम्भ में श्वास भरें और एक क्रिया समाप्त होने पर श्वास छोड़ दें और दुबारा श्वास भर लें। इस प्रकार पूरक और रेचक करते रहें। इसमें कुम्भक नहीं करें।

ब्रह्ममुद्रा में चार क्रियाएँ हैं—१. आगे की ओर सिर मोड़ना और कंठकूप में ठोड़ी को लगाना। २. पीछे की ओर सिर को मोड़ना और आकाश की ओर देखना। ३. गर्दन को दाहिनी और बाईं ओर मोड़ना। ४. गर्दन को घड़ी की तरह धीरे-धीरे चारों ओर घुमाना, दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ।

विधि १ (आगे की ओर सिर मोड़ना)—बैठकर या खड़े होकर पहले श्वास भरें और गर्दन को आगे झुकाकर ठोड़ी कंठकूप (कंठ के बीच का कोमल गड्ढा) में लगावें और ५ सेकेण्ड रुकें। बाद में सिर धीरे-धीरे ऊपर ले जावें और साँस छोड़ें। यह एक चक्र हुआ। ऐसा कम से कम तीन चक्र करें।

विधि २ (सिर पीछे मोड़ना)—पहले श्वास भर लें और धीरे-धीरे गर्दन को पीछे की ओर जितना अधिक ले जा सकते हों, ले जावें, जिससे ऊपर छत या आकाश दिखाई पड़ने लगे। ५ सेकेण्ड रुके और बाद में धीरे-धीरे गर्दन सीधी कर लें और श्वास छोड़ें। ऐसे कम से कम तीन चक्र करें।

विधि ३ (गर्दन दाएं-बाएं मोड़ना)—श्वास भरकर धीरे-धीरे गर्दन दाईं ओर पूरा मोड़ें, जिससे दाहिना कंधा दिखाई पड़ने लगे, फिर गर्दन सीधी करें। श्वास छोड़कर फिर दुबारा श्वास भरकर बाईं ओर पूरा मुड़ें, जिससे बायां कन्धा दिखाई पड़ने लगे, फिर गर्दन सीधी कर लें। श्वास छोड़ दें। यह एक चक्र हुआ ऐसे कम से कम तीन चक्र करें।

विधि ४ (गर्दन चारों ओर घुमाना)—इसमें बीच में श्वास बदलते रहें। पहले गर्दन को दाईं ओर से बाईं ओर घड़ी की सुई की तरह धीरे-धीरे घुमाते हुए कम से कम ८-१० चक्कर लगावें। इसके बाद इसके उलटा करते हुए बाएं से दाईं ओर गर्दन घुमाते हुए ८-१० चक्कर लगावें। चक्रों की संख्या १० से २० भी कर सकते हैं।

इस प्रकार ४ विधियों में ब्रह्ममुद्रा पूरी होती है।

लाभ—यह अत्यन्त उपयोगी मुद्रा है। इससे रीढ़ की हड्डियाँ यथास्थान हो जाती हैं। उनका ढीलापन दूर होता है। चुल्लिका (थाइराइड) और

उपचुल्लिका (पैराथाइराइड) ग्रन्थियाँ पूर्णतया सक्रिय हो जाती हैं। स्पोन्डिलाइटिस (Spondylitis) रोग की यह अत्युत्तम चिकित्सा है। इससे थाइराइड और पैराथाइराइड सम्बन्धी सभी बीमारियाँ दूर होती हैं। गलगंड आदि रोग नहीं होते हैं। शिरोभाग की सभी ग्रन्थियाँ सक्रिय हो जाती हैं और उनसे संबद्ध सभी रोग ठीक हो जाते हैं।

(ग) मुद्राएँ (स्वास्थ्य से संबद्ध)

स्वास्थ्य से संबद्ध मुद्राओं में दोनों हाथों की अंगुलियों को निर्दिष्ट स्थान पर लगाना होता है। इसके लिए पाँचों अंगुलियों के नाम स्मरण कर लें। इनमें ये तत्त्व हैं।

१. अंगुष्ठ—अंगूठा (अग्नि तत्त्व)

२. तर्जनी—अंगूठे के पास वाली अंगुलि (वायु तत्त्व)

३. मध्यमा—बीच वाली लम्बी अंगुलि। तर्जनी के पास वाली अंगुलि (आकाश तत्त्व)।

४. अनामिका—कनी अंगुलि के पास वाली अंगुलि, जिसमें अंगूठी पहनते हैं। (पृथ्वी तत्त्व)

५. कनिष्ठिका, कनिष्ठा—कनी अंगुलि (जल तत्त्व)

आगे इन नामों से इन अंगुलियों का निर्देश किया गया है।

२२. ज्ञानमुद्रा (ध्यान मुद्रा)

विधि—ध्यान की स्थिति में बैठकर दोनों हाथ घुटनों पर रखें। तर्जनी से अंगूठे के अग्रभाग को मिलावें। शेष तीनों अंगुलियाँ खुली रखें। १० से २० मिनट तक करें। अंगुलियों से अधिक जोर का दबाव न डालें।

लाभ—इसके करने से मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है। मन एकाग्र होता है। स्मरण शक्ति बढ़ती है। अनिद्रा और तनाव दूर होता है। ध्यान में इसका विशेष उपयोग होता है। क्रोध को कम करता है।

२३. अपान मुद्रा

विधि—तर्जनी को अंगूठे के मूल में लगावें तथा मध्यमा और अनामिका को मोड़कर अंगूठे के अग्रभाग में लगावें। कनिष्ठा को सर्वथा अलग खुला हुआ रखें।

लाभ—यह मुद्रा हृदय रोगों के लिए रामबाण है। इसके करने से हार्टअटैक (Heart attack) को तुरन्त रोका जा सकता है। हृदय के रोग जैसे दिल घबराना, हृदय की गति तीव्र या मन्द होना, हृदय का धीरे-धीरे बैठना आदि में विशेष लाभ होता है। हार्ट अटैक यदि हो चुका है तो इसे ३० से ४५ मिनट

कम से कम करें। यदि प्रतिदिन इसे १५ मिनट किया जाए तो हार्ट अटैक नहीं होगा। पेट की गैस, ह्रदय की घबराहट आदि रोग इसके प्रतिदिन करने से दूर हो जाते हैं। यह अत्यन्त उपयोगी मुद्रा है।

२४. पृथ्वी मुद्रा

विधि—अनामिका पृथ्वी तत्त्व है। अंगूठे के अग्रभाग से अनामिका के अग्रभाग को हलका दबावें। इसे १५-२० मिनट करें। अन्य अंगुलियों को अलग रखें।

लाभ—यह पृथ्वी तत्त्व को बढ़ाता है। यह कमजोर व्यक्ति को हृष्ट-पुष्ट बनाता है। शारीरिक निर्बलता दूर करता है। चेतनता बढ़ती है। बीमारी के बाद इसे करने से शीघ्र निर्बलता दूर होती है। स्फूर्ति आती है। मन को शान्ति मिलती है।

२५. जल मुद्रा (वरुण मुद्रा)

विधि—कनिष्ठिका जल तत्त्व है। अंगूठे के अग्रभाग से कनिष्ठिका के अग्रभाग को हलका दबावें। यह जल मुद्रा है। अन्य अंगुलियों को अलग रखें। १५-२० मिनट करें।

लाभ—यह शरीर में जल की कमी को दूर करता है। रक्त को शुद्ध करता है। त्वचा कोमल होती है। चर्मरोगों में लाभप्रद है। मूत्र रुकने पर यह उपयोगी है। मूत्र को खोलता है।

२६. सूर्य मुद्रा

विधि—अनामिका को मोड़कर हथेली की ओर करें और अनामिका के पिछले भाग में नाखून से ऊपर के अंश को अंगूठे के अग्रभाग से हलका दबावें। इसे १५-२० मिनट करें। शेष अंगुलियों को पृथक् रखें।

लाभ—इससे अग्नितत्त्व मिलता है। इससे चर्बी घटती है, मोटापा कम होता है। पाचन शक्ति बढ़ती है। मोटापा दूर करने के लिए यह उत्तम मुद्रा है।

२७. वायु मुद्रा

विधि—तर्जनी वायुतत्त्व है। तर्जनी को मोड़कर अंगूठे के मूल (जड़) में रखें और अंगूठे से तर्जनी के पिछले भाग में नाखूनों से ऊपर के भाग को हलका दबावें। शेष तीनों अंगुलियों को अलग रखें। इसे १५-२० मिनट करें।

लाभ—इस मुद्रा से हाथ-पैर के जोड़ों में दर्द, पक्षाघात (लकवा), संधिवात (गठिया, Gout), आर्थराइटिस (Arthritis, जोड़ों में दर्द), हाथ काँपना आदि में लाभ होता है। रक्त-संचार के दोष भी दूर होते हैं। अधिक लाभ के लिए इस मुद्रा के बाद प्राणमुद्रा भी करें।

२८. प्राण मुद्रा

विधि—अनामिका और कनिष्ठिका दोनों अंगुलियों को मोड़कर एक साथ उनके अग्रभाग को अंगूठे के अग्रभाग से मिलावें और अंगूठे से हलका दबावें। इसे प्राणमुद्रा कहते हैं। शेष अंगुलियों को अलग रखें। इस मुद्रा को १५-२० मिनट करें।

लाभ—यह मुद्रा प्राणशक्ति अर्थात् जीवनी शक्ति प्रदान करती है। इससे चेतनता और स्फूर्ति आती है। थकान, आलस्य और शिथिलता दूर होती है। शरीर नीरोग रहता है। आँखों की ज्योति बढ़ती है। नेत्ररोग समाप्त होते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास से चश्मा लगाने की आवश्यकता नहीं रहती।

२९. शून्य मुद्रा

विधि—मध्यमा अंगुलि आकाश तत्त्व है। मध्यमा अंगुलि को मोड़कर अंगूठे के मूल सहित शुक्र पर्वत (अंगूठे के नीचे की गद्दी) पर रखें और अंगूठे से मध्यमा के पिछले भाग में स्थित नाखून के ऊपर के हिस्से को दबावें। यह शून्य मुद्रा है। शेष अंगुलियाँ अलग रखें। १५-२० मिनट इसे करें।

लाभ—इस मुद्रा के करने से कान के रोग, कान दर्द, बहरापन, सिर में चक्कर आना आदि रोग दूर होते हैं।

३०. लिंग मुद्रा

विधि—दोनों हाथ की अंगुलियों को परस्पर फँसाकर इस प्रकार मिलाइए कि दाहिने हाथ का अंगूठा ऊपर रहे। दाहिने हाथ के अंगूठे को ऊपर निकालिए और सीधा डंडे की तरह खड़ा रखिए। बाएं हाथ के अंगूठे से दाएं हाथ के अंगूठे को दबाए रखिए और अंगुलियों को फँसा रहने दें। इस प्रकार लिंग मुद्रा बनती है। इसे १५ या २० मिनट कीजिए।

लाभ—यह मुद्रा शरीर में उष्णता बढ़ाती है। फेफड़ों की शक्ति बढ़ाती है। शरीर में गर्मी बढ़ने से कफ और चर्बी नष्ट होते हैं। सर्दी, जुकाम, बुखार और ऋतु-परिवर्तन से होने वाले बुखार आदि को रोकता है। इस मुद्रा को करने वाले को पानी की मात्रा अधिक लेनी चाहिए। फलों का रस आदि तरल पदार्थ लें। इस मुद्रा के अभ्यास के समय प्राणायाम करना लाभप्रद है।

९. मन और प्राण का सम्बन्ध

मन और प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन प्राणों का स्वामी है। मन के आदेशानुसार प्राणों की क्रिया होती है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि मन सारे प्राणों का आधार है। मन में सारे प्राण प्रतिष्ठित हैं। प्राणों में ५० प्रतिशत

मन का अंश मिला हुआ है। अतः षड्विंश ब्राह्मण में मन को प्राणों का आधा हिस्सा कहा गया है।

(क) मनो वै प्राणानाम् अधिपतिः । शतपथ ब्रा० १४.३.२.३

(ख) मनसि वै सर्वे प्राणायामाः प्रतिष्ठिताः । शत० ७.५.२.६

(ग) अर्धभाग् वै मनः प्राणानाम् । षड्विंश ब्रा० १.५

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि प्राणतत्त्व हमारे शरीर में, शरीर के सभी अंगों में एवं शरीर के अन्दर फैले हुए गतिवाहक सूत्रों में व्याप्त है। इन सूत्रों में मनोमय कोश अपनी रश्मियों के द्वारा सारे शरीर में व्याप्त है। जैसे बिजली के तारों में विद्युत् का प्रवाह होता है, उसी प्रकार प्राणतत्त्व में मनरूपी विद्युत् का प्रवाह निरन्तर होता है। मन में विद्युत् के तुल्य प्रकाशकत्व और ज्योतिरूपता है। अतएव यजुर्वेद में कहा गया है कि मन प्रकाशों का प्रकाशक है, ज्योतिःस्वरूप है।

ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः०। यजु० ३४.१

सूक्ष्म प्राणशक्ति अन्नमय कोश से लेकर आनन्दमय कोश तक व्याप्त है। प्राण जीवनी शक्ति है। यह आनन्दमय कोश, विज्ञानमय कोश और मनोमय कोश को तृप्त करती हुई प्राणमय कोश के माध्यम से सारे शरीर में पहुँचकर अपना तेज प्रकट करती है। यह तेज 'ज्ञान' और 'क्रिया' के रूप में सर्वत्र फैला हुआ है। इसके कारण मानव के सारे व्यापार होते हैं। इस ज्योति का प्रकाश अन्नमय कोश में सबसे अधिक दिखाई देता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश क्रमशः अधिक सूक्ष्म होते चले गए हैं। ये पाँचों कोश अत्यन्त घनिष्ठता से संबद्ध हैं। इन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। प्राण की प्रत्येक गतिविधि में मन अनुस्यूत है। इसी प्रकार मन में विज्ञानमय कोश और विज्ञान में आनन्दमय कोश। आनन्दमय कोश परमात्मा का स्वरूप है। वह विज्ञानमय कोश में व्याप्त है। उसी प्रकार विज्ञान (बुद्धि) मन में और मन प्राण के प्रत्येक अणु में व्याप्त है। इस प्रकार मन और प्राण संबद्ध हैं।

❑

अध्याय ५

मनोमय कोश, प्रत्याहार और धारणा

(क) प्रत्याहार

१. प्रत्याहार का स्वरूप और उपयोगिता

प्रत्याहार क्या है?—प्रत्याहार प्रत्याहरण है, प्रतिकूल दिशा में ले जाना, अर्थात् अपनी इन्द्रियों को विषयों से विमुख करके अन्दर की ओर ले जाना। अपनी ज्ञानेन्द्रियों को विषयों की ओर न ले जाकर विपरीत दिशा में अर्थात् अन्दर की ओर ले जाना। बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्ति साधना में विघ्न है। प्रत्याहार साधना के लिए भूमिका तैयार करता है। जब ज्ञानेन्द्रियाँ बाहरी विषयों की उपेक्षा करके उनकी ओर आकृष्ट नहीं होंगी, तब साधक साधना की ओर आकृष्ट होगा। अतएव पतंजलि ने कहा है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध न रखकर चित्त के स्वरूप का अनुसरण करना प्रत्याहार है।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। योग० २.५४

इन्द्रियों का स्वभाव है चित्त का अनुसरण करना। चित्त यदि बाह्य विषयों की ओर लगा है तो इन्द्रियाँ भी बहिर्मुखी होंगी। चित्त ने यदि बाह्य विषयों से मुख मोड़ लिया है और अन्दर की ओर प्रवृत्ति की है तो इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुखी हो जाएंगी। व्यास ने अपने भाष्य में मधुमक्खियों का उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट किया है। मधुमक्खियों के प्रत्येक झुण्ड में एक रानी मधुमक्खी होती है। वह उनका पालन-पोषण करती है। वह उड़ती है तो सारी मक्षिकाएँ उड़ जाती हैं। वह जहाँ बैठती है, वहीं सारी मक्षिकाएँ बैठ जाती हैं। यही स्थिति इन्द्रियों की है। इन्द्रियाँ चित्त का अनुसरण करती हैं। चित्त बहिर्मुख है तो वे बहुर्मुखी हैं। चित्त अन्तर्मुख है तो वे अन्तर्मुखी हैं। प्रत्याहार अन्तर्मुखी प्रक्रिया को जन्म देता है।

पतंजलि ने प्रत्याहार का लाभ बताते हुए कहा है कि प्रत्याहार की साधना से इन्द्रियों पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। इन्द्रियाँ साधक की इच्छा के अनुसार ही कार्य करती हैं, अपनी इच्छा के अनुसार नहीं।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। योग० २.५५

श्रेय और प्रेय का भेद—प्रत्याहार के समझने के लिए श्रेय (श्रेयस्) और प्रेय (प्रेयस्) का ज्ञान आवश्यक है। मानव के लिए संसार में दो जीवन-पद्धतियाँ है—१. भौतिकवाद को अपनाना, २.अध्यात्मवाद को अपनाना। दोनों

पद्धतियों के कुछ लाभ और कुछ हानियाँ हैं। भौतिकता की ओर प्रवृत्ति प्रेय-मार्ग है और अध्यात्म की ओर प्रवृत्ति श्रेय मार्ग है। प्रेय मार्ग को प्रवृत्ति मार्ग और श्रेयमार्ग को निवृत्तिमार्ग कहते हैं। प्रेयमार्ग में सांसारिकता की ओर प्रवृत्ति है तथा श्रेयमार्ग में सांसारिकता से निवृत्ति या उससे विमुख होकर अध्यात्म की ओर संलग्नता है। प्रवृत्तिमार्ग भोगवाद है, व्यक्ति विषयों में आसक्त होता है, भौतिक सुखों को भोगता है और विलासितामय जीवन-यापन करता है। यह प्रवृत्तिमार्ग सामान्य जीवन के लिए उपयुक्त है। इससे मनुष्य की आजीविका चलती है। दैनिक आवश्यकता पूर्ण होती है और लौकिकता का निर्वाह होता है, परन्तु यह प्रवृत्ति मार्ग केवल अस्थायी सुख देता है। इसमें आत्मिक शान्ति, आनन्द और जीवन के लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं है। अतः तत्त्वज्ञानी व्यक्ति प्रेयमार्ग को छोड़कर श्रेयमार्ग को अपनाते हैं। श्रेयमार्ग मनुष्य को आत्मिक शान्ति, शाश्वत आनन्द और उच्च कोटि का मनोबल देता है।

कठ उपनिषद् में इस विषय का विस्तृत विवेचन है। उपनिषद् का कथन है कि मनुष्य के सामने दो मार्ग हैं—श्रेयमार्ग और प्रेयमार्ग। विद्वान् व्यक्ति प्रेयमार्ग को छोड़कर श्रेयमार्ग को ही अपनाते हैं। इसके विपरीत सामान्य व्यक्ति अपनी जीविका के निर्वाह के लिए और योगक्षेम के लिए प्रेयमार्ग को अपनाता है। जो श्रेयमार्ग को अपनाते हैं, उनका जीवन सफल होता है और जो प्रेयमार्ग अपनाते हैं, वे अपने जीवन के लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं।

(क) **श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्-**
तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ कठ उप० १.२.२

(ख) **तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति**
हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते॥ कठ उप० १.२.१

कठ उपनिषद् में इस विषय पर भी विचार किया गया है कि मनुष्य ऐसा क्यों करता है? उन्नति और आनन्द का मार्ग जानते हुए भी वह उसे क्यों नहीं अपनाता है? उत्थान और उन्नति के छोड़कर वह अवनति का मार्ग क्यों अपनाता है? इसका बहुत सुन्दर और रोचक उत्तर दिया है कि परमात्मा ने हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनाई हैं। आँख, नाक, कान आदि बाहर की ओर निकले हुए हैं। अतः मनुष्य बाहर की ओर देखता है, अन्दर की ओर नहीं। कुछ विद्वान् व्यक्ति जो अमरत्व के इच्छुक हैं, वे ही अन्दर की ओर देखते हैं। जो बाह्य विषयों में सुख समझते हैं, वे मन्दबुद्धि (मूर्ख) लोग हैं। वे अनित्य वस्तुओं में स्थायी सुख ढूंढ़ते हैं। उन्हें सुख न मिलकर दुःख ही मिलता है। स्थायी सुख और आनन्द तो

अन्तर्मुखी वृत्ति में ही मिलता है। इसलिए अन्तर्मुखी वृत्ति जीवन के लिए श्रेयस्कर है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्-
तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ कठ० उप० २.१.१

२. प्रत्याहार का स्वरूप

प्रत्याहार जीवन-निर्माण की एक प्रक्रिया है। यह जीवन का कायाकल्प है। यह जीवन को पतन की ओर जाने से रोककर उन्नति की ओर ले जाने की विधि है। तामसी वृत्तियाँ जीवन को दूषित करती हैं। वे दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और दुष्कृत्यों की ओर प्रवृत्त करती हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ, ईर्ष्या और द्वेष में मनुष्य को लगाती हैं। प्रत्याहार दुर्गुणों पर सद्गुणों की विजय का एक संकल्प है, सोपान है, अध्यवसाय है। जीवन को अपवित्रता से पवित्रता की ओर ले जाने का अभियान है। बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्ति और आसक्ति को रोककर अन्तर्दृष्टि को जागृत करने का उपक्रम है। प्रत्याहार एक सामान्य कार्य नहीं है। यह प्रयत्नसाध्य कार्य है। अशुद्ध मन को शुद्ध करने का संकल्प है। जीवन को नई दिशा देना है। जो मन अब तक अशान्त फिरता था, उसे शान्त और स्थिर करने का संकल्प है। जो इन्द्रियाँ विषयों में आसक्त थीं, उनमें विरक्ति की भावना जागृत करके उन्हें अन्तर्मुखी करना, वह प्रत्याहार का अभिप्राय है। प्रत्याहार आत्मनिरीक्षण या अन्तर्दृष्टि (Introspection) की प्रक्रिया को जागृत करता है। मनुष्य अपनी विवेक-शक्ति को जागृत करके ग्राह्य और अग्राह्य, हेय और उपादेय का निर्णय करके केवल ग्राह्य और उपादेय को अपनाता है और हेय को छोड़ देता है। इस प्रकार प्रत्याहार इन्द्रियों पर विजय और मानव के कायाकल्प की आधारशिला रखता है।

३. प्रत्याहार का व्यापक रूप

प्रत्याहार केवल अपनी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तुर्मुखी करना ही नहीं है, अपितु प्रत्याहार उच्च स्तरीय योग-साधना के लिए सुदृढ़ भूमिका का निर्माण करना है। इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है मन को पूर्णरूप से नियन्त्रित करना। मन को नियन्त्रित करने के लिए आवश्यक है उसकी चंचलता को दूर करके उसे एक लक्ष्य की ओर लगाना। मन की चंचलता तभी दूर होगी, जब वह दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और दुर्विचारों को घृणा की दृष्टि से देखे या उनकी ओर अभिरुचि न दिखावे। अतः प्रत्याहर का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और

प्रत्याहार में इन विषयों का चिन्तन भी आवश्यक हो जाता है—दुर्विचारों और दुर्भावों को कैसे हटावें, काम-क्रोध-मद-लोभ-ईर्ष्या-द्वेष-असहिष्णुता और अहंकार आदि दुर्गुणों को कैसे हटावें। इसी प्रकार निद्रा-आलस्य -प्रमाद आदि दोषों पर कैसे विजय प्राप्त करें। जबतक हृदय स्वच्छ और सात्त्विक विचारों से युक्त नहीं होता, मन में सद्भावों की स्थापना नहीं होगी और बुद्धि में सात्त्विकता नहीं आएगी, तबतक योगमार्ग में विशेष प्रगति संभव नहीं है। अतः प्रत्याहार वह साधना है, जो भू-परिष्कार का काम देती है। अवांछनीय तत्त्वों को हटाना, दोषों का निराकरण, विचारों को शुद्ध करना, पाप-भावनाओं आत्मसात् करना, पवित्र विचाररूपी बीजों का आरोपण और हृदय में प्रभु-प्रेम की ज्योति जलाना प्रत्याहार के अन्तर्गत है। प्रत्याहार वस्तुतः योगरूपी भवन की आधारशिला है।

४. प्रत्याहार आध्यात्मिक देवासुर-संग्राम

मानव के मन में निरन्तर दैवी और आसुरी शक्तियों का युद्ध चलता रहता है। आसुरी और तमोगुणी भावनाएँ घास-फूँस की तरह बहुत तीव्रता से बढ़ती हैं और वे सात्त्विक गुणों एवं दैवी शक्तियों को बढ़ने से सदा रोकती हैं। जिस प्रकार कृषि में निराई के द्वारा अवांछनीय घास-फूँस आदि को निकाला जाता है, उसीप्रकार साधना के मार्ग में दुर्विचारों, दुर्भावनाओं और दुर्गुणों-दुर्व्यसनों को समूल निकालने का प्रयत्न किया जाता है और सद्भावनाओं , सद्विचारों और सद्गुणों को जमाने का प्रयास किया जाता है। यही है अन्तर्जगत् का देवासुर-संग्राम या इन्द्र और वृत्र का युद्ध। आसुरी वृत्तियों को रोकना है, उनसे लड़ना है और उनपर विजय प्राप्त करनी है। जबतक देवों की विजय सुनिश्चित नहीं हो जाती है, तबतक योग-साधना में प्रगति संभव नहीं है। इस युद्ध में देवों को विजयी बनाना प्रत्याहार का काम है। प्रत्याहार की साधना कठोर साधना है। इस साधना में आसुरी भाव वाले काम-क्रोध-मद-लोभ-रूपी महायोद्धाओं को हराना है, ऊपर विजय प्राप्त करनी है। तभी हृदय स्वच्छ होगा, मन शिवसंकल्पों से पूर्ण होगा और बुद्धि सात्त्विक विचारों वाली होगी।

मन मर्कटतुल्य है—मन को मर्कट या वानर के तुल्य बताया गया है। यह अत्यन्त चंचल और अस्थिर है। क्षणभर भी शान्ति से बैठना नहीं जानता। जैसे बन्दर को सधाकर, शिक्षा देकर, नचाया जाता है। उसीप्रकार मन को सधाना प्रत्याहार है। मन पर यदि नियन्त्रण कर लिया जाता है, सधा लिया जाता है तो इन्द्रियाँ स्वयं वश में आ जाती हैं। इन्द्रियाँ मन के वश में हैं। मन जिधर जाता है, उधर इन्द्रियाँ जाती हैं। मन के शान्त होने पर इन्द्रियाँ भी शान्त हो जाती हैं। मन को सधाना, वश में लाना और उसे अपने आदेशानुसार कार्य करने के लिए

विवश करना यह प्रत्याहार का काम है। अतः प्रत्याहार एक कठोर साधना है। यह साधना जब सफल हो जाती है, तभी योगसाधना का मार्ग सरल, सुगम और सद्यःफलदायी हो जाता है।

५. प्रत्याहार मनोनिग्रह की कला है

प्रत्याहार मनोनिग्रह या मनोनिरोध की कला है। मैत्रायणी और शाट्यायनीय उपनिषद् का कथन है कि मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। यदि मन विषयों में आसक्त है तो वह मनुष्य के बन्धन का कारण है। यदि वह विषयों की आसक्ति से बचा हुआ है, निर्विषय है, विरक्त है तो वह मोक्ष का साधन है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्।

मैत्रायणी उप० ४.११। शाट्यायनीय उप० १

मन की दो गति हैं—१. विषयों की ओर प्रवृत्ति, २. विषयों से निवृत्ति, उदासीनता, विरक्ति या उनसे घृणा का भाव। एक पतन का मार्ग है और दूसरा उत्थान का। सामान्य मनुष्य विषयों के आकर्षण, चमक-दमक, सौन्दर्य एवं सद्यः- लाभकारिता को देखकर उधर आकृष्ट हो जाता है और अन्ततः दुःख प्राप्त करता है। ज्ञानी पुरुष विषयों के प्रति आसक्ति को दुःखान्त मानकर उनसे घृणा करता है और विरक्त होता है। इसप्रकार मन उत्थान और पतन दोनों का कारण है। प्रत्याहार मन को बाह्यविषयों से रोककर अन्तर्मुख करता है। मन अन्तर्मुख होकर शान्ति से नहीं बैठता। वह आत्मा के स्वरूप के दर्शन के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। मन का ब्रह्म या आत्मा के चिन्तन में लगना नवजीवन है। यह नवीन चेतना उसे ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए प्रेरित करती है और वह अन्ततः आत्मदर्शन का लाभ प्राप्त करता है।

शाट्यायनीय उपनिषद् का कथन है कि यह सारा संसार, मायाजाल, भोग-वासना, विषय-तृष्णा और आसक्ति चित्त (मन) का ही खेल है। जैसी मन की गति होती है, वैसा ही सुख या दुःख मनुष्य को प्राप्त होता है। यदि मन शुद्ध एवं पवित्र है, विषयों में अनासक्त है तो वह सुख और शान्ति का कारण है। इसके विपरीत यदि वह अशुद्ध है, विषयों में आसक्त है तो वह दुःख और अशान्ति का कारण है। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मन को शुद्ध रखे और आत्मिक शान्ति का मार्ग प्रशस्त करे।

चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्। शाट्या० ३

प्रत्याहार की प्रक्रिया है—मन को बलात् प्रलोभनों आदि से रोककर अन्तर्मुख करना, मन पर लगाम कसना, मन की उच्छृंखता को समाप्त करना, उसे सन्मार्ग पर लाना। सधा हुआ मन सधे हुए घोड़े या बन्दर के तुल्य साधना के मार्ग को सुखद बना देता है।

६. प्रत्याहार साधना के कतिपय विघ्न

प्रत्याहार की साधना वस्तुतः मनोनिग्रह पर आश्रित है। मन पर जब तक नियन्त्रण नहीं होगा, तबतक प्रत्याहार की साधना पूर्ण नहीं होगी। मन को नियन्त्रित करना अतिकठिन कार्य है। मन के विकार मन को निरन्तर क्षुब्ध करते रहते हैं। एक-एक विकार को दूर करने के लिए अलग-अलग प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। ईर्ष्या, द्वेष, दुर्विचार, अहंकार आदि ऐसे दोष हैं, जो जबतक समूल नष्ट नहीं होंगे, तबतक मन अशान्त रहेगा। मन को शान्त किए बिना प्रत्याहार की साधना सफल नहीं होगी। महाभारत शान्तिपर्व में साधना के विघ्नों को योगदोष कहा है और इनमें पाँच दोषों को मुख्यरूप से गिनाया है। साथ ही इनके निराकरण के उपाय भी सुझाए हैं। प़ाँच योगदोष ये हैं—१. काम, २. क्रोध, ३. लोभ, ४. भय, ५. निद्रा या आलस्य। सकाम भावना को निष्काम भावना से जीते। कामनाओं को नि:स्पृहता से या अनासक्ति की भावना से जीते। क्रोध को क्षमा की भावना से तथा शम-वृत्ति से जीते। जब भी क्रोध आवे तब उससे होने वाली हानि का विचार मन में लावे और उसे शान्त करे। लोभ के विचार को सन्तोष की भावना से जीते। भय को सतत जागरूकता से जीते और निद्रा या आलस्य को उत्साह एवं सात्त्विक भावनाओं से जीते। इसी प्रकार धैर्य और संयम का आश्रय लेकर विषय-वासना एवं असंयम को जीते। विद्वानों की संगति के द्वारा अहंकार और दम्भ को वश में करे।

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः।
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पंचमम्।
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात्॥ शान्तिपर्व २४०.४-५

इसी प्रकार चिन्ता को चिन्तन से, दुर्भावना और दुर्विचार को सद्भावना एवं सद्विचार से और मन:संयम से कुकर्मों की ओर प्रवृत्ति को रोके। मन को नियन्त्रण में न रखने से ही कुकुर्मों और दुगुर्णों की ओर प्रवृत्ति होती है।

७. मनोनिरोध के कतिपय उपाय

१. अभ्यास और वैराग्य—भगवद्गीता के अध्याय ६ में प्रश्न उठाया गया है कि मन अत्यन्त चंचल है और अत्यन्त बलवान् है। इसको वश में करना ऐसा ही है जैसे वायु पर नियन्त्रण करना। इसका उत्तर दिया गया है कि अभ्यास और

वैराग्य की भावना से मन वश में आता है। योगदर्शन में भी मनोनिग्रह के ये ही दो उपाय बताए गए हैं।

(क) असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥ गीता ६.३५

(ख) अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योग० १.१२

२. कार्य में लगाए रखना—किसी पर विजय प्राप्त करना है तो आवश्यक है कि वह प्रतिपक्षी की कमी को पकड़े। मन की सबसे बड़ी निर्बलता है कि वह एक समय में एक ही काम कर सकता है। न्यायदर्शन में मन का लक्षण दिया गया है कि मन एक समय में एक ही काम कर सकता है। उसको किसी काम में फँसा दिया जाए तो वह उतने समय दूसरा काम नहीं करेगा।

युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्याय० १.१.१३

यदि मन पठन, लेखन, चिन्तन या बौद्धिक किसी काम में फँसा हुआ है तो वह उस समय दूसरी ओर नहीं जाएगा।

३. मन की गति का निरीक्षण—एक तटस्थ व्यक्ति की तरह मन की गति पर बारीकी से ध्यान रखें। यदि आप प्रतिदिन आधा या एक घण्टा मन की गति का निरीक्षण करते हैं तो कुछ दिनों में मन स्वयं वश में आ जाएगा। आप प्रतिदिन नोट करें कि मन उस आधा या एक घण्टा समय में कितनी बार इधर-उधर भटका। आप देखेंगे कि प्रतिदिन सावधानी से मन की गति देखने से प्रतिदिन उसके भटकने की संख्या कम होती जाएगी और कुछ समय बाद उसका भटकना बन्द हो जाएगा। जैसे चोर के पीछे चौकसी के लिए पुलिस लगा दी जाए तो चोर की गति-विधि नियन्त्रित हो जाती है। इसी प्रकार तटस्थ होकर मन की गतिविधि देखें और कितनी बार मन भटका, यह नोट करें। इससे मन शीघ्र ही वश में हो जाएगा।

४. श्वास पर ध्यान लगाना और गिनना—श्वास और प्रश्वास पर ध्यान लगाना। नासिका-छिद्र के अग्रभाग पर प्रत्येक श्वास के अन्दर जाने और बाहर आने का अनुभव करना तथा उसकी गिनती करना, मन को एकाग्र करने का सरल उपाय है। ध्यान नासाछिद्र पर रखना चाहिए। श्वासों की गिनती के नाम पर मन को इधर-उधर भटकने का मौका नहीं मिलेगा। मन को चिन्ता रहेगी कि श्वासों की गिनती गड़बड़ न हो जाए। प्रारम्भ में यह श्वास-गणना का काम ५ मिनट से शुरू करें और धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाते हुए इसे आधा घण्टा या एक घण्टा कर दें। इस समय को और अधिक बढ़ा सकते हैं। बौद्धों की विपश्यना विधि में श्वास पर ध्यान रखना और उसकी गणना पर बहुत बल दिया जाता है।

यह अभ्यास सरल है और शीघ्र फल देने वाला है।

५. मौन रहना—मौन रहना भी मनोनिग्रह का एक सरल उपाय है। मौन से आधे दुर्गुण स्वयं समाप्त हो जाते हैं। चुप रहने से न किसी से विवाद होगा, न अनावश्यक वाद-विवाद और न समय का नाश। मौन से शान्ति आती है। राग-द्वेष से विरक्ति होती है। आधे विवाद अनावश्यक बोलने से होते हैं। अत राग-द्वेष, कलह-विवाद आदि से बचने के लिए मौन रहना सरल उपाय है। विपश्यना विधि में अतएव मौन को भी बहुत महत्त्व दिया गया है। संस्कृत में सुभाषित है कि मौन से सब काम सिद्ध हो जाते हैं।

मौनं सर्वार्थसाधकम्।

६. प्रबल इच्छाशक्ति—इच्छाशक्ति (Will-power) यदि प्रबल है तो कठिन से कठिन काम भी सरलता से सिद्ध हो जाते हैं। दृढ़निश्चय और अध्यवसाय महान् गुण हैं। मन की चंचलता को इच्छाशक्ति ही सरलता से रोक सकती है। मन जब भी इधर-उधर भटकता है, उसे तुरन्त रोककर काम पर लगावें।

७. मन को इन्द्रियों से संयुक्त न होने देना—मन जब इन्द्रियों से संयुक्त होता है और इन्द्रियाँ अपने विषयों से संयुक्त होती हैं, तभी बाह्य विषय अपना प्रभाव दिखाते हैं। विषयों का आकर्षण इन्द्रियों और मन को विकृत कर देता है। वहीं से सारी बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव प्रत्याहार का अभिप्राय यह है कि मन को इन्द्रियों से संयुक्त न होने दें। मन को दूसरे कामों में फँसाए रहें। जब मन खाली नहीं होगा तो वह इन्द्रियों से संयुक्त नहीं होगा।

८. स्वावलम्बन, अन्तःशक्ति का जागरण—मनोनिग्रह के लिए किसी अन्य साधन का उपयोग न करके स्वावलम्बन का आश्रय लेना अत्युत्तम है। मनुष्य की आत्मा अनन्तशक्तियों का भण्डार है। जब अपनी अन्तःशक्ति को जागृत किया जाता है, तब कठिन से कठिन कार्य सरल हो जाता है। जब मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि मैं क्या नहीं कर सकता? असंभव को संभव बना सकता हूँ। असाध्य को साध्य बना सकता हूँ और दुष्कर को सुकर बना सकता हूँ। तब मनोनिरोध भी सुकर हो जाता है। आत्मिक शक्ति जागृत होने पर नवजीवन का संचार हो जाता है। मन पर कठोर नियंत्रण हो जाता है। स्वयं मन के अनुसार चलने पर विवश होने के स्थान पर मन को अपनी इच्छा के अनुसार चलने पर बाध्य कर सकते हैं। योग का सबसे बड़ा विघ्न मन की स्वच्छन्दता है। आत्मशक्ति इसको अपने वश में कर लेती है। अतएव गीता का उपदेश है कि अपना उद्धार स्वयं करो। दूसरों पर निर्भर न रहो। अपने आपको हीन न समझो। अपनी आत्मा ही आपका सबसे बड़ा सहायक एवं साथी है। यदि आप अपनी

आत्मा में हीनता की भावना ले आते हैं या उसको तिरस्कृत करते हैं तो वह आपकी तिरस्कृत आत्मा आपके लिए शत्रुवत् हानि पहुँचाएगी। इसलिए अपनी आत्मा में कभी भी हीनता या अक्षमता का भाव न आने दें।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ गीता ६.५

साधक का कर्तव्य है कि वह अपनी अन्तःशक्ति को जागृत करे और उसके द्वारा केवल इन्द्रियों और शरीर पर ही नहीं, अपितु मन पर भी पूरा प्रभुत्व स्थापित करे। उस स्थिति में आपकी अपनी आत्मा ही आपका बन्धु, सहायक, सहयोगी और मार्गदर्शक हो जाता है।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः॥ गीता ६.६

८. सत्यं शिवं सुन्दरम्

प्रत्याहार एक प्रक्रिया है दोषों, दुर्गुणों और दुर्व्यसनों आदि को बाहर निकालने की। लोहा, सोना आदि धातुओं को शुद्ध करने की एक प्रक्रिया है, विधि है। यह विधि है—उनके मल को दूर करना, उनके दूषित तत्त्वों को जला देना और उन्हें शुद्ध एवं निर्मल कर देना। जिसमें जितनी अधिक शुचिता, निर्मलता होगी, वह उतना ही अधिक बहुमूल्य हो जाएगा और उसमें उतना ही अधिक स्थायित्व होगा। दोषों के कारण ही अस्थायिता, नश्वरता और क्षरणशीलता आती है। मानवशरीर में दोषों के कारण ही रोग, आधि-व्याधि, कृशता, अकालमृत्यु आदि हानियाँ होती हैं। प्रत्याहार दोषों को दूर करने की विधा है।

सत्यं शिवं सुन्दरम् की शिक्षा है कि—जीवन में सत्य को, शिव या मंगलकारी तत्त्व को और सुन्दरता को स्थान दो। इसके लिए आवश्यकता है—असत्य को, अशिव को और असुन्दर को हटाने की।

सत्य क्या है? जो जीवन को उच्च से उच्चतर भूमि पर ले जावे, जो जीव को अमरत्व प्रदान करे, जो जीवन में शान्ति-स्फूर्ति और शक्ति भर दे, जो जीवन में चारित्रिक गुणों का विकास करे, जो शील-संयम की पुष्टि करे और आस्तिकता का भाव सुदृढ़ करे, वह सत्य है। परमात्मा सत्य है, ब्रह्म सत्य है, आत्म-ज्योति सत्य है। सत्य में स्थायिता है, अक्षरता है, अमरत्व है। अतएव यजुर्वेद में कहा गया है कि परमात्मा ने अनृत (असत्य) में अश्रद्धा रखी और सत्य में श्रद्धा रखी।

अश्रद्धाम् अनृतेऽदधात्, श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। यजु० १९.७७

अनृत (असत्य) अवनति और पतन का कारण है। सत्य उन्नति का और विकास का साधन है। जीवन की उन्नति के लिए सत्य को अपनाना श्रेयस्कर है।

सत्य की स्थापना तभी हो सकती है, जब असत्य स्थान छोड़े। अतः असत्य को हृदय से निकालना सत्य की स्थापना के लिए भूमिका तैयार करना है।

प्रत्याहार परिष्कार, परिमार्जन या शोधन की प्रक्रिया है। असत्य की भावना को समूल नष्ट करना प्रत्याहार है। यदि असत्य को अपने हृदय से सर्वथा निकाल देते हैं तो सत्य सुप्रतिष्ठित हो सकेगा।

इसी प्रकार 'शिवम्' की स्थापना के लिए 'अशिव' अमंगल, दुःखद और अशुभ को दूर हटाना प्रत्याहार है। 'अशिव' को घर से बाहर निकालने के लिए ये कार्य करने होंगे—कुविचारों को मन में न आने देना, अशुभ भावनाओं का त्याग, ईर्ष्या-द्वेष-छल-प्रपंच आदि के भावों को हटाना, परहानि-परशोषण-परपीडन और अपकार के भावों को हृदय से दूर हटाना तथा इनके स्थान पर सद्विचार, शिवसंकल्प, परोपकार, पर-दुःख-कातरता, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि गुणों को अपने अन्दर स्थापित करना 'शिवम्' की स्थापना है।

'सुन्दरम्' का भाव केवल शारीरिक सौन्दर्य ही नहीं है, अपितु मन की सुन्दरता भी अपेक्षित है। किसी प्रकार की भी गन्दगी, अशुद्धता और मलिनता असुन्दरता है। घर की मलिनता घर की असुन्दरता है, मन की अपवित्रता, कुटिलता, क्रूरता आदि मन की असुन्दरता है, अतः सुन्दरता से अभिप्राय है—शरीर और मन को सर्वथा शुद्ध और निर्मल रखना।

यदि 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की जीवन में स्थापना कर दी जाती है तो यह प्रत्याहार की स्थापना है। कूड़े को बाहर फेंकना और स्वच्छता, पवित्रता तथा सत्य आदि गुणों की स्थापना प्रत्याहार है।

९. आत्मा परमात्मा का प्रतिनिधि है

ऋग्वेद और यजुर्वेद में जीवात्मा को अमृत-स्वरूप परमात्मा का पुत्र कहा गया है। अमृत के दो अर्थ हैं—१. अमर, २. अमृत-रूप अर्थात् आनन्दरूप। परमात्मा अमर है, नित्य है और अविनाशी है। वह आनन्दमय है, वह सब दुःखों और पापों से मुक्त है। वह शुद्ध, निर्मल और सर्वदोषों से रहित है।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। ऋग्० १०.१३.१। यजु० ११.५

पुत्र में पैतृक गुण परम्परा से आते हैं। जीवात्मा भी शुद्ध, निर्मल, चेतन और अनन्त गुणों से युक्त है। तमस् के प्रभाव से वह तामसिक गुणों से युक्त हो जाता है। पाप, अन्याय, अत्याचार, कुविचार, कुसंस्कार ये दुर्गुण जन्म से नहीं आते हैं। ये दुर्गुण संसर्ग से, माया के आवरण से, पूर्वजन्म के कुसंस्कारों और तामसिक प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न होते हैं। साधना के मार्ग में ये दुर्गुण और दोष बाधक हैं। ये प्रगति को रोकते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आदि साधना

के महाशत्रु हैं। प्रत्याहार इनका समूल उच्छेदन है। एक-एक दुर्गुण और दोष को बहुत सावधानी से नष्ट करना होता है। इसके लिए आवश्यक है कि मन में सात्त्विकता को बद्धमूल करें। यह भावना रखें कि जबतक ये दुर्गुण और दोष नहीं हटेंगे, तबतक प्रगति नहीं हो सकती है। अतः इन दुर्गुणों को हटाने के लिए कमर कसनी पड़ेगी। यह सावधानी रखनी होगी कि कोई भी दुर्गुण कहीं से प्रवेश न करने पावे। जैसे घर की सुरक्षा की लिए चोरों से सावधानी बरतनी पड़ती है, उसी प्रकार दुर्गुणों-दुर्व्यसनों आदि से सतत जागरूक रहकर उन्हें भगाना होगा या नष्ट करना होगा।

जबतक घर से कूड़ा-करकट नहीं हटाया जाएगा, देवों के बैठने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं बनाया जाएगा, तबतक देवता, दैवी भावनाएं, दिव्य संस्कार और दैवी विभूतियाँ हृदय में आकर प्रतिष्ठित नहीं होंगी। जबतक कठोर परिश्रम नहीं किया जाएगा, तबतक दैवी शक्तियों का आशीर्वाद प्राप्त नहीं होगा। प्रत्याहार ही वह विधा है, जो दैवी शक्तियों के आगमन के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। जीवात्मा में जन्मजात अनन्त शक्त्यिाँ हैं। केवल अथक परिश्रम की आवश्यकता है। दुर्गुणों, दुर्भावों, दुर्व्यसनों और अहंकार जैसे प्रबल शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए लम्बी साधना अपेक्षित है। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्रोपाख्यान में कहा गया है कि अथक परिश्रमी को ही श्री और विजय प्राप्त होती है, अतः चलते रहो, चलते रहो, प्रयत्न करते रहो, प्रयत्न करते रहो, अवश्य सफलता मिलेगी। परमात्मा प्रयत्नशील की सहायता करता है।

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति। चरैवेति, चरैवेति।
इन्द्र इच्चरतः सखा। —ऐत० ब्रा० अध्याय ३३

१०. प्रत्याहार की साधना

साधना से ही प्रत्याहार सिद्ध होता है। किसी काम में निरन्तर जुटे रहने से ही कोई अभ्यास सफल होता है। दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और दुर्विचारों को समूल नष्ट करना है, इसके लिए दीर्घकाल तक प्रयत्न अपेक्षित है। इसमें मन की एकाग्रता अपेक्षित है। मन अनेक कार्यों की ओर ध्यान न देकर केवल एक लक्ष्य को लेकर चले। सर्वथा तन्मय हो जाय। जो एक लक्ष्य को लेकर चलते हैं, उनको ही सफलता और सिद्धि मिलती है। इसके लिए एक समय निर्धारित होना चाहिए। उस समय अन्य कोई कार्य न करें। यह भावना लेकर चलें कि मैं इस कार्य को अवश्य पूरा करूँगा, नहीं तो अपना प्राण दे दूँगा।

कार्यं वा साधयेयम्, शरीरं वा पातयेयम्।

१. प्रत्याहार की साधना के लिए प्रातःकाल ४ बजे से सूर्योदय तक का समय सर्वोत्तम है। आवश्यकतानुसार रात्रि में सोने से पूर्व भी कर सकते हैं। कम से कम २० मिनट या आधा घण्टा समय दें। शान्त एकान्त स्थान में अपने अभ्यस्त आसन पर बैठिए, अपने शरीर और मन को शिथिल कर दीजिए। आँख बन्द करके चिन्तन कीजिए कि 'मैं अनन्त आकाश में विचरण कर रहा हूँ, मैं एकाकी हूँ, कोई अन्य नहीं है।' अपने आप में एकाकीपन का अनुभव कीजिए।

२. इसके बाद अनुभव कीजिए कि मेरी आत्मा से एक ज्योतिपुंज निकला है और वह मुझे चारों ओर से घेरे हुए है। इस ज्योतिपुंज के अन्दर मैं सर्वथा सुरक्षित हूँ। साथ ही यह अनुभव कीजिए कि यह ज्योतिपुंज दुर्ग की तरह अभेद्य है। कोई दुर्गुण या दुर्विचार इस दुर्ग को तोड़कर अन्दर नहीं आ सकता है।

३. इसके बाद अनुभव कीजिए कि इस ज्योतिपुंज में दुर्विचार, कुसंस्कार, दुर्व्यसन आदि जलकर नष्ट हो रहे हैं। उनकी शक्ति समाप्त हो गई है और आप विजयी हो गए हैं।

४. इसके बाद अनुभव कीजिए कि ज्योतिपुंज के अन्दर आप निश्चेष्ट, शान्त और निर्विकार भाव से बैठे हुए हैं। इसके बाद मन ही मन इन मंत्रों का ८-१० बार जप करें।

(क) **आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः**। यजु० २५.१४
मुझे शुभ विचार चारों ओर से प्राप्त हों।

(ख) **अहमिन्द्रो न परा जिग्ये**। ऋग्० १०.४८.५
मैं अजेय शक्तिवाला इन्द्र हूँ, कभी पराजित नहीं होता।

(ग) **इदम् अहम् अनृतात् सत्यमुपैमि**। यजु० १.५
मैंने असत्य का परित्याग कर दिया है, अब केवल सत्य को ही अपनाऊँगा।

(घ) **ब्रह्म वर्म ममान्तरम्**। ऋग्. ६.७५.१९
आत्मबल ही मेरा रक्षक आन्तरिक कवच है।

(ङ) **पाप्मा हतो न सोमः**। यजु० ६.३५
मेरे सारे पाप और दुर्विचार दूर हों। उत्तम गुण मेरे पास आवें।

योगचूडामणि उपनिषद् में प्रत्याहार के विषय में कहा गया है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ जो अपने विषयों की ओर आकृष्ट होती हैं, उन्हें अपने विषयों से लौटाकर अन्तर्मुखी करना प्रत्याहार है। उदाहरण दिया है कि जैसे सायंकाल के समय सूर्य अपनी किरणों को समेटने लगता है, उसी प्रकार योगी अपनी इन्द्रियों को बाहर की ओर से समेटकर अन्दर की ओर करे। प्रत्याहार का फल बताया है कि प्रत्याहार से सभी मानसिक विकार दूर होते हैं।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत् प्रत्याहरणं तेषां, प्रत्याहारः स उच्यते॥ योगचूडा० १२०
विकारं मानसं योगी, प्रत्याहारेण मुञ्चति। योगचूडा० १०९

(ख) धारणा

१. धारणा का अर्थ

धारणा क्या है ? इसका उत्तर देते हुए पतंजलि का कथन है कि अपने मन को किसी एक स्थान-विशेष या बिन्दु-विशेष पर लगा देना ही धारणा है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योग० ३.१

देश-बन्ध का भाव है—मन या चित्त को किसी एक जगह पर बाँध देना। देश शब्द बाहरी स्थान-विशेष का ही बोधक नहीं है, अपितु स्थूल या सूक्ष्म कोई भी स्थान या बिन्दु हो सकता है, जहाँ चित्त सर्वथा संलग्न हो जाय, रम जाय या वहाँ तादात्म्य का अनुभव करे।

धारणा का एक अन्य अभिप्राय है—किसी विषय में मन का लगा रहना या किसी विषय को दृढ़ता से पकड़कर रखना।

धारणेत्युच्यते चेयं, धार्यते यन्मनोऽनया।

किसी विचार, संकल्प या विश्वास को इसलिए दृढ़ता से धारण करना कि यह विचार हमें मनोवांछित फल को प्राप्त करा सकेगा। ऐसे सद्गुणों वाले विचार मनुष्य को सिद्धि की ओर अग्रसर करते हैं। वास्तविकता यह है कि मनुष्य के जैसे विचार या संकल्प होते हैं, वह वैसा ही बन जाता है। पवित्र विचारों से पवित्रात्मा और निकृष्ट विचारों से पापी। अतएव शाट्यायनीय उपनिषद् में स्पष्टरूप से कहा गया है कि मनुष्य का जैसा चित्त होगा, वैसा ही उसका संसार होगा। मनुष्य चित्त के अनुकूल होता है। इसलिए चित्त को शुद्ध करना चाहिए। चित्त की अशुद्धि ही मनुष्य को संसार के बन्धन में डालती है। गीता में इसको दूसरे शब्दों में कहा गया है कि मनुष्य श्रद्धा या विश्वास का रूप है। जिसका जैसा विश्वास होता है, वह उस विश्वास के अनुरूप ही बन जाता है।

(क) चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति, गुह्यमेतत् सनातनम्॥ शाट्या० ३
(ख) श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यत् श्रद्धः स एव सः। गीता० १७.३

२. धारणा का महत्त्व एवं उपयोगिता

धारणा योग की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। प्राणायाम और प्रत्याहार के पश्चात् धारणा की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है

कि जैसे उत्तम कृषि के लिए आवश्यक है कि क्षेत्र को पूर्णरूपेण शुद्ध किया जाए अर्थात् भू-परिष्कार किया जाए और बीज बोने योग्य बनाया जाय। उसीप्रकार प्राणायाम और प्रत्याहार शरीररूपी भूमि का परिष्कार एवं संशोधन करते हैं। इसके पश्चात् धारणा बीज-वपन का कार्य करती है। प्राणायाम ने शरीर के दोषों को एवं रोग आदि के कारणों को दूर किया, प्रत्याहार ने बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्ति और आसक्ति को दूर किया। प्रत्याहार ने साथ ही मन को अन्तर्मुखी बनाया। मन को अब अवसर मिला है कि वह अपनी प्रसुप्त शक्तियों का पता चलावे और उनका सदुपयोग करे। मन में अबतक तमोगुण और रजोगुण का प्रभाव था, अब उसमें सत्त्वगुण का समावेश करना है, सात्त्विक विचारों और भावनाओं के बीज बोने हैं। यह कार्य धारणा को करना है।

धारणा एकाग्रता की प्रक्रिया है। इसमें मन की बिखरी हुई किरणों को केन्द्रित करना है, विचारों और भावनाओं को केन्द्रित करना है, मन को एक बिन्दु पर लाना है। यह एक-लक्ष्यता की भावना है, इसको ही Concentration (एकाग्रता) कहते हैं। यह बिखरे हुए प्रकाश की Focusing (फोकस करना, केन्द्रित करना) है। प्रकाश जितना तीव्र होगा, फोकस करने पर उसकी शक्ति उतनी ही अधिक तीव्र होगी। इसप्रकार केन्द्रीकृत प्रकाश सामान्य या बिखरे हुए से सैकड़ों या हजारों गुना शक्तिशाली हो जाता है। इसी आधार पर सौर ऊर्जा (Solar energy) उत्पन्न होती है और आश्चर्यजनक कार्य करती है।

धारणा सौर ऊर्जा की तरह आन्तरिक प्रसुप्त दिव्य एवं आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करती है और अध्यात्म जगत् की विशिष्टताओं को विकसित करती है।

धारणा का दूसरा लाभ है—सात्त्विक भावों, विचारों, संकल्पों आदि के पवित्र बीजों का बोना। धारणा के द्वारा जितने पवित्र बीज बोए जाएंगे, वे ही दिव्य शक्तियों के रूप में प्रकट होंगे। धारणा या एकाग्रता के बिना उत्तम बीज न अंकुरित होंगे, न पनपेंगे और न विकसित होंगे।

धारणा और याज्ञवल्क्य—याज्ञवल्क्य स्मृति में धारणा के विषय में कुछ उपयोगी बातें दी गई हैं। याज्ञवल्क्य का कथन है कि साधक अपने आसन पर स्थिरचित्त होकर बैठे। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर रखे। दोनों आँखें बन्द करके रखे। हृदय में सात्त्विक भावना रखे। अपनी जीभ तालु में लगावे। मुँह बन्द रखे। पहले तीन प्राणायाम करे। उसके बाद धारणा करे। हृदय में दीपक के तुल्य परमात्मा विराजमान है, उसका ही शान्तिपूर्वक ध्यान करे। हृदय में परमात्मा के ध्यान से ही विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। (याज्ञ० ३.१९८ से २०३)

ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ, हृदये दीपवत् प्रभुः।
धारयेत् तत्र चात्मानं धारणां धारयन् बुधः॥
अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा।
निजं शरीरमुत्सृज्य परकाय-प्रवेशनम्।
अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेस्तु लक्षणम्॥

याज्ञ० ३.२०१-२०३

३. धारणा की विभिन्न विधियाँ

योगदर्शन के अनुसार अपने मन को किसी देश-विशेष में बाँध देना ही धारणा है। अपने शरीर में इन स्थानों में से किसी भी एक स्थान में अपने मन को लगाया जा सकता है। जैसे—नाभिस्थल, हृदय, नासिका का अग्रभाग, भृकुटी (दोनों भौंहों के बीच का स्थान), ब्रह्मरन्ध्र या सुषुम्णा नाड़ी। धारणा एक साधना-विशेष है। इससे वस्तु के बाह्य स्वरूप का दर्शनमात्र होता है, विज्ञान नहीं, क्योंकि धारणा में मन की वृत्ति शान्त नहीं होती। धारणा दो प्रकार की होती है—१. बाह्य (बाहरी विषय से संबद्ध), २. आन्तरिक (अन्दर के विषयों से संबद्ध)।

बाह्य धारणा के पाँच प्रकार

१. पार्थिव धारणा—बाह्य जगत् के किसी पार्थिव तत्त्व को लेकर उसपर ध्यान लगाना। जैसे—'ॐ' अक्षर, काला बिन्दु या चिह्न, फूल या फल, किसी महापुरुष या ऋषि आदि का चित्र, पाषाण या किसी धातु की बनी किसी ऋषि या देवता की मूर्ति को लक्ष्य में रखकर अपने मन को उसपर केन्द्रित करना।

२. जलीय धारणा—किसी नदी, सरोवर या समुद्र के तट पर बैठकर निस्तरंग एवं शान्त जल को एकाग्र दृष्टि से देखते रहना जलीय धारणा है।

३. आग्नेय धारणा—अग्नि या प्रकाश से संबद्ध किसी वस्तु को लक्ष्य में रखकर उसपर अपना ध्यान केन्द्रित करना। जैसे—मोमबत्ती या दीपक की शिखा, किसी हलके प्रकाश वाले नीले या हरे बल्ब, हवनकुंड की अग्नि की लपट या प्रातःकालीन उदय होते हुए सूर्य-बिम्ब पर ध्यान केन्द्रित करना।

४. वायवीय धारणा—नासिका से श्वास और प्रश्वास के समय अन्दर जाते और बाहर आते वायु की गति पर ध्यान केन्द्रित करना तथा वायु के शीत-उष्ण स्पर्श का निरन्तर अनुभव करना।

५. शाब्दिक धारणा—किसी भी प्रकार के शब्द या नाद पर अपना ध्यान केन्द्रित करना शाब्दिक धारणा है। जैसे—उपांशु जप के समय 'ओम्' आदि की ध्वनि पर, गंगा आदि किसी नदी के कलकल निनाद पर, भ्रामरी प्राणायाम में शब्द-गुंजन पर या अनहद (अनाहत) नाद पर मन को एकाग्र करना।

धारणा के सात प्रकार

महाभारत शान्तिपर्व में धारणा के सात प्रकारों का उल्लेख है। इसमें बाह्य पाँच और आभ्यन्तर दो धारणाओं को मिलाने से ये धारणाएँ सात प्रकार की हो जाती हैं। ये हैं—१. पार्थिव धारणा, २. जलीय धारणा, ३. आग्नेय धारणा, ४. वायवीय धारणा, ५. आकाशीय धारणा, ६. मानस धारणा, ७. बौद्धिक धारणा। ये क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होती चली गई हैं। पृथ्वी से प्रारम्भ करें। प्रत्येक पर धारणा के द्वारा अपना अधिकार प्राप्त करें और आगे उससे सूक्ष्म जल पर, फिर अग्नि पर, फिर वायु पर और उसके बाद आकाशीय धारणा पर अधिकार प्राप्त करें। आकाश के बाद मन पर और उसके बाद बुद्धि पर धारणा के द्वारा ध्यान केन्द्रित करें। इसका फल यह होता है कि योगी स्थूल और सूक्ष्म सभी जगत् पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता है। (महाभारत, शान्तिपर्व २३६.१४ से २७)

महाभारत का कथन है कि इन पृथ्वी आदि की सात धारणाओं के साथ इनके उपभेद सात 'प्रधारणा' भी हैं। ये सात प्रधारणाएँ हैं—पृथिवी आदि के सात गुण। ये हैं—पृथिवी आदि के क्रमशः सात गुण—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, अहंकार और निश्चय। इन सात प्रधारणाओं को भी सिद्ध करना होता है। तभी सिद्धि प्राप्त होती है।

सप्त या धारणाः कृत्स्ना वाग्यतः प्रतिपद्यते।
पृष्ठतः पार्श्वतश्चान्याः, तावत्यस्ताः प्रधारणाः॥ शान्तिपर्व २३६.१४

४. धारणाओं के अभ्यास की विधि

१. बिन्दु-धारणा—हठयोग में किसी एक बिन्दु पर ध्यान लगाने की विधि को त्राटक कहते हैं। मन को एक बिन्दु पर लगाने के लिए बिन्दु-धारणा उत्तम विधि है। उसके लिए आपको यह करना है—

इसके लिए आप एक १०×१५ से०मी० का एक मोटा कागज लीजिए। उस पर केन्द्र में २५ नए पैसे के नाप का एक छोटा गोल घेरा बनाइए। इसको काली स्याही से काला कर दीजिए। उसके बाद उस गोल घेरे बाहर आधा से०मी० स्थान खाली छोड़कर एक दूसरा गोल घेरा पेन्सिल से बना दीजिए। उस दूसरे गोल घेरे के बाहर, ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं ३ से०मी० लंबी काली ४ लकीरें खींच दें। इन ४ लम्बी लकीरों के बीच में फिर इनका बीच लेते हुए ४ और काली लकीरें २ से०मी० की खींच दें। इस प्रकार केन्द्र में एक छोटा गोल काला चिह्न हो गया और बाहर फैली हुई ८ काली लकीरें हो गईं।

इस कागज को किसी छोटे गत्ते पर चिपका लें और जहाँ साधना करनी हो, उस स्थान पर दीवार में टांग दें। यह गत्ता इस प्रकार टांगना है, जिससे इसका काला बिन्दु आँखों के ठीक सामने पड़े।

भूमि पर आसन बिछाकर अपने अभ्यस्त आसन पर शान्त चित्त होकर बैठ जाइए। इस प्रकार आसन पर बैठना है कि गत्ते पर बना काला गोल बिन्दु आपकी आँख के ठीक सामने पड़े। २ या ढाई फीट के अन्तर पर आपका आसन होना चाहिए। स्थिर चित्त बैठकर गत्ते पर बने काले बिन्दु पर अपना ध्यान एकाग्र करें। जब आँखें थक जाएं तो बन्द कर लीजिए। फिर आधा या एक मिनट रुककर आँख खोलकर उसी काले बिन्दु पर आँखें जमावें। यह प्रक्रिया कम से कम १५ या २० मिनट प्रातः सूर्योदय से पूर्व प्रतिदिन करें। संभव हो तो रात्रि में भी सोने से पूर्व १५-२० मिनट करें। १ या २ मास के अभ्यास के बाद बीच का काला गोल बिन्दु सूर्य के तुल्य चमकता हुआ दिखाई देगा और बाहर बनी हुई ८ काली लकीरें सूर्य की फैली हुई रंगीन किरणों के तुल्य दिखाई देंगी।

इस काले बिन्दु और इन काली लकीरों में सूर्य की सी चमक दिखाई देना आपकी साधना की सफलता का द्योतक है। वास्तविकता यह है कि लकीरों में चमक नहीं आई, अपितु आपकी आँखों में चुम्बकत्व शक्ति (Magnetic Power) विकसित होने लगी है, जिससे त्राटक के समय इन लकीरों में चमक दिखाई देती है। इसके अभ्यास का समय बढ़ा सकते हैं। जितना अधिक आप इस अभ्यास को बढ़ाएँगे। उतनी ही अधिक आप की आंखों में आकर्षण शक्ति बढ़ती जाएगी।

एक या दो वर्ष निरन्तर अभ्यास करने रहने पर आप की आंखों में इतनी आकर्षण शक्ति आ जाएगी कि आप सम्मुख बैठे हुए किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं और उससे अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करा सकते हैं। इस त्राटक की साधना के आधार ही सम्मोहन शक्ति, वशीकरण आदि की शक्ति आती है। Mesmerism (मेस्मरिज्म) और Hypnotism (हिप्नोटिज्म) आदि वशीकरण की विधाएँ इसी त्राटक की साधना के बल पर विकसित हुई हैं।

इसी अभ्यास को यदि और बढ़ाया जाए, प्रतिदिन दो या तीन घण्टे किया जाए तो दो-तीन वर्ष की साधना के बाद आँखों में इतनी आकर्षण शक्ति आ जाती है कि आप ५० या १०० व्यक्तियों की सभा को अपने वश में कर सकते हैं। वे आपके कथनानुसार कार्य करेंगे। Remote Control (दूरस्थ-नियंत्रण पद्धति) में विद्युत्-चुम्बकत्व के आधार पर दूरस्थ किसी यंत्र को नियन्त्रित किया जाता है। इस त्राटक पद्धति में आत्मिक चुम्बकत्व तैयार किया जाता है और उसके बल पर सम्मोहन शक्ति और वशीकरण शक्ति प्राप्त होती है।

इस त्राटक के दो मास के अभ्यास से आपको यह लाभ प्राप्त हो सकता है कि आप रात्रि में बिस्तर में पड़े हुए यह विचार करें कि इस समय क्या समय हुआ है तो आपकी घड़ी का चित्र आपके भ्रूमध्य में दिखाई पड़ेगा और आपको ठीक समय ज्ञात हो जाएगा। आप उठकर देख लें कि आपकी घड़ी में वस्तुतः वही समय हुआ हैं। इसी प्रकार अभ्यास बढ़ने पर आपको दूर रखे हुए समाचार पत्र आदि के मोटे शीर्षक (Head Lines) दिखाई दे जाएंगे। इसी प्रकार अभ्यास बढ़ाने पर बगल के कमरे में बैठे व्यक्तियों के चित्र आदि आपको स्पष्ट दिखाई देंगे। वे उस समय बन्द कमरे में क्या काम कर रहे हैं, यह भी आपको स्पष्ट दिखाई पड़ जाएगा। इसी त्राटक की उच्च साधना करने पर दूसरे के मन की बात आदि गुप्त बातें ज्ञात हो जाती हैं। यह त्राटक-साधना आत्मिक शक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। इसका दुरुपयोग करने पर यह शक्ति स्वयं लुप्त हो जाती है।

२. ज्योति-धारणा—ज्योति-धारणा के लिए आप मोमबत्ती, दीपक, हरा या नीला छोटा बल्ब कोई भी वस्तु ले सकते हैं। धातुनिर्मित दीपक बाजार में मिलते हैं। दीपक सबसे अधिक उपयोगी है। उसमें घी या सरसों का तेल रखें। उसको स्टूल या किसी ऊँची चीज पर रखें। भूमि पर आसन बिछाकर शान्तचित्त 'समपृष्ठ शिरोग्रीवः' सीधे बैठ जाइए। आप और दीपक के मध्य २ या ढाई फीट का अन्तर रहे। दीपक को इस ऊँचाई पर रखें कि उसकी लौ आपकी आँख के ठीक सामने रहे, न नीचे न ऊपर। दीपक के दर्शन के समय आपके श्वास सामान्य रूप से चलते रहेंगे। दीपक की अग्रशिखा (लौ) पर अपना ध्यान केन्द्रित करें। जब आँखे दुखने लगें, आँखें बन्द कर लें। आँख बन्द करने पर भ्रूमध्य (जहाँ टीका लगाते हैं) में आपको कुछ क्षण दीपक की लौ दिखाई पड़ती रहेगी। जबतक लौ की ज्योति दिखाई पड़ती रहे, तबतक आँखें बन्द रखें। जब ज्योति दिखाई देनी बन्द हो, आँख खोल लें और पूर्ववत् दीपक की लौ पर ध्यान केन्द्रित करें। थकान आने पर पूर्ववत् आँखें बन्द करें और अन्दर भ्रूमध्य में ज्योतिदर्शन करते रहें। इस प्रकार यह धारणा कम से कम २० मिनट करें। प्रारम्भ ५ मिनट से करें और क्रमशः बढ़ाते जाएं। आधा घण्टा तक इसे ले जाएं।

आप देखेंगे कि प्रारम्भ में २ या ३ मिनट देखने के बाद आँख बन्द करने पर अन्दर ज्योति १५ या २० सेकेण्ड दीखती है। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ने पर यह ज्योति एक मिनट तक दिखाई देगी। इसी प्रकार अभ्यास बढ़ने पर यह ज्योति दो मिनट हो जाएगी। इस प्रकार बाहर देखना और अन्दर ज्योतिदर्शन का समय बराबर हो जाएगा। प्रतिदिन आधा घण्टा धारणा करने पर एक मास में भ्रूमध्य में

२ या ३ मिनट तक ज्योति लगातार दिखाई पड़ेगी। आपको अन्दर ज्योति-दर्शन का समय धीरे-धीरे और बढ़ाना है। अब क्रमशः बाहर देखने का समय घटाते जाएं और अन्दर देखने का समय बढ़ाते जाएं। दो या तीन मास के अभ्यास से आप बाहर दीपक की लौ १० या १५ से० देखकर अन्दर २ या ३ मिनट देख सकेंगे। यह आपकी धारणा की सफलता की पहचान है। इस प्रकार अभ्यास बढ़ाकर अन्दर की ज्योति को १० या १५ मिनट तक दर्शन करने की शक्ति आ जाएगी। इसे प्रातः सूर्योदय से पूर्व और रात्रि में सोने से पूर्व करना उचित है।

स्मरण रखें कि भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र का स्थान है। इसी स्थान पर प्रसुप्त तीसरा नेत्र है, जिसे शिवजी का तृतीय नेत्र कहते हैं। यह 'दिव्य नेत्र' है। इसको 'सूक्ष्म नेत्र' या 'सूक्ष्म चक्षु' भी कहते हैं। साधना के द्वारा इस प्रसुप्त नेत्र को जागृत करना होता है। यह जागृत हो जाता है तो शरीर के अन्दर की सब क्रियाएँ देखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। ज्योति-धारणा इस प्रसुप्त नेत्र को जागृत करने का ही उपक्रम है। दीपक के माध्यम से इस ज्योति को जगाने का प्रयत्न इस धारणा का लक्ष्य है। इस ज्योति को भ्रूमध्य में स्थिर करने का अभ्यास करना है। इसके लिए ६ मास या एक वर्ष की सतत साधना अपेक्षित है।

३. भ्रूमध्य-धारणा—इसके लिए शान्त और एकान्त स्थान पर 'समपृष्ठ-शिरोग्रीवः' होकर स्थिर भाव से बैठें। इसके लिए उचित समय सूर्योदय से पूर्व और रात्रि में सोने से पूर्व है। शान्त भाव से बैठकर अपना ध्यान भ्रूमध्य में केन्द्रित करें। यह विचार करें कि भ्रूमध्य में कोई प्रकाश की किरण दिखाई पड़ रही है। प्रबल भावना के आधार पर आपको भ्रूमध्य में पहले कुछ धुंधला-सा प्रकाश दीखना प्रारम्भ होगा। ध्यान जमाये रखने पर १०-१५ मिनट बाद आपको कुछ मध्यम प्रकाश दीखेगा। फिर उसी ओर ध्यान लगाए रखने पर प्रकाश कुछ और स्पष्ट होगा। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद विद्युत्, धूप या दीपशिखा-सा प्रकाश दिखाई पड़ेगा। इस अभ्यास को आगे बढ़ाने में पूर्वोक्त प्रकाश-धारणा या दीपशिखा की धारणा अत्यन्त सहायक एवं उपयोगी है। दीपशिखा की धारणा पुष्ट होने पर ध्यानमात्र से आपको भ्रूमध्य में दीपक की लौ दिखाई पड़नी प्रारम्भ हो जाएगी। इस दीपशिखा को स्थिर कर लेने पर 'दिव्य नेत्र' या 'तृतीय नेत्र' के प्रबुद्ध होने में अधिक विलम्ब नहीं होता है। जैसा कि पहले बताया गया है कि भ्रूमध्य प्रकाशपुंज का केन्द्र है। यह प्रकाशपुंज प्रसुप्त है। यह प्रकाशपुंज तृतीय नेत्र के रूप में है। यही शिव जी का तृतीय नेत्र है। इसके उद्‌बुद्ध होने पर सभी चक्र खुलने लगते हैं। शरीर के सारे चक्रों का यह Main Switch है। आज्ञाचक्र के खुलने पर सारे चक्र शीघ्र खुलने प्रारम्भ हो जाते हैं।

भ्रूमध्य-धारणा का अभ्यास ध्यानयोग की दृष्टि से भी उपयोगी है। सामान्य-तया आधा घण्टा इसका अभ्यास करना चाहिए।

४. सौर-धारणा—यह सूर्य-बिम्ब की धारणा है। इसका समय सूर्योदय से लेकर सूर्योदय के आधा घण्टा बाद तक है। इसको आसन पर बैठकर या सूर्य के सामने खड़े होकर कर सकते हैं। उदय होता हुआ सूर्य सामने पड़ना चाहिए। यह साधना १५ या २० मिनट पर्याप्त है। यह साधना योग की दृष्टि से ही नहीं, अपितु स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी है। सूर्योदय के समय १५ मिनट सूर्य की किरणों को छाती पर लेना प्राय: सारे रोगों की चिकित्सा है। हृदय, सिर आदि के सभी रोगों के लिए उदय होते हुए सूर्य की अवरक्त (Infra-red) किरणें अमृत हैं। सौर-धारणा के लिए सूर्य के सन्मुख खड़े हो जाएँ। उदय होते हुए सूर्य को ३ या ४ सेकेण्ड देखें और आँख बन्द कर लें। भ्रूमध्य में सूर्य का बिम्ब दिखाई देगा। जब सूर्य-बिम्ब दिखाई देना बन्द हो जाए, तब आँख खोलकर फिर ३-४ सेकेण्ड सूर्य की ओर देखकर आँख बन्द कर लें और भ्रूमध्य में सूर्य-बिम्ब के देखते रहें। अभ्यास ५ मिनट से प्रारम्भ करके बढ़ाते हुए १५ मिनट तक ले आइए। अभ्यास बढ़ने पर १५ मिनट में ३ या ४ बार ही आपको आँख खोलने की आवश्यकता पड़ेगी।

यदि आप प्रतिदिन १५ मिनट इसका अभ्यास करते हैं तो आपकी धारणा-शक्ति बहुत बढ़ जाएगी। स्मरणशक्ति भी उसी हिसाब से बढ़ जाएगी।

५. श्वास-धारणा—यह वायवीय धारणा है। सामान्यतया यह धारणा प्रात: ४ बजे से ७ बजे तक और रात्रि में सोने से पूर्व करें। आसन पर बैठकर या खुले मैदान में खड़े होकर कर सकते हैं। इसमें श्वास के आने-जाने का प्रत्यक्षीकरण है। आसन पर बैठकर या मैदान में खड़े होकर करना है, किसी एक विधि को अपना लें। शान्तचित्त होकर बैठें। आँखें बन्द कर लें। इसमें श्वास सामान्यरूप से चलता रहेगा। इसमें कहीं साँस को रोकना नहीं है और न कोई नाक बन्द करनी है। साँस की गति पर मन को लगाना है। साँस लेते समय ध्यान दें कि साँस अन्दर जा रही है और अनुभव करें कि अन्दर जाने वाली साँस ठण्डी है। इसी प्रकार प्रश्वास अर्थात् अन्दर से बाहर आने वाली साँस पर ध्यान दें और अनुभव करें कि बाहर की ओर आ रही साँस कुछ गर्म है। अन्दर जाने वाली साँस शुद्ध वायु है, अत: वह ठंडी है। इसके विपरीत अन्दर से बाहर आने वाली साँस अशुद्ध वायु (Carbon dioxide, CO_2) है, अत: वह गर्म है। इसका कम से कम १५-२० मिनट अभ्यास करें। इसका समय सुविधानुसार बढ़ाकर आधा घण्टा या एक घण्टा कर सकते हैं।

बौद्धों की विपश्यना विधि में इसका बहुत अधिक महत्त्व है। इसमें दिनभर इसका अभ्यास किया जाता है। कितनी बार साँस ली और कितनी बार

छोड़ी, इसकी गिनती करने का विधान है। मन को एकाग्र करने की वह अत्युत्तम विधि है। इससे मन बहुत शीघ्र एकाग्र होता है।

५. धारणा के लिए आवश्यक कर्तव्य

धारणा साधना की सफलता का सोपान है। साधना के लिए कुछ आवश्यक निर्देश होते हैं, जिनके पालन से साधक सफलता प्राप्त कर सकता है। धारणा के लिए कुछ आवश्यक कर्तव्य ये हैं—

१. शान्त एकान्त स्थान का चयन—यदि स्थान शान्त और एकान्त नहीं है, तो वहाँ धारणा का ठीक अभ्यास संभव नहीं है।

२. सात्विक भावना का महत्त्व—धारणा के लिए आवश्यक है कि साधक अपने हृदय में सात्त्विक विचारों और भावनाओं को ही स्थान दे। मनुष्य की जैसी भावनाएँ होती हैं, वैसा ही उसका स्वभाव हो जाता है। जब तक हृदय में सात्त्विक भावनाएँ नहीं होंगी, धारणा सफल नहीं होगी। अतएव गीता में कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यत्-श्रद्धः स एव सः ॥ गीता १७.३

३. प्रबल अध्यवसाय—कोई भी उच्च साधना प्रबल अध्यवसाय के बिना सिद्ध नहीं होती। पहाड़ की ऊँची चोटी पर चढ़ने के लिए उतना ही बड़ा अध्यवसाय करना पड़ता है। बड़ा साहस, बहुत धैर्य और कठोर निश्चय चाहिए, तभी बड़ी सफलता मिलती है। इसके लिऐ 'करो या मरो' **'कार्यं वा साधयेयं, शरीरं वा पातयेयम्'** 'कार्य को पूरा करूँगा, नहीं तो जान दे दूँगा' जैसा कठोर व्रत लेना पड़ता है, तभी उच्च लक्ष्य प्राप्त होता है।

४. उच्च मनोबल—किसी भी बड़ी सफलता के लिए मनोबल बहुत ऊँचा रखना पड़ता है। उच्च मनोबल (Will-power) साधक का संबल है। उच्च मनोबल ही उसके मार्ग के विघ्नों को दूर करता है। उच्च मनोबल के आधार पर ही साधक बड़ी से बड़ी विपत्तियों को सहन करने के लिए तैयार रहता है।

५. दृढ़ संकल्प—दृढ़ विचार, दृढ़ निश्चय और दृढ़ संकल्प बड़े से बड़े लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक हैं। **'संकल्पजाः सिद्धयः'** सिद्धियाँ दृढ़ संकल्प पर निर्भर होती हैं। साहसी और दृढ़ निश्चयी की सहायता परमात्मा करता है। इतना दृढ़ संकल्प होना चाहिए कि चाहे जो भी परिस्थिति हो मैं उसका सामना करूँगा। ऋग्वेद का कथन है कि पर्वत भी मेरे निश्चय को नहीं रोक सकते हैं।

न पर्वतासो यदहं मनस्ये। ऋग्० १०.२७.५

६. मन की एकलक्ष्यता—किसी भी साधना की सफलता के लिए आवश्यक है कि मन को उसी एक लक्ष्य की ओर निरन्तर लगाए रख जाए।

दिन-रात उसी लक्ष्य का चिन्तन किया जाए और उसके लिए प्रयत्नशील रहा जाए। एक लक्ष्यता कठिन से कठिन लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक होती है। धारणा का अभ्यास एकलक्ष्यता का ही अभ्यास है।

७. मौन का अभ्यास—धारणा की सफलता के लिए मौन रहना भी आवश्यक है। मौन से मन शान्त रहता है। राग-द्वेष से बचा रहता है। परनिन्दा, परस्तुति एवं आत्मप्रशंसा से विरत रहता है। मौन से किसी अन्य से विवाद नहीं होता, न कटु शब्द मुख से निकलते हैं, न क्रोध का अवसर आता है, अतः साधना की सफलता के लिए जितना अधिक मौन रहा जाए, उतना श्रेयस्कर है।

८. अनुशासन-पालन—इसमें ये सभी कार्य सम्मिलित हैं—धारणा का नियमित अभ्यास, भोजन पर नियन्त्रण, शुद्ध सात्त्विक भोजन ही करना, काम-क्रोध आदि से बचना, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का पालन करना, अधिक श्रम न करना, स्वाध्यायोपयोगी ग्रन्थों को ही पढ़ना, दिनचर्या नियमित रखना।

६. धारणा के लाभ

धारणा षष्ठ योगांग है। यह अन्तर्जगत् को प्रबुद्ध करने का प्रबल प्रयास है। धारणा मानव के अन्दर प्रसुप्त रूप से विद्यमान दिव्य शक्तियों को जागृत करने का उपक्रम है। मानव के अन्दर असंख्य दिव्य शक्तियाँ हैं। अनन्त शक्तिरूपी रत्न भरे हुए हैं, उनके उत्खनन का प्रयास है। जितना ढूंढ़ा और खोजा जाएगा, उतनी ही सफलता प्राप्त होगी। दिव्य शक्तियों का कहीं अन्त नहीं है। जहाँ तक खोद सकेंगे, उतना मिल जाएगा। समुद्र में जितनी गहराई तक पहुँच पाएंगे, वहाँ तक के ही रत्न एकत्र कर सकेंगे। जितनी बड़ी साधना होगी, उतना ही बड़ा पुरस्कार प्राप्त होगा। कुछ लाभ ये हैं—

१. मनोनिग्रह—योगचूडामणि उपनिषद् का कथन है कि धारणा के द्वारा मन स्थिर होता है अर्थात् मन पर नियन्त्रण होता है। साथ ही इससे साधक में असाधारण चेतनता या स्फूर्ति आती है। धारणा मनोनिग्रह या मनोनिरोध का सर्वोत्तम उपाय है।

धारणाभिर्मनो धैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्। योग० ११०

२. मनोदोषनिवारण—मनुस्मृति में धारणा का लाभ बताया गया है कि इससे मन के सारे दोष दुर्भावना दुर्विचार आदि नष्ट होते हैं। प्राणायाम से शारीरिक रोग आदि दोष दूर होते हैं तो धारणा से मानसिक दोष नष्ट होते हैं।

प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्। मनु० ६.७२

३. आत्मदर्शन का सोपान—याज्ञवल्क्य स्मृति का कथन है कि धारणा आत्मा के दर्शन का मार्ग प्रशस्त करता है। मनुष्य के हृदय में परमात्मा दीपक

के तुल्य विराजमान है। धारणा का आश्रय लेकर हृदय में विद्यमान आत्मा का ध्यान करे।

ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत् प्रभुः।
धारयेत् तत्र चात्मानं धारणां धारयन् बुधः॥ याज्ञ० ३.२०१

४. स्मरणशक्ति की वृद्धि—धारणा के अभ्यास से स्मरणशक्ति बढ़ती है। स्मृति तीव्र होती है।

५. मन की शान्ति—धारणा से मन को शान्ति मिलती है। इससे स्नायविक उत्तेजना शान्त होती है। तनाव से मुक्ति होती है। सहसा क्रोध आना या काम आदि के विकारों पर विजय प्राप्त होती है।

६. सूक्ष्म दृष्टि—प्रत्येक विषय को सूक्ष्मता से देखने की शक्ति आती है। साधक में सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को समझने की योग्यता आ जाती है। वह प्रत्येक विषय को बारीकी से समझना और जानना चाहता है।

७. स्वास्थ्य में उन्नति—धारणा के अभ्यास से मन की चंचलता दूर हो जाती है, अतः तनाव, उद्विग्नता आदि नष्ट हो जाते हैं। इससे मानसिक शान्ति रहती है। इससे निरन्तर प्रसन्नता रहती है और स्वास्थ्य में उन्नति होती है।

८. प्रकाश-दर्शन—धारणा के अभ्यास से भ्रूमध्य में धीरे-धीरे ज्योति या प्रकाश का दर्शन होने लगता है। यह प्रकाश-दर्शन आत्मदर्शन का मार्ग प्रशस्त करता है।

❑

अध्याय ६

मनोमय कोश, ध्यान

१. ध्यान का अर्थ

ध्यान का अर्थ है—ध्यान करना, चिन्तन करना, उस वस्तु के स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना। प्रत्याहार और धारणा के पश्चात् ध्यान का स्थान है। प्रत्याहार में बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाया गया। धारणा में उस अन्तर्मुखी वृत्ति के बिखराव को रोककर एक लक्ष्य पर नियन्त्रित किया गया। यह इसी प्रकार है, जैसे गाय आदि किसी पशु को एक खूँटे पर बाँधकर नियन्त्रित कर देना। इसके पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि पशु को किसलिए खूंटे पर बाँधा गया, चित्तवृत्तियों को धारणा के द्वारा क्यों एक स्थान पर नियन्त्रित किया गया? इस प्रश्न का उत्तर है—ध्यान, ध्यान के लिए, चिन्तन के लिए, आत्मा के स्वरूप के ज्ञान के लिए, आत्मा के साथ तादात्म्य या घनिष्ठता स्थापित करने के लिए। लोहे आदि धातु को अग्नि के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए अग्नि में पड़कर उसके स्वरूप को धारण करना पड़ता है। अग्नि में पड़ा-पड़ा लोहा अग्नि के गुणों को धीरे-धीरे आत्मसात् करता है और अन्त में अग्निवत् या अग्नितुल्य दाहकता आदि गुणों से युक्त हो जाता है। यही प्रक्रिया ध्यान की है। इसमें भी चित्तवृत्तिरूपी लोहे को आत्मतत्त्वरूपी अग्नि में डालकर तद्रूप होने के लिए या तादात्म्य स्थापित करने के लिए ध्यान या चिन्तन की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। धीरे-धीरे उसमें आत्मतत्त्व के गुण ज्ञानवृद्धि, चेतनता, शान्ति, आत्मबल, आनन्दानुभूति आदि गुण आने लगते हैं। अथक परिश्रम और सतत अभ्यास से इन गुणों की धीरे-धीरे वृद्धि होती चली जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि मन की चंचलता दूर होती है, मन की अशान्ति दूर होती है, राग-द्वेष से निवृत्ति होती है। बाह्य विषयों से घृणा उत्पन्न होती है और साम्य, सोम्यता, सद्भाव, शालीनता, समवेदना, उदारता, धीरता, मनोबल आदि गुण विकसित होते हैं।

योगदर्शन ने ध्यान का लक्षण दिया है—अपने लक्ष्य या ध्येय के विषय में चित्तवृत्तियों का अविच्छिन्न प्रवाह बना रहना ध्यान है। धारणा में जो मन की एकाग्रता स्थापित हुई थी, उस एकाग्रता को उसी रूप में अपने लक्ष्य आत्मदर्शन में बिना किसी व्यवधान के लगाए रखना ध्यान है। सांख्यदर्शन ने इसी भाव को दूसरे शब्दों में कहा है कि पहले अपने मन को बाह्यविषयों से पृथक् करे और फिर अपने लक्ष्य पर केन्द्रित करे।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। योग० ३.२
ध्यानं निर्विषय मनः। सांख्य० ६.२५

ध्यान वह विज्ञान है जो प्रसुप्त शक्तियों को जागृत करता है, छिपे हुए रहस्यों को बाहर निकालता है, आत्मा की अनन्त शक्तियों को उजागर करता है, आत्मा की एक-एक परत को उद्घाटित करते हुए उसकी गहराई में जाता है, कुसंस्कारों को नष्ट करके सुसंस्कारों, शुभ गुणों और शुभ विचारों के बीज को हृदय में बोता है। प्रत्येक साधना के मूल में ध्यान है। ध्यान आत्मोन्नति का सर्वोत्तम साधन है। ध्यान परिष्कृत भूमि में बीज बोने का उपक्रम है। ध्यान साधना को सिद्धि में परिवर्तित करने की प्रक्रिया है।

२. ध्यानयोग के आधार १२ योग

महाभारत शान्तिपर्व में ध्यानयोग के आधारभूत १२ योग-प्रक्रियाओं का उल्लेख है। ये हैं—

छिन्नदोषो मुनिर्योगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश।
देशकर्मानुरागार्थान् उपायापाय-निश्चयैः॥
चक्षुराहार-संहारैर्मनसा दर्शनेन च॥

शान्तिपर्व २३६.३-४

१. देशयोग—किस स्थान पर ध्यानयोग लगाना है, इस पर विचार करना। शान्त, एकान्त, निर्विघ्न स्थान पर ध्यान लगाना देशयोग है।

२. कर्मयोग—ध्यानयोग के लिए उपयोगी कर्मों को करना। जैसे—आहार-विहार ठीक रखना, नियमित रूप से दैनिक क्रियाकलाप करना, ठीक समय पर सोना और जागना, जीवन को नियमित और संयमित बनाना, यह कर्मयोग है।

३. अनुराग योग—ध्यानयोग में श्रद्धा और प्रेम की भावना से प्रवृत्त होना। परमात्मा और उसकी प्राप्ति के उपायों में श्रद्धा और विश्वास रखना अनुरागयोग है।

४. अर्थयोग—ध्यानयोग के लिए जितनी सामग्री अपेक्षित है, उससे अधिक सामग्री न रखना। अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करते हुए केवल अत्यावश्यक सामग्री अपने पास रखना अर्थयोग है।

५. उपाययोग—ध्यानयोग के लिए जो आसन और प्राणायाम आदि उपयोगी हैं, उनका विचार रखना उपाययोग है।

६. अपाययोग—क्या कर्म त्याज्य हैं, उनका विचार करना। जैसे—विषयों में आसक्ति, अपने परिवार और सगे-सम्बन्धियों आदि से माया-ममता आदि का परित्याग करना अपाययोग है।

७. **निश्चययोग**—वेद-शास्त्र के वचनों पर विश्वास और गुरुजनों के उपदेशों पर आस्था निश्चययोग है।

८. **चक्षुर्योग**—अपनी दृष्टि पर नियन्त्रण। **'भद्रं पश्येम'** भला ही देखें, इस पर ध्यान रखना और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर रखना चक्षुर्योग है।

९. **आहारयोग**—शुद्ध और सात्त्विक भोजन ही करना आहारयोग है।

१०. **संहारयोग**—विषयों की ओर होने वाली मन और इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकना संहारयोग है।

११. **मनोयोग**—मन को संकल्प-विकल्पों से रहित करके एकाग्र करना मनोयोग है।

१२. **दर्शनयोग**—जन्म, मृत्यु, जरा, रोग, भोग, शोक आदि के कारण होने वाले दु:ख और दोषों को तटस्थ होकर देखना और विरक्ति की भावना को जागृत करना दर्शनयोग है।

ये १२ योग ध्यानयोग के अंग हैं। इन १२ योगों का विधिवत् पालन से ध्यानयोग दृढ़ और सफल होता है।

३. ध्यानयोग की आवश्यकता एवं उपयोगिता

ध्यानयोग के विवेचन के साथ ही यह प्रश्न उठता है कि ध्यानयोग क्यों करें? इसकी जीवन में क्या उपयोगिता है? क्या इसके अभ्यास से कुछ विशेष लाभ होता है? इत्यादि। ध्यानयोग एक असाधारण साधना है। यह मानव को देवत्व में परिवर्तित करने की विधा है। यह मानव में दैवी गुणों के आधान की प्रक्रिया है। जिस प्रकार अग्नि में पड़कर लौह, सुवर्ण आदि न केवल अपने मल और दोषों को दूर करते हैं, अपितु उनमें अग्नि के गुण आ जाते हैं। इसी प्रकार ध्यान आदि की साधना न केवल मानव के कुसंस्कार, कुविचार, दुर्गुण, व्यसन आदि दोषों को दूर करके स्वच्छ निर्मल और पवित्र बनाती है, अपितु दैवी गुणों, सुसंस्कारों और सात्त्विक भावनाओं को प्रविष्ट करके मानव को देव के रूप में प्रतिष्ठित करती है। दैवी शक्तियों के अवतरण के लिए ध्यानयोग भूमिका तैयार करता है। दैवी शक्तियों के लिए परिष्कृत भूमि चाहिए, पवित्र स्थान चाहिए और अतिपवित्र हृदय चाहिए। ध्यानयोग इन आवश्यकताओं को पूर्ण करता है।

प्रत्येक मनुष्य की कामना रहती है कि श्रेष्ठ बने, यशस्वी बने, उच्चकोटि का विद्वान् बने, उसे जीवन में शान्ति प्राप्त हो, वह मानसिक तनाव आदि से बचा रहे, वह कुछ असाधारण कार्य कर सके, उसकी शक्ति और सामर्थ्य बढ़ सके इत्यादि। इन कामनाओं की पूर्ति के लिए कुछ अध्यवसाय अपेक्षित है। वह अध्यवसाय धारणा और ध्यानयोग पूर्ण करते हैं। ध्यानयोग इन उद्देश्यों को पूर्ण करता है—

१. ध्यानयोग का प्रमुख उद्देश्य है—मन को एकाग्र करने के साथ ही उसे नियत विषय में तन्मय कर देना।

२. मन को व्यवस्थित और नियन्त्रित करना।

३. विचारों को नियन्त्रित करके एक लक्ष्य की ओर अग्रसर करना।

४. एकाग्रता की शक्ति उत्पन्न करके उससे बौद्धिक प्रखरता प्राप्त करना।

५. अपनी संकल्प-शक्ति को किसी एक लक्ष्य पर केन्द्रित करके उसके चमत्कारी परिणाम प्राप्त करना।

६. अपने मनोबल से चेतना की रहस्यमयी परतों को उभारना।

७. अवांछनीय कुसंस्कारों, कुविचारों और दुर्गुणों का समूल उन्मूलन करना।

८. वांछनीय सुसंस्कारों, सद्विचारों और सत्प्रवृत्तियों का प्रतिष्ठापन और संवर्धन।

९. प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मन को सन्तुलित बनाए रखना।

१०. प्रत्येक स्थिति में मन में आनन्द और उल्लास बनाए रखना।

११. अपने लक्ष्य-रूप आत्मा के गुणों को अपने अन्दर लाने का सतत प्रयास करना।

१२. अपने विद्युत्‌रूपी विचारों के संपर्क-क्षेत्र को बढ़ाना और उसके द्वारा वातावरण में सुख-शान्ति के संवर्धक तत्त्वों को बढ़ाकर लोक-मंगल का मार्ग प्रशस्त करना।

ध्यानयोग प्रसुप्त जीवन-ज्योति को जागृत करने की प्रक्रिया है। यह जीवन-ज्योति जागृत होकर मानव की समस्त मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों को विकसित करती है तथा स्थायी शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

४. ध्यानयोग साधना की त्रिवेणी

ध्यानयोग यह त्रिवेणी-संगम है। इसकी तीन प्रमुख धाराएं हैं। ये हैं—१. भक्तियोग, २. ज्ञानयोग, ३. कर्मयोग।

इनमें भक्तियोग रसप्रधान सरस गंगा की धारा है। कर्मयोग कर्मप्रधान यमुना की धारा है। ज्ञानयोग ज्ञानप्रधान सरस्वती की धारा है। तीनों का समन्वय त्रिवेणी है। इनमें भक्तियोग जीवन में सरसता, प्रेम, स्नेह, ममता, समवेदना और श्रद्धा को जन्म देकर नीरस में सरसता, दुर्भाव के स्थान पर सद्भाव, घृणा के स्थान पर प्रेम और ईश्वर के प्रति श्रद्धा की भावना उत्पन्न करता है। इससे तल्लीनता, तन्मयता और समर्पण की भावना जागृत होती है। इसमें गंगा की सी शीतलता, आह्लादकता और आकर्षण है।

कर्मयोग कर्मठता का प्रतीक यमुना की धारा है। यह **'चरैवेति चरैवेति'** का आदर्श सम्मुख रखकर सतत श्रमशीलता, अध्यवसाय-प्रियता, परहित-चिन्तन, परोपकार और निष्काम कर्म करने की प्रवृत्ति को विकसित करता है। यह आलस्य, निद्रा, अनुत्साह और अकर्मण्यता को दूर भगाता है। मैं प्रयत्न के द्वारा अपने सभी लक्ष्य प्राप्त करूँगा, इस प्रकार मनोबल बढ़ाकर साधना को नवीन स्फूर्ति देता है। कर्म ही दुर्लभ से दुर्लभ मनोरथों की पूर्ति का साधन है। **'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'** (अथर्व० ७.५०.८) अर्थात् मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बाएं हाथ में विजय और सफलता। कर्मयोग सफलता के इस रहस्य का उद्घाटन करता है।

ज्ञानयोग सरस्वती की प्रतीक ज्ञानधारा है। यह कर्तव्यबुद्धि, विवेक, विवेचन, विश्लेषण और कर्तव्य-निर्धारण की क्षमता देता है। अव्यवस्था को व्यवस्था में बदलता है, अन्धकार को प्रकाश में परिवर्तित करता है, लक्ष्यहीनता को एकलक्ष्यता में रूपान्तरित करता है। ज्ञानयोग ही हेय और उपादेय में से उपादेय को ही अपनाने की बुद्धि देता है। असंग, अनासक्ति, विषयों से उपरति, दुर्भावों के त्याग एवं दुर्गुणों के निराकरण का तात्त्विक अर्थ बताता है। इसीलिए गीता में ज्ञानयोग को सबसे पवित्र मार्ग बताया गया है।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता ४.३८

भगवद्गीता में इन योगों का विशद वर्णन प्राप्त होता है। उसका सारांश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) ध्यान-योग

गीता में ध्यानयोग कैसे प्रारम्भ किया जाए, आहार-विहार कैसा हो, इत्यादि का भी विवरण दिया गया है। ध्यानयोग के साधक के लिए आवश्यक है कि वह ध्यान के लिए एकान्त स्थान चयन करे। शान्त एकान्त स्थान में आसन बिछाकर उसपर पीठ गर्दन और सिर को एकसीध में रखते हुए, मन को संयत करते हुए साधना प्रारम्भ करे। साधक के लिए आवश्यक है कि उसका आहार सात्त्विक हो, दिनचर्या नियमित हो, सभी कार्य समयबद्ध हों तथा सोने और उठने का समय निश्चित हो। साधक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह भोजन पर भी ध्यान दे। न अधिक खावे और न सर्वथा उपवास करे। न अधिक सोवे और न अधिक जागे।

युक्ताहार-विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता ६.१७

पहले सब ओर से अपने ध्यान को हटाकर अन्तर्मुख होकर प्रयत्न करे कि कोई बाहरी विचार मन में न आवे। मन यदि इधर-उधर जाता है तो उसको धैर्य से रोके और आत्मचिन्तन में ही उसे लगाकर रखे। धीरे-धीरे अभ्यास करने से

मन में एकाग्रता आएगी और वह शान्त एवं निश्चेष्ट होगा। जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखा हुआ दीपक शान्त एवं निश्चेष्ट होता है, उसी प्रकार साधक की अवस्था होती है। वह अन्तर्मुख होकर केवल आत्मदर्शन में ही लगा रहता है।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किंचिदपि चिन्तयेत्। गीता ६.२५
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ गीता ६.१९

ध्यानयोग के साधक में समत्व बुद्धि विकसित हो जाती है। वह अनुभव करता है कि जो आत्मा मेरे अन्दर है, वही सब जीवों में है। वह सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है और उनके प्रति समवेदना का भाव जागृत करता है। साथ ही वह अपने सुख-दुःख में भी समत्व बुद्धि रखता है, अर्थात् वह सुख में अधिक प्रसन्नता व्यक्त नहीं करता है और न दुःख में दुःख की अनुभूति करता है। वह सुख-दुःख को समान रूप से स्वीकार करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ गीता ३.२९

मन की चंचलता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा गया है कि मन अत्यन्त चंचल है। उसको वश में करना ऐसा ही कठिन है, जैसे वायु को रोककर रखना। साथ ही इसका उपाय भी बताया गया है कि अभ्यास और वैराग्य की भावना से मन वश में आ जाता है। अभ्यास का अभिप्राय है—जप आदि या साँस के आने-जाने पर ध्यान लगाने से मन धीरे-धीरे वश में आने लगता है। कुछ समय के अभ्यास के बाद मन की चंचलता समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार विषयों में आसक्ति की भावना को कम करने से मन की चंचलता कम या समाप्त होती है।

चंचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद्-दृढम्। गीता ६.३४
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते। गीता ६.३५

गीता में ध्यानयोग के विषय में निर्देश है कि साधक 'अनन्यचेताः' अर्थात् एकाग्रचित्त हो। वह सारी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अन्तर्मुख हो, मन को हृदय में स्थिर करे और 'ओम्' (एकाक्षर ब्रह्म) का जप करता रहे। इस प्रकार नियमित-रूप से करने वाला साधक परमगति को प्राप्त करता है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं, स याति परमां गतिम्॥
अनन्यचेताः सततं, यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ, नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ गीता ८.१३-१४

गीता का कथन है कि जो साधक अन्य सब कामों को छोड़कर अनन्य भाव से परमात्मा का स्मरण करता है, परमात्मा उसका उद्धार करता है। अतएव केवल परमात्मा का ध्यान करे और परमात्मा में ही अपने मन को लगावे। इस प्रकार वह परमात्मा में लीन हो जाता है।

अनन्येनैव योगेन, मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्ता, मृत्यु-संसार-सागरात्॥
मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय॥ गीता १२.६-८

गीता में ध्यानयोग को ज्ञानयोग से उत्कृष्ट माना गया है। ध्यानयोग से भी उत्कृष्ट कर्मफल-त्याग अर्थात् निष्काम कर्मयोग है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्, ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः, त्यागात् शान्तिरनन्तरम्॥ गीता १२.१२

गीता में ध्यानयोग को महत्त्व देते हुए कहा गया है कि जो साधक बाह्य विषयों से अपना ध्यान हटाकर, राग-द्वेष छोड़कर, मन-वाणी-शरीर को वश में करके, अहंकार, गर्व, काम, क्रोध, संग्रहवृत्ति को त्यागकर, एकान्तवासी होकर ध्यानयोग करता है। वह ब्रह्मरूप हो जाता है।

ध्यानयोगपरो नित्यं, वैराग्यं समुपाश्रितः।
अहंकारं बलं दर्पं, कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ गीता १८.५१ से ५३

गीता में योगसाधना के विषय में एक रोचक प्रसंग उठाया गया कि यदि कोई साधक किसी विशेष परिस्थिति के कारण अपनी साधना छोड़ देता है या उसकी साधना भंग हो जाती है तो क्या उसकी सारी साधना व्यर्थ गई? इसका उत्तर दिया गया है कि कोई भी सत्कर्म नष्ट नहीं होता है। उसका फल अवश्य मिलता है। वह सत्कर्म संचित कर्म के रूप में विद्यमान रहता है और कष्ट या विपत्ति के समय साधक की रक्षा करता है। शुभ कार्य करने वाले की कभी दुर्गति नहीं होती।

(क) नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्॥ गीता २.४०
(ख) नहि कल्याणकृत् कश्चिद्, दुर्गतिं तात गच्छति। गीता ६.४०

(ख) भक्तियोग

ध्यानयोग या साधना की दृष्टि से भक्तियोग प्रथम सोपान है। भक्तियोग साधना के लिए भूमि तैयार करता है। यह भू-परिष्कारं का काम करता है। भूमि को शुद्ध करके बीज बोने योग्य बनाता है। यह साधना के प्रति प्रेम, श्रद्धा और

अभिरुचि बढ़ाता है। जबतक साधना के प्रति अभिरुचि या दिलचस्पी नहीं होगी, कोई साधक उधर प्रवृत्त नहीं होगा। जहाँ भक्ति या प्रेम है, वहाँ विषय के प्रति आकर्षण है। अभिरुचि की तीव्रता ही प्रेम और श्रद्धा को जन्म देती है। भक्ति हृदय को आर्द्र बनाती है। आर्द्र (गीली) भूमि में ही बीज बोना संभव है। जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए आवश्यक है कि मिट्टी को गीला किया जाए। बिना मिट्टी को गिला किए घड़ा बनाने की प्रक्रिया ही शुरू नहीं होगी। हृदय में प्रेम, अभिरुचि या दिलचस्पी जागृत करना भक्तियोग का काम है। जहाँ भक्तिरूपी भूमि तैयार होगी, वहाँ जो बीज या जिस प्रकार का बीज बोना चाहते हैं, बोया जा सकता है। साधना के लिए भूमि तैयार करना भक्तियोग का कार्य है। उसमें जिस देव, देवता, देवी या ब्रह्म को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। वह प्रतिष्ठित हो सकेगा।

भक्तियोग का प्रारम्भ आत्म-समर्पण से होता है। साधक का कर्तव्य होता है कि वह जो कुछ करता है, उसे ईश्वरार्पण करे। इसका अभिप्राय यह है कि साधक यह समझे कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह अपने लिए नहीं, अपितु परमात्मा के लिए है। मेरा जीवन परमात्मा के लिए समर्पित है। मेरा खाना-पीना, जप-तप, पूजा-पाठ, देना-लेना सब कुछ परमात्मा के लिए है। इसका फल यह होता है कि साधक की किसी विषय में आसक्ति, राग-द्वेष आदि नहीं होता। सर्वत्र अनासक्ति रहती है। सब काम परमात्मा के लिए हैं, इसलिए सब कार्यों में पवित्रता एवं शुचिता रहती है। अतएव गीता का कथन है कि तुम जो कुछ करते हो, जो खाते-पीते हो, जो यज्ञ-हवन करते हो, जो दान आदि देते हो, जो तप आदि करते हो, वह सब मेरे अर्पण कर दो। इस प्रकार तुम कर्म के बन्धन में नहीं पड़ोगे, शुभ और अशुभ कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

यत् करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय, तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं, मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः॥ गीता ९.२७-२८

इसी भाव को मन में रखकर आगे कहा गया है कि तुम अपना मन मुझमें ही लगाओ, मेरा पूजन करो, मेरी भक्ति करो, मुझे ही प्रणाम करो। जो इस प्रकार अपना मन परमात्मा में लगाकर रखता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है। परमात्मा की भक्ति करने वाला नष्ट नहीं होता। वह परम शान्ति को प्राप्त होता है। भक्तियोग को अपनाने का अधिकार सभी को है। चाहे वे ब्राह्मण हों, क्षत्रिय हों, वैश्य या शूद्र हों। यहाँ तक कि स्त्रियों को भी भक्तियोग करने का पूर्ण अधिकार है।

(क) मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। गीता ९.३४

(ख) न मे भक्तः प्रणश्यति। गीता ९.३१

(ग) स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। गीता ९.३२

भक्तिभाव से प्रेरित होकर भक्त जो भी वस्तु पत्र, पुष्प, फल या जल आदि परमात्मा को अर्पित करता है, परमात्मा उसके इस प्रेमोपहार को अवश्य स्वीकार करता है। इसी प्रकार जो भक्त अनन्यभाव से परमात्मा का चिन्तन करते हैं और उसकी उपासना करते हैं, उनके भरण-पोषण और संरक्षण का भार परमात्मा स्वयं उठाता है।

(क) पत्रं पुष्पं फलं तोयं, यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥ गीता ९.२६

(ख) तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गीता ९.२२

भक्त के क्या कर्तव्य हैं और उसका कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसका भी गीता में विस्तार से विवेचन हुआ है। भक्तियोग की प्रथम आवश्यकता है विषयों के प्रति अनासक्ति और प्रभु के प्रति अनन्य निष्ठा। वह जो भी कार्य करे, वह परमात्मा के लिए करे, परमात्मा का ही चिन्तन करे, सब प्राणियों से प्रेमभाव रखे। वह किसी से द्वेष न करे। सज्जनों से मित्रता और असहायों के प्रति करुणाभाव रखे। राग-द्वेष और अहंकार का त्याग करे, सुख-दुःख को समान माने, सहिष्णु हो, दृढ़-निश्चय वाला हो, अपना मन और बुद्धि परमात्मा में ही लगावे। ऐसा कोई व्यवहार न करे, जिससे लोगों के मन में आक्रोश हो। हर्ष-क्रोध, भय आदि से रहित हो। वह शुद्ध और पवित्र मन वाला हो, तटस्थ रहे, कोई नया सांसारिक काम प्रारम्भ न करे।

वह सांसारिक विषयों का त्याग करे, न लाभ में प्रसन्न हो और न हानि में खिन्न, कोई आकांक्षा न रखे, शत्रु और मित्र में समत्व बुद्धि रखे, सुख-दुःख और सर्दी-गर्मी को समान माने, निन्दा और स्तुति को समान माने, मौनव्रत धारण करे, जो कुछ मिल जाए उससे सन्तुष्ट रहे तथा शान्त बुद्धि हो, ऐसा भक्त ही ईश्वर को प्रिय होता है। (गीता १२.१३ से १९)

(क) मत्कर्मकृत्-मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ गीता ११.५५

(ख) सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ गीता १२.१४

(ग) यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥ गीता १२.१७

(घ) तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥ गीता १२.१९

गीता का कथन है कि साधक इस प्रकार अपना मन ईश्वर में ही लगावे। सब पूजा-पाठ, हवन आदि ईश्वर के लिए ही करे। वह ईश्वर को प्राप्त करता है। वह परमात्मा की शरण में जावे। परमात्मा उसको सब पापों से मुक्त कर देता है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। गीता १८.६५

सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ गीता १८.६६

(ग) ज्ञानयोग

भक्तियोग भूपरिष्कार का काम करता है। वह हृदय में साधना के प्रति अभिरुचि या दिलचस्पी उत्पन्न करता है। हृदय में प्रभु के प्रति प्रेम एवं आकर्षण उत्पन्न करता है। हृदय में स्नेह की आर्द्रता उत्पन्न करता है। इसके बाद ज्ञानयोग की आवश्यकता उत्पन्न होती है। साधना का लक्ष्य तैयार करना, उसका दिशानिर्देश एवं उसको योजना-बद्ध करना ज्ञानयोग है। लक्ष्य क्या है, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए क्या-क्या करना होगा, उसकी पूरी रूपरेखा तैयार करना ज्ञानयोग का काम है। यदि लक्ष्य ठीक तय नहीं होगा या उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया में कोई त्रुटि होगी तो साधना से अभीष्ट सफलता प्राप्त नहीं होगी। यह ज्ञानयोग बीज-वपन (बीज बोना) का कार्य करता है। जैसा बीज होगा, वैसा फल होगा। बीज जितना परिष्कृत होगा, उतना ही परिष्कृत परिणाम होगा। सारी साधनाओं का एकमात्र लक्ष्य है—ईश्वरप्राप्ति, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्म के ज्योतिर्मय रूप का दर्शन और ब्रह्म के साथ तादात्म्य की प्राप्ति। जिस प्रकार अग्नि में पड़कर लौह आदि धातुएं अग्नितुल्य उष्ण एवं दाहक हो जाती हैं, उसी प्रकार ध्यान और समाधि की साधना के द्वारा साधक दिव्य गुणों एवं दैवी विभूतियों से अलंकृत हो जाता है। जीव अपनी अल्पज्ञता को छोड़कर बहुज्ञता की ओर अग्रसर होता है। उसका मनोबल बढ़ जाता है। उसकी आत्मिक शक्ति में कई गुना अधिक वृद्धि हो जाती है। इच्छाशक्ति (Will-power) में असाधारण वृद्धि हो जाती है। ज्ञानयोग का आश्रय लेने से योजनाबद्ध ढंग से प्रगति होती है और अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है।

गीता में ज्ञानयोग का विशद विवेचन हुआ है। सांख्यदर्शन ज्ञानयोग की शिक्षा देता है और योगदर्शन कर्मयोग का। संसार में दो प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैं—ज्ञानप्रधान, ज्ञानजीवी या ज्ञानमार्गी। ये बुद्धिजीवी होते हैं। इनमें विद्या-बुद्धि की प्रबलता होती है। ये तर्क की कसौटी पर कसकर ही किसी मन्तव्य, शिक्षा या आदेश को स्वीकार करते हैं। इनकी साधना भी ज्ञानप्रधान होती है। ये बौद्धिक साधना को वरीयता देते हैं, अतः साधना के बल पर ये स्थितप्रज्ञ, ऋषि, मुनि और तत्त्वान्वेषी होते हैं। अतएव गीता में कहा गया है कि सांख्य-सिद्धान्तों

को मानने वाले ज्ञानयोग को अपनाते हैं और योगदर्शन के क्रियापक्ष को अपनाने वाले कर्मयोग के उपासक होते हैं।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। गीता ३.३

ज्ञानयोग का बुद्धियोग क्या है? बुद्धियोग है—कर्मों में अनासक्ति की भावना को जागृत करना, कर्तव्य के रूप में कर्मों को करना, उनमें ममता और आसक्ति को छोड़ना, समत्व बुद्धि को अपनाना, यही कर्मों में कुशलता है। कर्मों को इसप्रकार करना कि वे बन्धन के कारण न हों।

योगः कर्मसु कौशलम्। गीता २.५०

ज्ञानयोग की शिक्षा है कि समत्व बुद्धि जागृत करो। ज्ञानयोगी शुभ फल पाकर प्रसन्न नहीं होता है और न अशुभ में दुःखित या खिन्न। जिस प्रकार कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार ज्ञानयोगी का कर्तव्य है कि वह विषयों से अपने मन और इन्द्रियों को समेट लें और उनकी ओर ध्यान ही न दे। इस प्रकार वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ गीता २.५८

ज्ञानयोग की प्रमुख शिक्षा है—इन्द्रियों को वश में रखो और विषयों का चिन्तन ही न करो। विषयों के चिन्तन से किस प्रकार अनर्थ होता है, इसकी बहुत सुन्दर व्याख्या की है कि विषयों के चिन्तन से उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। उस आसक्ति से उनको प्राप्त करने की कामना होती है। कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से बुद्धि में जड़ता पैदा होती है। जड़ता से स्मृति गड़बड़ हो जाती है। स्मृति-नाश से ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धिनाश से मनुष्य का ही नाश हो जाता है। इसलिए विषयों का चिन्तन ही विनाश का कारण हो जाता है।

(क) **वशे हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।** गीता २.६१
(ख) **ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषूपजायते।...**
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ गीता २.६२-६३

ज्ञानयोग से यह लाभ होता है कि मनुष्य की बुद्धि राग-द्वेष से रहित हो जाती है। इन्द्रियाँ अपने वश में हो जाती हैं। जितेन्द्रिय होने से चित्त प्रसन्न रहने लगता है। प्रसन्नचित्त रहने से बुद्धि स्थिर हो जाती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ गीता २.६५

गीता में ज्ञानयोग का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि ज्ञानयोग का साधक शास्त्रों के अनुसार कर्म करता है। वह सारे कर्म निष्काम भाव से करता

है। उसके सारे कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म हो जाते हैं। वह कर्म करता हुआ भी निष्काम भावना के कारण अकर्ता के रूप में रहता है। वह जितेन्द्रिय होता है। वह सारी भोग-सामग्री का परित्याग कर देता है। जो कुछ मिल जाय उससे ही सन्तुष्ट रहता है। वह किसी से न ईर्ष्या करता है, न द्वेष। वह सफलता और असफलता को समान मानता है। वह जो कुछ कर्म करता है, उसे ईश्वरार्पित कर देता है। न केवल कर्म को ही ईश्वरार्पित करता है, अपितु कर्मफल को भी ईश्वरार्पित कर देता है। (गीता ४.१९ से २४)

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते॥ गीता ४.२२

ज्ञानयोगी ज्ञानरूपी यज्ञ दिनभर करता है। यह ज्ञानयज्ञ वस्तुओं से किए जाने वाले यज्ञ से बहुत उत्कृष्ट है, क्योंकि सारे किए जाने वाले कर्म ज्ञान में ही जाकर समाप्त हो जाते हैं। इस ज्ञानयोग की शिक्षा तत्त्वदर्शी विद्वानों से प्राप्त की जाती है। ज्ञानरूपी नौका का आश्रय लेकर मनुष्य सारे पापों को धोकर संसार-सागर से पार हो जाता है। अग्नि में पड़कर जैसे सब समिधाएं जलकर स्वाहा हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मों को जलाकर भस्मसात् कर देती है। ज्ञान के तुल्य और कोई पवित्र कर्म नहीं है। (गीता ४.३२ से ३८)

(क) श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ गीता ४.३३
(ख) यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥ गीता ४.३७
(ग) न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता ४.३८

ज्ञानयोग अज्ञान के आवरण को हटा देता है और सूर्यवत् तेजोमय परमात्मा के स्वरूप को प्रकाशित कर देता है, (५.१६)। जो ज्ञानयोगी अनन्यभाव से परमात्मा में मग्न रहता है, वह परमात्मा को अत्यन्त प्रिय होता है। श्लोक में 'एक़भक्ति' शब्द अनन्यभाव से निष्ठा अर्थ को बताता है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। गीता ७.१७

अर्जुन को अन्तिम शिक्षा देते हुए श्रीकृष्ण का कथन है कि तुम ज्ञानयोग का आश्रय लो और ईश्वर में अपना चित्त लगा दो। जो सर्वभावेन ईश्वर में अपना मन लगा देता है, वह सारे संकटों को पार कर जाता है। जो अहंकार के कारण ऐसा नहीं करता है, वह नष्ट हो जाता है। ईश्वर सारे प्राणियों के हृदय में विद्यमान है। वह कर्मों के अनुसार सारे प्राणियों को विविध योनियो में घुमाता है। अतएव प्रभु की शरण में जावो। उसकी कृपा से ही परम शान्ति प्राप्त होती है। (गीता १८.५७ से ६२)

(क) बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव। गीता १८.५७

(ख) ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गीता १८.६१

(घ) कर्मयोग

कर्मयोग ध्यानयोग का क्रियापक्ष है। भूपरिष्कार के बाद जो ज्ञानयोग के द्वारा बीज-वपन हुआ है, उसको क्रियात्मक रूप देकर पुष्ट करना एवं विकसित करना कर्मयोग है। संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभा के दो रूपों का उल्लेख है— भावयित्री और कारयित्री। भावयित्री प्रतिभा का भावना-प्रधान पक्ष है, यह ज्ञानरूप है। ऊँची से ऊँची प्रतिभा यदि उच्च भावनाओं को क्रियात्मक रूप न दे तो वह प्रतिभा अविकसित रह जाती है। इसलिए कारयित्री या कर्तृत्व-प्रधान प्रतिभा को ही महत्त्व दिया गया है। कर्मयोग कर्मठता, अनवरत अध्यवसाय और निष्काम कर्म को प्रधानता देता है। योजना कितनी भी अच्छी क्यों न हो, यदि उसका क्रियान्वयन नहीं होता है तो वह निरर्थक हो जाती है। इसी प्रकार साधना को यदि क्रियान्वित नहीं करते हैं तो वह निरर्थक हो जाती है। कर्मयोग निरन्तर श्रमशीलता, अथक परिश्रम और अनन्य निष्ठा माँगता है। यदि उसे पूर्ण निष्ठा के साथ अपनाते हैं तो वह न केवल मोक्ष का साधन ही होता है, अपितु अनेक दिव्य विभूतियों को भी प्रदान करता है।

कर्मयोग क्या है ? इसका गीता में विस्तृत विवेचन है। कर्मयोग की परिभाषा दी गई है कि मनुष्य का कर्म करने में ही अधिकार है, इसलिए वह निरन्तर कर्म करता रहे। उसका कर्मफल पर अधिकार नहीं है, अतः वह कर्मफल पर ध्यान न दे, अपितु कर्तव्यबुद्धि से कर्म करे। कर्मफल की आकांक्षा छोड़कर कर्तव्यबुद्धि से कर्म करना ही निष्काम कर्मयोग है। इसपर प्रश्न उठता है कि यदि कर्म के फल पर अधिकार नहीं होगा या उसपर ध्यान नहीं दिया जाएगा तो मनुष्य कर्म करने में ही प्रवृत्त नहीं होगा। इसका उत्तर दिया गया है कि कर्म करना अनिवार्य है। इच्छा से करो या अनिच्छा से। बिना कर्म किए जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता है। इसलिए उपदेश दिया गया है कि कर्मफल की आकांक्षा से कर्म न करे और न अकर्म या कर्महीनता (बेकार बैठना) में अपना मन लगावे।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः - मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता २.४७

सकाम और निष्काम कर्मयोग में क्या अन्तर है ? यदि इसपर विचार कर लिया जाय तो विषय अधिक स्पष्ट हो जाता है। सकाम कर्मयोग में मनुष्य किसी फल की इच्छा से काम करता है। फल की इच्छा करना मानव की स्वाभाविक

अभिरुचि है। यदि सकाम कर्म का फल मन के अनुकूल हो जाता है तो मन में प्रसन्नता होती है। यदि फल अनुकूल नहीं होता है तो उसका दु:ख होता है और मन में अशान्ति होती है। यह अशान्ति ही कर्म के प्रति अनास्था उत्पन्न करती है। इसका फल यह होता है कि वह आगे किसी कर्म को उत्साह से नहीं करता है। यही वस्तुतः अवनति का कारण है। मन का क्षोभ अनुत्साह को जन्म देता है। इसके विपरीत यदि वही काम निष्काम भाव से या कर्तव्यबुद्धि से किया जाता है तो उससे मन में न क्षोभ होगा, न अशान्ति और न अनुत्साह। किसी कर्म का फल वस्तुतः हमारे हाथ में नहीं हैं। ऐसी स्थिति में फल की इच्छा को प्रमुखता दिए बिना केवल कर्तव्यभावना को मुख्यता देना मानसिक और आत्मिक शान्ति के लिए अधिक उपयुक्त है।

उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि विद्या पढ़ना या शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य है—परीक्षा पास करना और नौकरी प्राप्त करना। यह उद्देश्य अधम उद्देश्य है। शिक्षा का आनुषंगिक फल है—परीक्षाएँ उत्तीर्ण करना और नौकरी की प्राप्ति आदि। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है—ज्ञानार्जन, ज्ञान की प्राप्ति, उसके द्वारा मानसिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक और शारीरिक उन्नति करना। मनुष्य जितनी तल्लीनता से विद्या पढ़ेगा, उतनी ही उसकी योग्यता बढ़ती जाएगी, उसकी विचारशक्ति प्रबुद्ध और व्यापक होगी। वह अपने कर्तव्यों का ठीक ढंग से निर्धारण कर सकेगा। अपनी योग्यता के कारण वह प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति करेगा और उच्च से उच्च पद प्राप्त करेगा। जो सकाम भावना से शिक्षा प्राप्त करेगा, उसका दृष्टिकोण ही दूषित होगा। वह अपनी सफलता के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करेगा। परीक्षा आदि में असफलता प्राप्त होने पर वह अपना धैर्य और विवेक खो बैठेगा। निष्काम भावना हृदय में पवित्रता और परिष्कार लाती है, दूसरी ओर सकाम भावना मन को दूषित करती है और अभीष्ट फल की प्राप्ति न होने पर मन में क्षोभ, अशान्ति और विकृति पैदा करती है। अतएव गीता में सकाम भावना को अत्यन्त गर्हित और निन्दनीय बताया गया है।

गीता ने इस विषय में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है कि मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसका फल अवश्य मिलता है। यदि कोई शुभ कर्म किया गया है तो वह व्यर्थ नहीं जाता है। वह जीवन में शुभ फल ही देगा। कुछ कर्मों का फल तुरन्त मिल जाता है और कुछ संचित कर्म के रूप में जमा रहते हैं। ये संचित कर्म संकट की स्थिति में उपस्थित होते हैं और मनुष्य की रक्षा करते हैं। शुभ कर्म करने वाला सदा सुखी रहता है। ये शुभकर्म जीवन के रक्षक होते हैं और साधक को सभी कठिनाइयों से बचाते हैं। अत: मनुष्य जीवन में जितना भी शुभ कर्म करेगा, वह उतना ही शान्तिमय जीवन बिता सकेगा।

(क) नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्॥ गीता २.४०
(ख) न हि कल्याणकृत् कश्चिद, दुर्गतिं तात गच्छति॥ गीता ६.४०

गीता के तृतीय अध्याय में कर्मयोग की ही व्याख्या है। गीता का कथन है कि सांख्य-सिद्धान्त के अनुयायी ज्ञानयोग के उपासक होते हैं और योगदर्शन के अनुयायी कर्मयोग के। दो प्रकार के मनुष्य होते हैं—कुछ बुद्धिजीवी। ये सांख्यमत के अनुसार काम करते हैं। ये बौद्धिक व्यायाम के अभ्यस्त होते हैं। दूसरे कर्मयोगी होते हैं। ये श्रमजीवी और हस्तकौशल पर निर्भर होते हैं।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। गीता ३.३

संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो क्षणभर भी बिना कुछ काम किए जीवित रहता हो। प्राकृतिक सत्त्व आदि गुण पुरुष को कार्य करने के लिए सदा बाध्य करते हैं। इसलिए सदा कर्म करते रहें। बिना काम किए जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता है।

(क) कार्यते ह्यवशः कर्म, सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः। गीता ३.५
(ख) नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिध्येदकर्मणः॥ गीता ३.८

गीता में सर्वत्र इस बात पर बल दिया गया है कि मनुष्य अवश्य कर्म करे। अकर्म से कर्म करना बहुत अच्छा है। कर्म करने में सदा इस बात का ध्यान रखे कि कर्म में आसक्ति न हो। सदा निष्काम भावना हो। जो ऐसा करता है, वही परमात्मा को प्राप्त करता है और मोक्ष का अधिकारी होता है।

तस्मादसक्तः सततं, कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म, परमाप्नोति पूरुषः॥ गीता ३.१९

जनक जैसे सिद्ध और ज्ञानी लोगों ने भी कर्मयोग का मार्ग अपनाया था। कर्मयोग के द्वारा मनुष्य समाज के सम्पर्क में आता है। वह समाजसेवा करता है और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। समाजसेवा करना बहुत पवित्र कर्म है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥ गीता ३.२०

कर्मयोग के दो बड़े शत्रु हैं—काम और क्रोध। ये मनुष्य की बुद्धि को भ्रष्ट कर देते हैं। इसलिए प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि वह काम और क्रोध पर विजय प्राप्त करे और इन्हें समूल नष्ट करे। इन पर विजय प्राप्त किए बिना कर्मयोग सफल नहीं हो पाता।

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा, विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ गीता ३.३७

गीता में इस विषय पर भी विचार किया गया है कि कर्मसंन्यास अच्छा है या कर्मयोग। कर्मसंन्यास का भाव है—कर्मों से विरति, सब कर्मों के प्रति वैराग्य की भावना या उनके प्रति उदासीनता की भावना। इस विषय पर गीता ने निर्णय दिया है कि कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि साधना की दृष्टि से यह सरल और सुकर है। ये दोनों ही मार्ग मोक्ष को देने वाले हैं।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ गीता ५.२

गीता ने यह भी सिद्ध किया है कि सांख्य द्वारा निर्दिष्ट ज्ञानयोग एवं योगदर्शन द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग इन दोनों में केवल प्रक्रिया-भेद है। वैसे दोनों का लक्ष्य एक ही है। ज्ञानमार्ग से जो सिद्धि प्राप्त होती है, वही कर्मयोग से भी होती है। इस प्रकार सांख्य और योग दर्शन के मन्तव्य एक ही हैं। जो इनमें भेद समझता है, वह अज्ञानी है। जो दोनों को एक मानता है, वह ज्ञानी और विद्वान् है।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद् योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च, यः पश्यति स पश्यति॥ गीता ५.५

वास्तविक कर्मयोग यही है कि संसार में रहते हुए भी किसी विषय में कोई आसक्ति न रखे, जैसे जल में कमल पत्र। जैसे कमल के पत्ते पर जल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, इसी प्रकार सांसारिक विषयों का प्रभाव कर्मयोगी पर न पड़े। कर्मयोगी सब कर्म परमात्मा को अर्पण कर देता है। वह ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण की भावना रखता है, अतः सदा प्रसन्नचित्त रहता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि, संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न च पापेन, पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ गीता ५.१०

५. ध्यान का उद्देश्य

ध्यान मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति एवं विकास का सर्वोत्तम साधन है। ध्यान ही वह शक्ति देता है कि मनुष्य स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम तत्त्वों को गहराई से जान पाता है। सभी साधना-पद्धतियों में धारणा और ध्यान (Concentration and Meditation) को उत्कृष्ट स्थान दिया गया है। ध्यान के विशिष्ट उद्देश्य ये हैं—

१. ऊर्जा के विकिरण (बिखराव) को केन्द्रित करना—मानवीय मस्तिष्क अनन्त शक्तियों का भण्डार है। इन शक्तियों का पूरा लाभ मनुष्य को इसलिए नहीं मिल पाता है कि वह इनको केन्द्रित नहीं कर पाता। इस प्रकार शक्ति का अपव्यय होता है। उसको एक बिन्दु या लक्ष्य पर केन्द्रित कर दिया जाता है तो उसमें अद्भुत शक्ति आ जाती है। बारूद का ढेर जमीन पर फैला हुआ आग लगाने पर थोड़ी देर के लिए चमक और आवाज के साथ समाप्त हो

जाएगा। वही बारूद थोड़ी-सी मात्रा में बन्दूक या पिस्तौल में केन्द्रित होकर बटन दबाते ही बड़ा विध्वंस कर देती है। इसी प्रकार ध्यान से मानवीय शक्ति व्यर्थ नष्ट न होकर अनेक अद्‌भुत कार्य करने में समर्थ होती है।

२. एकाग्रता—ध्यान एकाग्रता प्रदान करता है। एकाग्रता से सूक्ष्मता आ जाती है। मस्तिष्क सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। पृथ्वी में खूंटा गाड़ने के लिए उसको नोकीला बनाना पड़ता है। नोकीला खूंटा जहाँ चाहे वहाँ अपने लिए स्थान बना लेता है। इसीप्रकार मस्तिष्क में विद्यमान अनन्त शक्तियों को बाहर निकालने के लिए विचारों को सूक्ष्मता प्रदान करनी पड़ती है। ये सूक्ष्म विचार ही अन्तर्गत शक्तियों को बाहर निकालकर मनुष्य को विभूतिमय बनाते हैं।

३. एकाग्रता की शक्ति का सुनियोजन—एकाग्रता द्वारा शक्ति का संचय होता है। संचित शक्ति को यदि सुनियोजित ढंग से किसी विशेष लक्ष्य पर प्रेरित नहीं किया जाएगा तो वह अव्यवस्थित होकर बिखर जाएगी। योगसाधना में साधक का लक्ष्य है आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार, आत्मपरिष्कार। अत: साधक के लिए आवश्यक है कि वह एकाग्रता द्वारा प्राप्त शक्ति को आत्मपरिष्कार में लगावे। आत्मा का परिष्कार दिव्य विभूतियों के लिए देवमन्दिर की स्थापना करता है। जहाँ आत्मपरिष्कार है, वहाँ दिव्य विभूतियाँ स्वयं पधारने लगती हैं। इससे ज्ञान में वृद्धि, तेजस्विता की वृद्धि, चिन्तन में प्रखरता और उच्च विचारों की सृष्टि होती है।

४. तन्मयता—एकाग्रता का सहयोगी गुण है—तन्मयता। तन्मयता से तादात्म्य की अनुभूति होती है। योगी, दार्शनिक, संगीतज्ञ, खिलाड़ी आदि एकाग्रता के साथ तन्मयता की अनुभूति करते हैं। संगीतज्ञ गायन में, भक्त प्रभुभक्ति में, कवि चिन्तन में इतना मग्न हो जाता है कि वह अपने शरीर की सुध-बुध भूल जाता है। इसी प्रकार वैज्ञानिक अपने अनुसंधान में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे अन्य किसी बात का ध्यान नहीं रहता। तभी वह कोई उच्चकोटि का रहस्य प्राप्त करता है। इसी प्रकार साधक जब तन्मयता की अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसे आत्मशक्ति का प्रकाश दिखाई पड़ना शुरू होता है।

५. समर्पण—ध्यानयोग का एक उद्देश्य है—समर्पण की भावना जागृत करना। जबतक अपने इष्ट देव को समर्पित नहीं करेंगे, तबतक साधना में विशेष सफलता प्राप्त नहीं होगी। समर्पण क्या है? अपने आपको, अपने जीवन को, प्रभु के चरणों में समर्पित कर देना, अपने अस्तित्व की भावना को समाप्त कर देना। समर्पण एक प्रक्रिया है। यह स्वरूप-परिवर्तन की साधना है। समिधा अपने

आपको अग्नि को समर्पित करती है, तब वह अग्नि में पड़कर अग्नि को गुणों को आत्मसात् करती है और अग्नि के तुल्य दाहकता आदि गुणों को धारण करती है। यही भाव यज्ञ के एक मन्त्र में व्यक्त किया गया है कि—मैं जीवात्मा समिधा के तुल्य हूँ। हे परमात्मन्, आप अग्नितुल्य हैं। आप अपने गुण मुझे दीजिए, जिससे मैं तेजस्वी हो जाऊँ। समर्पण का यही महत्त्व है कि उसमें दाहकता तेजस्विता आदि गुण आ जाते हैं। समर्पण से ही गुरु के गुण शिष्य में आते हैं।

अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चास्मान्०।

६. **आत्मपरिष्कार, आत्मशोधन**—ध्यानयोग का एक उद्देश्य आत्मपरिष्कार है। आत्मपरिष्कार क्या है? आत्मपरिष्कार का भाव है—आत्मा के कुसंस्कारों, कुविचारों, कुवासनाओं को नष्ट करके उसे शुद्ध, परिष्कृत और निर्मल बनाना। देवों, दिव्य विभूतियों और दैवी शक्ति के अवतरण के लिए आवश्यक है कि देवमन्दिर शुद्ध और पवित्र हो। जहाँ किसी भी प्रकार की अपवित्रता होगी, वहाँ दिव्य गुणों या दैवी शक्तियों का अवतरण नहीं होगा। अतएव आत्मशुद्धि ध्यानयोग का मुख्य उद्देश्य है। अपरिष्कृत मन दैवी शक्तियों का दुरुपयोग करेगा।

७. **श्रद्धा और शक्ति**—ध्यानयोग में समर्पण के साथ ही श्रद्धा भी आवश्यक है। श्रद्धा पात्रता का निर्माण करती है। श्रद्धा हृदय की उर्वरा शक्ति है। जहाँ श्रद्धा है, वहाँ पात्रता है। जहाँ पात्रता है, वहाँ ग्राह्यता है। जहाँ ग्राह्यता है, वहाँ शक्ति का अवतरण है। श्रद्धा का ही प्रतिफल शक्ति है। गेंद जितनी जोर से फेंकी जाएगी, वह लक्ष्य से टकराकर उतने ही वेग से लौटेगी। यह क्रिया की प्रतिक्रिया है। श्रद्धा जितनी प्रबल होगी, उतनी ही आत्मा से टकराकर शक्ति के रूप में लौटेगी। जितनी उच्च श्रद्धा होगी, उतनी ही प्रबल शक्ति उसे लौटकर मिलेगी। श्रद्धा निष्फल नहीं ज़ाती। वह समुद्र से मोती की तरह कुछ न कुछ दिव्य शक्ति लेकर लौटती है। अतएव ऋग्वेद में श्रद्धा को सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्यदात्री कहा गया है।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि। ऋग्० १०.१५१.१

६. ध्यान कैसे सार्थक बनता है?

ध्यान कैसे सार्थक होता है? बीज कब अंकुरित होता है? जैसे बीज के अंकुरित होने के लिए कुछ आवश्यकताएँ होती हैं, उसीप्रकार ध्यान के सार्थक होने के लिए भी कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। संक्षेप में आवश्यकताएँ ये हैं—

१. **हृदय की शुद्धि**—ध्यान की सफलता के लिए आवश्यक है कि हृदय शुद्ध एवं पवित्र हो। राग-द्वेष, काम-क्रोध, मद-मोह, अहंकार, ईर्ष्या,

असहिष्णुता आदि दोष न हों। ये दोष हृदय को अपवित्र करते हैं। जीवनधारा अपवित्र होगी तो उसमें शुद्ध जल का प्रवाह संभव नहीं है। जबतक क्षेत्र परिष्कृत नहीं होगा, तबतक उच्चकोटि के बीजों का अंकुरित होना संभव नहीं है। अतः हृदय की पवित्रता ध्यान की सफलता के लिए अनिवार्य है।

२. मन की पवित्रता—ध्यान की सफलता के लिए आवश्यक है कि मन शुद्ध एवं पवित्र हो। उसमें उच्च भावनाएँ हों, आदर्शों की प्राप्ति का लक्ष्य हो, दिव्य शक्तियों के अवतरण की कामना हो, आशावादिता हो और 'क्षुरस्य धारा' पर चलने की क्षमता हो। कठोर व्रतों को पालन करने वाला मन ही ध्यान-साधना में सफल होता है। अतएव यजुर्वेद में कहा गया है कि मेरा शुभ संकल्पों वाला हो।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजु० ३४.१

मन को पवित्र रखने के लिए आवश्यक है कि दुर्विचारों, दुर्भावनाओं, ईर्ष्या, द्वेष, अशुभ चिन्तन आदि को मन से दूर हटावें।

३. शान्त वातावरण—ध्यान की सफलता के लिए आवश्यक है कि स्थान तथा वहाँ का वातावरण शुद्ध हो। अतएव गीता में पवित्र एकान्त स्थान और शुद्ध वातावरण पर बल दिया गया है।

रहसि स्थितः। शुचौ देशे। गीता ६.१० और ११

पर्वत, गुफा, नदी-सरोवर या समुद्र का तीर, एकान्त वन-प्रदेश आदि को साधना एवं ध्यान के लिए अत्यन्त उपयुक्त स्थान बताया गया है। शान्त स्थान पर ध्यान में मन लगता है। अतएव शान्त वातावरण के साथ ही साधक की मनःस्थिति भी शान्त होनी चाहिए। उद्विग्न मन, अशान्त चित्त, अस्थिरवृत्तिता आदि ध्यान- साधना में बाधक हैं।

४. मस्तिष्क निर्मल एवं निर्विचार हो—मस्तिष्क विचारों का केन्द्र है। मस्तिष्क में प्रतिक्षण विचारों की तरंगें उठती रहती हैं। समुद्र की ऊँची तरंगों के तुल्य मस्तिष्क में भी ऊँची-नीची तरंगें उठती रहती हैं। प्रशान्त समुद्र की तरह जब मस्तिष्क शान्त हो, विचारों की तरंगें न उठ रही हों, मस्तिष्क में भाव-शून्यता हो, तब ध्यान, एकाग्रता और तन्मयता सफल होती है। उच्च साधना के लिए आवश्यकता है कि मस्तिष्क को जहाँ तक हो सके विचार-शून्य करें। दिव्य भावरूपी अतिथियों के बैठने के लिए जितना रिक्त स्थान होगा, उतनी ही शान्ति से दिव्य विचार, दिव्य संकल्प, दिव्य चेतनाएँ मस्तिष्क में अपना स्थान बना सकेंगी। अतएव मस्तिष्क को जितना साफ, विचारशून्य बना सकेंगे, उतनी ही अधिक सफलता मिलेगी। यह साधना कष्टसाध्य है, पर इसका परिणाम बहुत सुखद है।

५. भावनाओं की उच्चता—गीता और योगवासिष्ठ का मत है कि मनुष्य अपनी भावनाओं और धारणाओं के आधार पर बनता है। '**यो यत्-श्रद्धः स एव सः**' (गीता० १७.३) का अभिप्राय है कि मनुष्य स्वयं का निर्माता है। वह बचपन से लेकर जीवन भर जैसे विचार और भाव रखता है, वैसा ही बनता चला जाता है। उच्च विचारों से योगी, तपस्वी, विचारक, ज्ञानी, विद्वान्, वैज्ञानिक आदि बनता है। दूसरी ओर दूषित विचारों से पापी, अत्याचारी, व्यसनी, चोर, डाकू आदि बनता है। यह विचारों और भावनाओं का अन्तर है। ध्यानयोग की सफलता के लिए जितना उच्च विचार और आदर्श भावनाओं को हृदय में स्थान देंगे, उतनी ही उच्च सफलता प्राप्त होगी।

६. योजनामय जीवन—ध्यानयोग की सफलता के लिए आवश्यक है कि साधक अपने जीवन की रूपरेखा तैयार करे। अपने लक्ष्य निर्धारित करे और तदनुसार योजना बनावे। उसी के अनुसार दिनचर्या बनावे। तदनुसार नियमित जीवन व्यतीत करे। योजना का जितनी तत्परता से क्रियान्वयन करेगा, उतनी ही उच्च सफलता प्राप्त होगी। ध्यान रखना होगा कि निर्धारित लक्ष्य प्रतिमास, प्रतिवर्ष पूरा हो रहा है या नहीं। यदि पूरा हो रहा है तो समझें कि आपकी ध्यानयोग-साधना निश्चित रूप से सफल होगी।

७. ध्यान-साधना की उपयोगिता

ध्यानयोग मस्तिष्क की प्रसुप्त शक्तियों को जागृत करने की प्रक्रिया है। इन प्रस्तुत शक्तियों को जागृत करके ध्यानयोग का अनेक प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। उपयोग की कुछ दिशाएँ ये हैं—

१. ध्यान कल्पवृक्ष है—कल्पवृक्ष के विषय में कल्पना की गई है कि इसकी छाया में बैठकर मनुष्य मनोवांछित वस्तु प्राप्त कर सकता है। कल्पवृक्ष क्या है? यह वस्तुतः संकल्पवृक्ष है। मनुष्य जैसा संकल्प करेगा, वैसा ही बन जाएगा। वह जो संकल्प करेगा, वह उसे मिल जाएगा। इसके लिए एक शर्त है—वह है उसके लिए अध्यवसाय, कमर कसकर जूझना, कटिबद्ध होकर सतत प्रयत्न करना। स्मृतियों में कहा गया है कि जो जिस अभीष्ट को चाहता है, उसके लिए निरन्तर प्रयत्न करता है, वह उस अभीष्ट लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लेता है, यदि थककर उस प्रयत्न को बीच में नहीं छोड़ देता है।

यो यमर्थं कामयते, यदर्थं घटतेऽपि च।
सोऽवश्यं तदवाप्नोति, न चेत्-श्रान्तो निवर्तते॥

हिम्मत हारना, थककर प्रयत्न छोड़ देना या अनुत्साहित हो जाना आदि, ये प्रमुख कारण हैं कि मनुष्य अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता। दिव्य विभूतियाँ

वर्षों के घोर परिश्रम के बाद प्राप्त होती हैं। ३०-४० वर्ष की कठोर साधना के बाद कोई बड़ा दार्शनिक, कलाकार, मेधावी, वैज्ञानिक या संगीतज्ञ बन पाता है। बड़े योगी या साधक के लिए भी ये ही शर्तें हैं। इसी भाव को लेकर योगदर्शन में कहा गया है कि दीर्घकाल तक निरन्तर या बिना व्यवधान के, श्रद्धापूर्वक उस साधना को करने से सफलता मिलती है।

स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः। योग० १.१४

२. जीव और ब्रह्म की एकता—ध्यानयोग जीवात्मा और परमात्मा के मध्य एकत्व स्थापना-हेतु पुल (सेतु) है। जीव और ब्रह्म में सत् (अस्तित्व) और चित् (चेतनता) गुण समान हैं। अन्तर केवल यही है कि ब्रह्म समुद्र है तो जीव जल की एक बूँद। वह सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न है और जीव अल्प शक्तियुक्त। आनन्द केवल ब्रह्म या परमात्मा में है, जीव में नहीं। इन्हीं न्यूनताओं को दूर करने के लिए और आनन्द की प्राप्ति के लिए जीव परमात्मा की शरण में जाता है। ध्यानयोग इस कार्य को पूरा करता है। ध्यानयोग अग्नि के तुल्य जीवरूपी लोहे को परिष्कृत करता है, जीव को परमात्मा के स्वरूप का दर्शन कराता है और दोनों में तादात्म्य स्थापित करने की भूमिका निभाता है।

दुःख, शोक, आधि-व्याधि आदि का कारण है—जीव का ब्रह्मसत्ता से पृथक् होना। इसका उपचार है—जीव और ब्रह्म का समन्वय, दोनों का सांनिध्य, दोनों में तादात्म्य की अनुभूति, ब्रह्मरूपी अग्नि में जीवरूपी लोहे का तपकर परिष्कृत होना। यह कार्य ध्यानयोग करता है।

३. समरसता एवं प्रेम उत्पन्न करना—मनुष्य की सामान्य प्रवृत्ति है कि वह आकर्षण और माधुर्य की ओर प्रवृत्त होता है। जिस विषय में उसकी अभिरुचि (Interest) होती है या जिसमें मन लगता है, उसमें लगा रहता है। जिसमें उसका मन नहीं लगता, उसे छोड़ देता है। परमात्मा में आनन्द है, वह रस रूप है। जो इस रस का एकबार स्वाद ले लेता है, वह सदा के लिए उसका हो जाता है। यह समरसता और प्रेम उत्पन्न करना ध्यानयोग का कार्य है। ध्यान ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति कराता है और मन को शान्ति एवं प्रसन्नता देता है। ध्यानयोग के द्वारा जब ध्यान में रस आने लगता है और मन को विश्राम मिलता है तो साधक उधर स्वयं आकृष्ट होने लगता है।

४. सतत चिन्तन—जो जिस प्रकार का निरन्तर चिन्तन करता है, वह उसी प्रकार का हो जाता है। चिन्तन मनुष्य के आचार-विचार, व्यवहार और क्रियाकलाप को प्रभावित करता है। चिन्तन का ही फल है कि कोई योगी, कोई दार्शनिक, कोई वैज्ञानिक और कोई संगीतज्ञ हो जाता है। इसी प्रकार दुर्गुणों के

चिन्तन से दुराचारी, भ्रष्ट और व्यसनी हो जाता है। ध्यान ईश्वर के चिन्तन, आत्मस्वरूप-निरीक्षण और प्रकाश-दर्शन की प्रेरणा देता है। जब निरन्तर ईश्वरीय गुणों का चिन्तन करते हैं तो सात्त्विकता, सद्भावना, सद्विचार एवं सुसंस्कार जागृत होते हैं। जिस प्रकार के सद्भाव जागृत होते हैं, उसी प्रकार साधक का जीवन बनता जाता है।

५. अभीप्सा—अभीप्सा का अर्थ है—किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए उत्कट अभिलाषा। पतंजलि मुनि ने अभीप्सा के लिए 'तीव्रसंवेग' (योग० १.२१) शब्द का प्रयोग किया है। जब उत्कट अभिलाषा होती है, तब कार्य की सिद्धि सरल और सुगम हो जाती है। ध्यानयोग ईश्वर-साक्षात्कार, प्रकाश-दर्शन और मनोनिरोध के लिए अभीप्सा उत्पन्न करता है। अभीप्सा से साधक की निष्ठा, जागरूकता और तत्परता बढ़ जाती है। वह निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

६. प्रसुप्त आन्तरिक शक्तियों का जागरण—ध्यानयोग बिखरी हुई अपनी शक्तियों को केन्द्रित करने की प्रक्रिया है। शक्तियों के केन्द्रित करने का लाभ यह होता है कि केन्द्रित शक्तियों को किसी एक बिन्दु पर लगाकर उसमें नवीन चेतना उत्पन्न कर सकते हैं। जिस प्रकार सूर्य की किरणों को आतशी शीशे पर केन्द्रित करके रूई आदि को जला दिया जाता है, उसी प्रकार मस्तिष्क के किसी भी भाग पर ध्यान को केन्द्रित करके लगाया जा सकता है। मस्तिष्क शक्तियों का भण्डार है। जो शक्तियाँ प्रसुप्त या अनुद्बुद्ध हैं, उनको ध्यान की शक्ति के द्वारा जागृत या प्रबुद्ध किया जा सकता है। बौद्धिक और मानसिक शक्तियों को जागृत करने का यही उपाय है। ज्ञान के केन्द्र पर ध्यान को केन्द्रित करने पर ज्ञान की वृद्धि, बौद्धिक प्रखरता, चिन्तन शक्ति की वृद्धि, प्रतिभा का जागरण किया जा सकता है।

७. एकलक्ष्यता—ध्यानयोग का प्रयोजन है—आत्मशक्ति के बिखराव को रोककर एक लक्ष्य पर केन्द्रित करना। केन्द्रित करने के लिए आवश्यक है—समाहार, समेटना, नियन्त्रण या नियमन। जब इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण होगा, तभी वे एक लक्ष्य पर केन्द्रित होंगी। शक्ति को केन्द्रित करके उसका ठीक विनियोग या प्रयोग होना चाहिए। ध्यानयोग का लक्ष्य है—परमात्मा का सांनिध्य प्राप्त करना। परमात्मा के प्रति अनुराग, प्रेम, श्रद्धा, आत्मीयता की भावना उत्पन्न करना और उसको अपना रक्षक या संरक्षक समझना। यह ध्यान रखना चाहिए कि परमात्मा शक्ति का पुंज है। वह सूर्यवत् तेजोमय है। वह सैकड़ों सूर्यों के समान ज्योतिर्मय है। उसमें आकर्षण है। यदि लोहा चुम्बक के सामने रखा जाता है तो वह चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है और उससे चिपक जाता है। यही

स्थिति भक्त और भगवान् की है। भक्त यदि भगवान् के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देता है तो भगवान् उसे अपना लेता है और उसका मार्गदर्शन करता है। परमात्मा का सांनिध्य प्राप्त करना एकलक्ष्यता की परिणति है। इसका फल यह होता है कि जैसे चुम्बक के संसर्ग से लोहे में भी चुम्बकत्व गुण आ जाता है। सांनिध्य जितना प्रखर होगा, चुम्बकत्व गुण उतना ही अधिक बढ़ता जाएगा। इसका फल यह होता है कि साधक में भी आकर्षण शक्ति बढ़ जाती है। साधक की यह आकर्षण शक्ति दिव्य शक्तियों और दिव्य विभूतियों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होती है।

८. आत्मनिर्माण—आत्मनिर्माण क्या है ? आत्मनिर्माण अपने व्यक्तित्व का निर्माण है। अपने चरित्र की शुद्धि, अपने मन और संस्कारों की शुद्धि, अपने कुसंस्कार और वासनाओं की शुद्धि, आचार-विचार की पवित्रता के द्वारा आत्मनिर्माण होता है। जैसे विशाल भवन के निर्माण के लिए नींव के पत्थर से लेकर ऊपर शिखर तक एक-एक पत्थर और सामग्री की उत्कृष्टता अपेक्षित है, उसी प्रकार आत्मनिर्माण के लिए एक-एक आदत, विचार और संस्कार को शुद्ध करना पड़ता है। यह अति कठिन काम है। धारणा और ध्यान इस कठिन कार्य को सरल बनाते हैं। ये मन को नियन्त्रित कर सुसंस्कार देते हैं। इससे आत्मनिर्माण होता है। इससे कुसंस्कार सुसंस्कारों में बदलते हैं, दुर्भावना सद्भावना में और घृणा प्रेम में बदलते हैं। इसी आधार पर व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

९. अन्तःचेतना को प्रखर बनाना—ध्यानयोग अन्तःचेतना को प्रखर बनाता है। उसको दिशा-निर्देश देता है। उसको अनुपयुक्त चिन्तन, दुर्विचार, दुर्भाव, राग-द्वेष आदि दुर्गुणों से हटाकर उच्च चिन्तन, सद्विचार, श्रद्धा-प्रेम और सात्त्विकता की ओर ले जाता है। विचारों और भावनाओं पर नियन्त्रण मानव की बहुत बड़ी उपलब्धि है। मन एक महाशक्ति है। वशीकृत मन महादैत्य के तुल्य कठिन से कठिन काम सरलता से कर देता है। यह सुसंयत मन अपनी एकाग्रता से व्यक्ति को योगी, महाकवि, महादार्शनिक एवं महावैज्ञानिक बना देता है। अन्तःचेतना की प्रखरता साधक को ऋषि, मुनि एवं त्रिकालदर्शी बना देता है। यह प्रखरता ही उसकी इच्छाशक्ति, मनोबल और आत्मिक शक्ति को असाधारण रूप से बढ़ा देती है।

ध्यानयोग अन्तःचेतना को प्रखर बनाकर उससे दिव्य शक्तियों को आकृष्ट करता है। अन्तःचेतना की प्रखरता का फल यह होता है कि साधक सुख-दुःख, अशान्ति, उद्वेग, क्षोभ एवं असाधारण परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होता। उसपर ईर्ष्या, द्वेष, मान-अपमान, लाभ-हानि का कुप्रभाव नहीं पड़ता और वह अपनी शान्त स्थिति, स्थित-प्रज्ञता को बनाए रखता है।

१०. मन चेतन और अचेतन—मन के दो रूप हैं—चेतन और अचेतन। अचेतन मन प्रसुप्त मन है। यह स्नायुसंस्थान के स्वैच्छिक क्रियाकलाप को नियन्त्रित करता है। जैसे—रक्त-प्रवाह, श्वास-प्रश्वास, हृदय का आकुंचन-प्रसारण आदि। चेतन मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को नियन्त्रित करता है। जब इन्द्रियाँ अनियन्त्रित होती हैं, तभी रोग, आधि-व्याधि और मानसिक विकृतियाँ होती हैं। अत: शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ज्ञानेन्द्रियों पर नियन्त्रण अनिवार्य है। ध्यानयोग मन को नियन्त्रित करता है। मन विचारों को और विचार इन्द्रियों को नियन्त्रित करते हैं। विचारों के नियन्त्रण से दिशाबद्ध चिन्तन होता है और क्रियाकलाप व्यवस्थित होता है। व्यवस्थित क्रियाकलाप साधक को सिद्धि की ओर अग्रसर करता है।

११. विराट् ब्रह्मरूप का चिन्तन—ध्यानयोग चिन्तन की प्रक्रिया है। किसका चिन्तन करें? इसका उत्तर है ब्रह्म के विराट् रूप का। विराट् ब्रह्म के प्रतीक हैं—सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि। सूर्य तेजस्विता का केन्द्र है। सूर्य में तेज है, प्रकाश है, ऊर्जा है। सूर्य में जो ऊर्जा है, वह विश्वव्यापी ब्रह्म की ऊर्जा का अंश है। उसके चिन्तन से विश्वव्यापी ऊर्जा को आत्मसात् करने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। विश्वव्यापी ऊर्जा को अपने अन्दर लाने की प्रक्रिया से अनायास ही स्फूर्ति, प्रेरणा, उत्साह, अध्यवसाय आदि गुण साधक में आने लगते हैं। किसी आदर्श महापुरुष, महात्मा, योगी आदि का चिन्तन भी साधक में पवित्रता, सात्त्विकता, आस्तिकता और गुणग्राहिता आदि सद्‌गुणों का आधान करते हैं।

८. ध्यान की विधि और उपयोग

१. ध्यान की विधि

सामान्य ध्यान के लिए यह विधि अपनानी चाहिए—

(क) नैत्यिक कर्मों से निवृत्त होकर प्रतिदिन प्रात: ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। स्थान शुद्ध, स्वच्छ होना चाहिए, जहाँ स्वच्छ वायु का निर्बाध प्रवेश हो। समय प्रात: ४ बजे से लेकर सूर्योदय तक। सायं सोने से १ घण्टा पूर्व। ध्यान के लिए कम से कम आधा घण्टा समय दें। संभव हो तो १ घण्टा।

(ख) ध्यान मुद्रा—ध्यान मुद्रा में बैठिए। ध्यान मुद्रा में ये ५ कर्तव्य निर्दिष्ट हैं—

१. स्थिर शरीर—सिद्धासन या पद्मासन पर बैठिए। शरीर शान्त और स्थिर हो। केवल श्वास-प्रश्वास चले। शरीर की चेष्टाएँ और हिलना-डुलना बन्द रखें।

२. शान्त चित्त—चित्त को इधर-उधर न भटकने दें। ध्यान के अतिरिक्त अन्य विचार मन में न आने दें। अन्य विचारों और कल्पनाओं को हठात् रोकें।

३. समपृष्ठ-शिरोग्रीवः—पीठ, गर्दन और सिर एक सीध में रहें। आगे या पीछे न झुकें। स्मरण रखें कि मानव-शरीर में ब्रह्मरन्ध्र उत्तरी ध्रुव है और मूलाधार-कुण्डलिनी का क्षेत्र दक्षिणी ध्रुव है। दोनों ध्रुवों के मध्य में शक्ति-संचार का क्रम जारी रहने से संसार में सामर्थ्य और संपन्नता है। इसमें अवरोध होने से अनेक विषमताएँ उत्पन्न होती हैं। इसीप्रकार मानव-शरीर में मेरुदण्ड ध्रुवों के मिलाने का साधन है। इडा, पिंगला और सुषुम्णा के विविध प्राण-प्रवाह मेरु-रज्जु के माध्यम से होते हैं। मेरुरज्जु में ही षट्चक्रों के केन्द्र हैं। अतएव ध्यानविधि में मेरुदण्ड को सीधा रखने की आवश्यकता है।

४. ज्ञानमुद्रा—दोनों हाथों को घुटनों पर रखें और अपनी तर्जनी के अग्रभाग को अंगूठे के अग्रभाग पर रखें। अथवा दोनों हाथों को गोदी में रखें। बाएं हाथ की हथेली नीचे रहेगी और दाहिने की हथेली उसके ऊपर।

५. आँखें बन्द रखना—आँखें बन्द रखने के दो प्रयोजन हैं—(क) नेत्रशक्ति के बिखराव को रोककर अन्तर्मुखी बनाना। बाह्य जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद करके अन्तर्जगत् में प्रवेश करना। (ख) आँखों के विद्युत्-प्रवाह को बाहर निकलने से रोकना और उसका अन्तर्जगत् के वैभव को पता लगाने में उपयोग करना।

(ग) बहिर्मुखी ध्यान—मन को एकाग्र करने के लिए किसी बाह्य वस्तु को लें। इसके लिए चित्र और प्रकाश का ध्यान दो प्रकार हैं। किसी महापुरुष, योगी, ऋषि-मुनि का चित्र सामने रखें और उसपर ध्यान केन्द्रित करें। प्रकाश-ध्यान में दीपक, मोमबत्ती, रंगीन बल्ब या उदय होते हुए सूर्य का ध्यान करें। दीपक या मोमबत्ती की शिखा (लौ) पर ध्यान लगाना होता है। कुछ क्षण लौ को देखें और आँखें बन्द करके भ्रूमध्य में उसकी लौ के देखते रहें। जब लौ दीखनी बन्द हो तब आँख खोलकर पुनः १० या १५ सेकेण्ड देखें और आँख बन्द करके भ्रूमध्य में अधिक से अधिक समय तक देखने का अभ्यास करें। इसी प्रकार उदय होते सूर्य को २-३ सेकेण्ड देखें और आँखें बन्द करके भ्रूमध्य में उसका बिम्ब देखें। जब दीखना बन्द हो जाए तो आँख खोलकर पुनः २-३ सेकेण्ड देखें और आँखें बन्द करके भ्रूमध्य में देखने का अभ्यास करें। यह अभ्यास १५ से २० मिनट कर सकते हैं। सूर्योदय के आधा घण्टा बाद सूर्यदर्शन वाला ध्यान न करें। उसके बाद ध्यान करने से आँखों को हानि पहुँचने की संभावना रहती है।

(घ) मनोनियोग—वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि मन किसी स्थान-विशेष पर कुछ क्षण ही रुकता है, अतः दृष्टि को चित्र या प्रकाश पर आगे-पीछे, नीचे-

ऊपर करते हुए मन को १५-२० मिनट लगाए रखिए और ध्यान को हटने न दीजिए।

(ङ) तादात्म्य की अनुभूति—आदर्श महापुरुष या सूर्यदेव के साथ आत्मीयता बढ़ाइए। यह अनुभव कीजिए कि महापुरुष के सद्‌गुण आपके अन्दर आ रहे हैं। आप भी तेजस्वी यशस्वी हो रहे हैं।

(च) मानसिक चिन्तन—ध्यान के समय इन मन्त्रों को या इनका भाव मन ही मन जपें।

१. **आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।** (यजु० २५.१४)
हे परमात्मन्! शुद्ध विचार चारों ओर से मेरे अन्दर आवें।

२. **यद् भद्रं तन्न आसुव।** (यजु० ३०.३)
हे ईश! मुझे सद्‌गुण प्रदान कीजिए।

३. **अहमिन्द्रो न परा जिग्ये।** (ऋग्० १०.४८.५)
मैं आत्मशक्ति-संपन्न हूँ। जीवन में कभी पराजित नहीं होता।

४. **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।** (यजु० ३४.१)
हे ईश! मेरे मन में सदा शुभ विचार ही स्थान पावें।

५. **पाप्मा हतो न सोमः।** (यजु० ६.३५)
मेरे दुर्विचार दूर हों और सद्विचार सदा बढ़ें।

२. ध्यान के दो भेद—बहिरंग और अन्तरंग

(क) ध्यान का स्वरूप

१. शक्तियों का केन्द्रीकरण—मनुष्य में अनन्त मानसिक शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों के अपव्यय, बिखराव एवं विकेन्द्रीकरण के कारण मनुष्य अपने आपको असमर्थ, असहाय और अशक्त समझता है। इस असामर्थ्य को दूर करने की ओषधि ध्यान है। बिखरी शक्तियों को केन्द्रित करने की कला ध्यान है। ध्यान में सर्वप्रथम चित्तवृत्तियों पर अंकुश लगाया जाता है। उनकी स्वेच्छाचारिता समाप्त की जाती है। उन्हें किसी एक लक्ष्य पर लगाया जाता है। यह एकलक्ष्यता ही चित्त का वशीकरण है। चित्त जब एक लक्ष्य को निर्धारित कर उसकी प्राप्ति में लगता है तो उसकी सारी शक्ति उसी में लग जाती है और उसकी निरर्थक भागदौड़ समाप्त हो जाती है।

२. आत्मानुशासन—आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यकता होती है—शक्तिसंचय की। महायुद्ध जीतने के लिए आवश्यकता होती है—शक्तिसंचय की।

शक्तिसम्पन्न व्यक्ति ही बड़ी-बड़ी योजनाओं को पूर्ण करते हैं। शक्ति आती कहाँ से है? शक्ति बाहर से नहीं आती, अपितु अन्दर से आती है। अन्दर से शक्ति किस प्रकार आती है? इसका उत्तर है—आत्मानुशासन, स्वशक्ति का केन्द्रीकरण, इन्द्रिय-वशीकरण, मनोनिग्रह। जिस प्रकार बल्ब आदि का प्रकाश केन्द्रित या फोकस (Focus) करने पर बहुत अधिक प्रकाश देता है, उसी प्रकार अपनी बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित करने या एकत्र करने से मन और आत्मा की शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रक्रिया को ही आत्मानुशासन कहते हैं। यह आत्मानुशासन धारणा और ध्यान के द्वारा ही संभव होता है। इस प्रक्रिया को ही एकाग्रता (Concentration) और ध्यान या चिन्तन (Meditation) कहा जाता है।

३. आत्म-परिष्कार या आत्मशोधन—ध्यान आत्म-परिष्कार या अपने आपको शुद्ध करने की प्रक्रिया है। सोने या लोहे को जितना तपाया जाएगा, उतना ही शुद्ध होता जाएगा। इसी प्रकार जितनी कठोरता से मन और इन्द्रियों के सधाया जाएगा, उतनी ही निर्मलता और प्रखरता इनमें आती जाएगी। साधना एक दिन का कार्य नहीं है। मनरूपी बन्दर को एक दिन में प्रशिक्षित नहीं कर सकते हैं। तत्परता से लगे रहने पर मन और इन्द्रियों की भाग-दौड़ में, बहिर्मुखी वृत्ति में, न्यूनता आती जाएगी। कुछ समय बाद इस साधना का फल दीखना प्रारम्भ होता है। जैसे व्यायाम आदि का फल कुछ मासों में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है, उसी प्रकार ध्यान-साधना से आत्म-परिष्कार, विचारों में शुद्धि, संस्कारों में सात्त्विकता और इच्छाशक्ति में वृद्धि का बोध साधक को होने लगता है।

४. स्वरूप-परिवर्तन—ध्यान स्वरूप-परिवर्तन या स्वयं के परिवर्तन की एक साधना है। यह अपवित्रता, अशान्ति, चंचलता, अधीरता आदि को नष्ट करके शान्त, पवित्र, स्थिर, धीर और सबल बनाता है। अशान्त मन को शान्ति, खिन्न को प्रसन्नता, राग-द्वेष को प्रेम और शत्रुता को बन्धुत्व में बदलता है। ध्यान विचार-धारा में परिवर्तन लाता है, अभावों की पूर्ति करता है। मनुष्य में आनन्द का अभाव है, उसकी प्राप्ति का मार्गप्रशस्त करता है। आत्मा में अशान्ति क्यों हैं? क्योंकि चित्तवृत्तियों में चंचलता है। इस चंचलता के कारण ही मन अशान्त और क्षुब्ध रहता है। ध्यान चित्तवृत्तियों की चंचलता को दूर करता है। ध्यान अन्तर्मुखी वृत्ति को परिपक्व करता है। इसका फल यह होता है कि मन शान्त होता है। चित्तवृत्तियाँ शान्त होती हैं। मन का क्षोभ-उद्वेग शान्त होता है। स्वच्छ दर्पण में, स्वच्छ जल में, शान्त सरोवर में प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार शान्त मन में आत्मा का स्वरूप दिखाई पड़ता है। इस प्रकार ध्यान मन को शान्त करके

उसमें आत्म-स्वरूप का दर्शन कराता है। साधक के विचारों, स्वभाव और चिन्तन में परिवर्तन लाकर उसकी जीवनशैली में ही परिवर्तन ला देता है।

(ख) बहिर्मुखी ध्यान, बहिरंग ध्यान

बहिर्मुखी ध्यान ही बहिरंग ध्यान है। इसमें बाह्य विषयों को लक्ष्य में रखकर अपना ध्यान केन्द्रित किया जाता है। जब ध्यान को केन्द्रित करने की कला आ जाती है, तो उसका सभी विषयों में प्रयोग किया जा सकता है। विद्या, धर्म, पाण्डित्य, कला-कौशल, संगीत, योगाभ्यास, तत्त्व-चिन्तन आदि विविध विषयों में दक्षता, प्रखरता एवं उत्कृष्टता प्राप्त की जा सकती है। इस एकाग्रता के कारण ही उच्चकोटि के विद्वान्, दार्शनिक, ज्ञानी, कलाकार और वैज्ञानिक होते हैं। योगसाधना में बहिर्मुखी ध्यान एकाग्रता के साथ ही आत्म-संयम, आत्म-विश्वास और आत्मबल की वृद्धि करता है। आत्मबल की वृद्धि स्वयं ही जीवन में स्फूर्ति, कर्मठता और कर्तव्य-परायणता को जागृत करती है। बहिर्मुखी ध्यान-साधना की विधि का उल्लेख किया जा चुका है। बहिर्मुखी ध्यान अन्तर्मुखी ध्यान का प्रथम सोपान है। इसमें दक्षता प्राप्त कर लेने पर अन्तर्मुखी ध्यान सरल हो जाता है। बहिर्मुखी ध्यान में तत्त्व-चिन्तन, आत्मबोध, आत्मानुशीलन आदि विषय नहीं हैं। अन्तर्मुखी ध्यान में आत्मतत्त्व का गहन अनुशीलन होता है।

(ग) अन्तर्मुखी ध्यान या अन्तरंग ध्यान

१. प्रयोजन—अन्तर्मुखी ध्यान बहिर्मुखी ध्यान की अपेक्षा कुछ कठिन है। इसमें कोई बाह्य वस्तु आधार नहीं होती। यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति है। यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म में शक्ति अधिक होती है। अन्तर्मुखी ध्यान में श्वास की गति, चित्त की वृत्तियों आदि पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। श्वास और प्रश्वास, साँस का अन्दर जाना और बाहर आने की प्रक्रिया पर ध्यान को केन्द्रित करना सबसे सरल और सबसे अधिक लाभप्रद विधि है। श्वास के अन्दर जाने और बाहर आने पर जितने अधिक समय ध्यान केन्द्रित करेंगे, उतना ही अधिक मनोनिग्रह होगा। परिणामस्वरूप अन्तर्मुखी ध्यान उतना ही पुष्ट हो सकेगा। श्वास-प्रश्वास पर ध्यान देने से एक लाभ यह भी होता है कि श्वास की गति कम हो जाती है और वह प्रतिमिनट १५-१६ से घटकर ८-१० या १०-१२ पर आ जाती है। इससे आयु में वृद्धि होती है।

२. आत्म-नियन्त्रण एवं चिन्तन—अन्तर्मुखी ध्यान में श्वास-प्रश्वास पर ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता प्राप्त करने के बाद आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। मन को नियन्त्रित करना, उसकी गतिविधि पर अंकुश लगाना, उसे अपने आदेशानुसार कार्य करने के लिए बाध्य करना अगला चरण

है। मनोनिरोध या चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण आत्मनियन्त्रण है। इसके लिए सुदृढ़ संकल्प और सतत प्रयास अपेक्षित है। चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण का सरल उपाय यह है कि ध्यान के समय आप शान्त बैठिए और एक दर्शक के रूप में तटस्थ भाव अपनाइए। स्वयं को लिप्त न करते हुए चित्त के प्रत्येक कार्य पर ध्यान दें, मन कहाँ जा रहा है, वहाँ से रोकिए। फिर दूसरी ओर जाता है, वहाँ से भी रोकिए। बार-बार रोके जाने पर मन की उछल-कूद कम होगी। उसे किसी लक्ष्य पर लगा दीजिए। जब वहाँ से हटे, तुरन्त रोकिए। प्रारम्भ में ५ या १० मिनट ऐसा करें। धीरे-धीरे समय बढ़ाइए। १० या १५ मिनट मन केन्द्रित होने पर उसमें स्वयं शान्त रहने की प्रवृत्ति जागृत होगी। इसके पश्चात् चिन्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ करें। आत्म-तत्त्व क्या है? मैं क्या हूँ? शक्ति का केन्द्र क्या है? जीव का शुद्ध स्वरूप क्या है? आत्म-ज्योति क्या है? इन बातों के चिन्तन से आपकी मन:स्थिति एक जिज्ञासु या गोताखोर के तुल्य होगी जो किसी प्रश्न के हल करने में लगे हुए व्यक्ति की होती है। उस समय बाह्य लक्ष्य न होकर आन्तरिक लक्ष्य होगा। चिन्तन बुद्धि को सक्रिय करता है। बुद्धि की निरन्तर सक्रियता से आन्तरिक शक्तियाँ उद्‌बुद्ध होने लगती हैं।

३. प्रतिभा का प्रबोधन—प्रत्येक मनुष्य में प्रतिभा बीजरूप में विद्यमान है। सतत प्रयत्न, बौद्धिक क्रियाशीलता, जिज्ञासुवृत्ति और सघन अनुशीलन प्रतिभा को जागृत करते हैं। प्रतिभा का प्रकाशन बीज के अंकुरित होने के तुल्य है। चिन्तन, जिज्ञासा की प्रवृत्ति प्रतिभा को प्रस्फुरित होने के लिए बाध्य करती हैं। अन्तर्मुखी वृत्ति होने पर जब आप अन्दर ही अन्दर प्रश्न पूछेंगे तो आत्मतत्त्व सक्रिय होता है। यह स्मरण रखें कि आत्मतत्त्व साधक के प्रश्नों का उत्तर देता है। साधक की जिज्ञासा की शान्ति के लिए अन्दर से प्रश्न का उत्तर संकेतरूप में या स्पष्ट रूप में प्राप्त होता है। यही है प्रतिभा का प्रस्फुरण। घर्षण से अग्नि प्रकट होती है। चिन्तन-रूपी घर्षण से प्रतिभा का प्रस्फुरण होता है। प्रतिभा जब भी जागृत हो जाती है, वह आपका मार्गदर्शन करेगी और दिव्य क्षमताओं को आकृष्ट करेगी। जितनी आपकी अन्तरात्मा शुद्ध होगी, उसी अनुपात से प्रतिभा का प्रस्फुरण होगा।

४. शक्ति के केन्द्र—शक्ति के केन्द्रों को योग की भाषा में 'चक्र' कहते हैं। इनको जागृत करने की प्रक्रिया को 'चक्रभेदन' या 'चक्रवेधन' कहते हैं। सात चक्र हैं। इन चक्रों में भी तीन मुख्य हैं—१. आज्ञाचक्र, २. सहस्रार चक्र, ३. अनाहत चक्र। आज्ञाचक्र भ्रूमध्य में स्थित है। इसे शिव का तृतीय नेत्र भी कहते हैं। यह दिव्य दृष्टि का प्रसारक यन्त्र है। इस चक्र के जागृत होने पर सांसारिक

विषय-वासनाएँ स्वयं समाप्त हो जाती हैं। इसको ही 'मदन-दाह' (काम-वासनाओं का नाश) कहते हैं। यह चक्र दिव्य दृष्टि देता है। यह केन्द्र सभी चक्रों को नियन्त्रित करता है, अत: इसे मुख्य केन्द्र (Main Switch) कहा जाता है। इसको जागृत करना बहुत कठिन है। इस शक्ति-केन्द्र को जागृत कर लेने पर अन्य चक्र शीघ्र ही जागृत हो जाते हैं। इडा-पिंगला-सुषुम्णा तीनों नाड़ियाँ इस चक्र के ऊपर आकर मिलती हैं। इस चक्र के भेदन का उपाय धारणा और ध्यान हैं। आज्ञाचक्र के ऊपर 'सहस्रार चक्र' है। इसे 'ब्रह्मरन्ध्र' भी कहते हैं। यह ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र है। इससे सहस्रों किरणें निकल कर ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को नियन्त्रित करती हैं। अत: इसे 'सहस्रार चक्र' कहते हैं। यह ज्ञान का केन्द्र है। बुद्धि, मेधा, प्रज्ञा, प्रतिभा का विकास इस केन्द्र पर ध्यान जमाने से होता है। 'अनाहत चक्र' हृदय के मध्य में है। इसे 'जीवात्मा का निवास' माना जाता है। यह श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, ममता, समवेदना आदि सोमीय तत्त्वों का केन्द्र है। इसको जागृत करने से भक्ति, श्रद्धा आदि गुणों की वृद्धि होती है। इन तीनों केन्द्रों को जागृत करने का उपाय है—धारणा और ध्यान की एकाग्रता। प्रतिदिन कम से कम आधा घण्टा इन केन्द्रों पर ध्यान करने से ये केन्द्र खुलते हैं। फलस्वरूप ज्ञान, श्रद्धा-भक्ति आदि गुणों का विकास होता है। इन केन्द्रों को खोलने के लिए कम से कम एक या दो वर्ष की सतत साधना अपेक्षित होती है।

५. तत्स्थता, तद्धर्मता और तद्रूपता—तत्स्थता का अर्थ है--उसमें स्थित होना, जैसे—लोहे आदि का अग्नि आदि में पड़ना। तद्धर्मता का अर्थ है—अग्नि आदि के धर्मों, गुणों या विशेषताओं को धारण करना। जैसे—लोहे का अग्नि के गुणों या धर्मों का अपनाना। तद्रूपता का अर्थ है—उसके रूप या स्वरूप को धारण करके एकरूप हो जाना। ये ध्यान-साधना के तीन सोपान हैं। अग्निरूप परमात्मा में अपने आपको डालना या समर्पित करना, यह तत्स्थता है। इससे साधक परमात्मा की शरण में जाता है, अपने आपको परमात्मा की गोदी में बैठा हुआ अनुभव करता है। यह 'तत्स्थता' नामक प्रथम श्रेणी है। इसके पश्चात् साधक परमात्मारूपी अग्नि के गुणों तेजस्विता, प्रखरता, शुद्धता, वर्चस्विता आदि धर्मों का धारण करना प्रारम्भ करता है। यह दूसरी श्रेणी 'तद्धर्मता' है। इसके पश्चात् अपने आपको परमात्ममय शान्त, शुद्ध, निर्विकार आदि गुणों से युक्त अनुभव करना 'तद्रूपता' है। तन्मय हो जाना तद्रूपता है। ध्यान के क्रमिक विकास के आधार पर साधक इन तीनों सोपानों को सिद्ध कर पाता है।

६. तत्त्वान्वेषण—जिस प्रकार समुद्र में अनन्त मोती भरे हुए हैं, उसी प्रकार मानव में अनन्त दिव्य शक्तियाँ भरी हुई हैं। आवश्यकता है—उनको जानने और निकालने के लिए गोताखोर की तरह गहरी डुबकी लगाना। ध्यान में जब

मन:स्थिति शान्त होती है, उस समय मन अत्यन्त स्वच्छ और शान्त सरोवर की तरह होता है। शान्त सरोवर में अपनी आकृति स्पष्ट दिखाई देती है। इसी प्रकार शान्त मन:स्थिति में आत्मा के स्वरूप का दर्शन होता है। उस समय साधक की दिव्य शक्तियाँ प्रकट होना प्रारम्भ होती हैं। ज्यों-ज्यों ध्यान की उत्कृष्टता होती जाती है, तदनुरूप दिव्य शक्तियों का विकास होता जाता है। यह वैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य अपनी आत्मशक्ति का केवल सात प्रतिशत ही अधिक से अधिक उपयोग करता है। ९३ प्रतिशत उसकी दिव्य-शक्ति प्रसुप्त ही पड़ी रहती है। ध्यान ही वह साधना है, जिससे उन प्रसुप्त शक्तियों को जागृत किया जा सकता है और उनका उपयोग किया जा सकता है। ध्यान की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—मन का शान्त होना, चंचलता-विक्षुब्धता समाप्त होना, स्थिर-बुद्धि होना, तत्त्वान्वेषण की प्रवृत्ति जागृत होना, आत्मिक प्रसन्नता या आह्लाद।

७. मस्तिष्क में चुम्बकीय तत्त्व—ध्यान-साधना में विचारों के निरन्तर संघर्ष से मस्तिष्क में चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जाती है। मस्तिष्क का विद्युत्-चुम्बकीय प्रवाह केन्द्रित होकर विशेष दिशा में प्रवाहित होता है। वह तत्त्वान्वेषण, प्राकृतिक रहस्यों, आत्मा की विभूतियों, दिव्य शक्तियों आदि के अन्वेषण में लग जाता है। इस प्रवृत्ति का फल यह होता है कि गहन विचार स्वयं उद्‌बुद्ध होने लगते हैं। यह है दिव्य शक्तियों के गढ़ में प्रवेश। ध्यान जितना उत्कृष्ट होगा, उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी। इसके लिए आवश्यक है—मन और विचारों की शुद्धि, स्थिर बुद्धि का होना, सतत अध्यवसाय।

८. दिव्य प्रकाश का अवतरण—ध्यान-साधना में प्रकाश-साधना का विशेष महत्त्व है। प्रकाश-साधना के लिए सविता (सवितृ)-देव को लक्ष्य बनाया जाता है। गायत्री मंत्र का देवता सविता है। यह भौतिक सूर्य नहीं, अपितु विश्वव्यापी ऊर्जा का स्रोत आत्मतत्त्वरूपी सूर्य है। जिसके लिए उपनिषदों में कहा गया है कि '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' (कठ० २.५.१५) अर्थात् उस आत्मरूपी शक्ति के प्रकाश से यह सारा संसार प्रकाशित हो रहा है। उस शक्ति का प्रकाश मानव के मस्तिष्क के स्नायुतंत्र को ही नहीं, अपितु सारे शरीर के कोशाणुओं को प्रभावित करता है। गायत्री का अर्थ ही है—'**गयान् प्राणान् त्रायते इति गायत्री**' अर्थात् प्राणों के रक्षक देवता को ही गायत्री या सावित्री कहते हैं।

हमारे शरीर में 'ब्रह्मरन्ध्र' (शिर से ऊपरी भाग में स्थित कोमल तालु) ही चुम्बकीय आकर्षण-शक्ति का केन्द्र है। यहीं से दिव्य और ब्रह्माण्डीय विद्युत्-चुम्बकीय किरणें (Cosmic rays) शरीर में प्रवेश करती हैं। यहीं से मानवीय और ब्रह्माण्डीय दिव्य शक्तियों का आदान-प्रदान होता है। यह शिरोभाग मानव

का उत्तरी ध्रुव है। ब्रह्माण्डीय किरणों के ग्रहण करने से ही योगी भूत, वर्तमान और भविष्य की घटनाओं का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करता है। ब्रह्माण्डीय किरणें पात्रता के अनुसार ही शरीर में प्रवेश करती है। अतः चेतना की उच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाश-साधना करनी पड़ती है। इस साधना से ही इस केन्द्र की क्षमता बढ़ती है और दिव्य प्रकाश का अवतरण होता है। मानव-शरीर कोशिकाओं से निर्मित है और प्रत्येक कोशिका वैज्ञानिक दृष्टि से एक सूक्ष्मतम प्रकाशपुंज है। इस प्रकार मानव-शरीर सूक्ष्मतम प्रकाश-अणुओं का समूह है। दिव्य प्रकाश सूक्ष्मतम अणुओं को शक्ति देकर दूषित परमाणुओं को नष्ट करता है और नवीन चेतना देता है। यह कार्य ध्यान-साधना से ही संभव हो सकता है।

९. ध्यान-सम्बन्धी अन्य साधनाएँ

(क) बौद्ध साधना में ध्यान

ध्यान के पाँच प्रकार

१. सत्त्वेषु मैत्री—प्रत्येक प्राणी से मित्रता का व्यवहार करना, प्रेम, स्नेह या प्रीति यह ध्यान का प्रथम अभ्यास है। सबके प्रति मन में सद्‌भावना, हित की भावना या शुभकामना रखना।

२. सत्त्वेषु करुणा—सब प्राणियों के प्रति दया, करुणा या ममत्व का भाव रखना। जो भी असहाय, अभावग्रस्त, दीन-हीन हैं, उनके प्रति करुणा का भाव रखना और जो कुछ सहायता संभव हो करना।

३. परहित-चिन्तनम्—मनुष्यमात्र के कल्याण की कामना करना। उनके सुख और हर्ष में प्रसन्न होना। परोपकार की भावना मन में सदा रखना।

४. विषयासक्तिः दुःखप्रदा—इस बात का ध्यान करना कि भौतिक विषयों में आसक्ति सदा दुःखदायी होती है। इन्द्रियजन्य सुख कितने तुच्छ होते हैं और कितना घातक फल देते हैं।

५. शान्ति-सन्तोष-भावना—मन में शान्ति का भाव रखना। किसी प्रकार की अशान्ति, अन्याय, राग-द्वेष, विपन्नता, हानि-लाभ को मन में न आने देना। अपनी वर्तमान दशा पर सर्वथा सन्तुष्ट रहना। न किसी वस्तु को चाहना और न किसी वस्तु के अभाव को ध्यान में लाना।

विपश्यना साधना

संक्षिप्त परिचय—विपश्यना भारत की अत्यन्त प्राचीन ध्यान-विधि है। भारतवर्ष में इसका पुनरुद्धार श्री गौतम बुद्ध ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व किया था। उन्होंने स्वयं इसका अभ्यास ४५ वर्ष किया था। यह ध्यानविधि भारत तथा

अन्य देशों से प्रायः लुप्त हो गई थी। केवल बर्मा में यह विधि मूलरूप में विद्यमान रही। बर्मा में इसके प्रख्यात आचार्य सयाजी ऊ बा खिन (सयाजी) से श्री सत्य-नारायण गोयनका ने यह विद्या सीखी और १९६९ ई० में सयाजी ने श्री गोयनका को इस ध्यानविधि के प्रचार के लिए अधिकृत किया।

श्री गोयनका के प्रयत्न से इस समय विश्व के ८० से अधिक देशों में इस ध्यान-विधि का प्रचार हुआ है। विश्व भर में इसके २१ बड़े केन्द्र हैं, जिनमें भारत में ८ केन्द्र हैं।

विपश्यना क्या है?—यह प्राचीन भारतीय योगविद्या के अन्तर्गत ध्यानविधि की प्रक्रिया है। विपश्यना का अर्थ है— विशेष रूप से देखना, जो वस्तु जैसी है उसे उस रूप में देखना, उसके मूल-स्वरूप को देखना या जान लेना। यह कार्य आत्म-निरीक्षण से होता है, अतः आत्मनिरीक्षण ही इस विधि का मूल तत्त्व है।

पंचशील-पालन—विपश्यना के अभ्यास के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम पंचशील का अभ्यास करे। पंचशील में ये ५ कार्य हैं—

१. **अहिंसा**—किसी भी प्रकार से जीव-हत्या न करना।

२. **सत्य**—असत्यभाषण से विरत होना, झूठ न बोलना।

३. **अस्तेय**—चोरी न करना।

४. **ब्रह्मचर्य**—संयम का पालन करना, भोग एवं विषयासक्ति से विरत रहना।

५. **मद्यपान-त्याग**—सुरापान एवं सभी प्रकार के नशे से विरत होना।

इसके साथ ही सात्त्विक भोजन, दिनचर्या एवं एकान्त में जीवनयापन भी आवश्यक कर्तव्य हैं।

ध्यानविधि के ३ सोपान

१. **पंचशील-पालन**—पंचशील का श्रद्धा और निष्ठा के साथ पालन करना।

२. **आनापान साधना**—आनापान यह 'प्राणापान' का अपभ्रंश शब्द है। इस साधना का बहुत महत्त्व है। आनापान क्या है? आनापान का अर्थ है—प्राण और अपान की क्रियाओं को देखना। इसका अभिप्राय है कि शरीर में प्राण या श्वास के अन्दर जाने पर ध्यान देना और अपान या श्वास के बाहर आने की क्रिया को देखना। श्वास लेते समय हमारा ध्यान इस बात पर रहे कि नाक से श्वास अन्दर जा रहा है। इसी प्रकार श्वास बाहर आते समय हमारा ध्यान इस बात पर रहे कि श्वास किस प्रकार बाहर आ रहा है। इसमें प्रत्येक सांस के

आने-जाने पर ध्यान रखना है। जितनी अधिक सूक्ष्मता से श्वास के आने-जाने पर ध्यान रखेंगे, उतनी ही अधिक मन की एकाग्रता प्राप्त होती जाएगी। मनोनिरोध या मनोनियन्त्रण का यह अत्यन्त सरल और अत्यधिक उपयोगी प्रकार है।

विपश्यना-शिविर में प्रशिक्षण के ११ दिनों में साढ़े तीन दिन तक दिन-रात इस आनापान साधना का अभ्यास करना पड़ता है। दिनरात इसी काम पर जुते रहने से मन की चंचलता में स्वत: कमी आने लगती है। बन्दर को दिन भर जो काम सिखाएंगें, वह उसी का अभ्यस्त हो जाएगा।

आर्यमौन—आर्यमौन का अभिप्राय है—मौन रहना, चुप रहना, किसी से बात न करना। विपश्यना साधना में मौन का बहुत माहात्म्य है। किसी से कुछ न बोलना। प्रशिक्षण के ११ दिनों में साढ़े दस दिन तक मौन रहना अनिवार्य है। यहाँ तक कि संकेत से या लिख-पढ़कर भी विचार-विनिमय करना वर्जित है। साढ़े दस दिन तक एक अक्षर भी न बोलना, न किसी प्रकार की बात कर सकना, यह कठोर साधना है। बोलने से शक्ति का क्षय होता है। न बोलने से या मौन रहने से यह शक्ति सुरक्षित रहती है। इस सुरक्षित शक्ति का ध्यान-साधना में उपयोग होता है। आनापान-साधना और मौन-पालन से मन पर कठोर नियन्त्रण हो जाता है और जीवन में शुद्धता आ जाती है।

३. मन की शुद्धि—प्रशिक्षण काल में बाद के साढ़े ६ दिनों तक मन की शुद्धि का काम करना पड़ता है। इसमें मन के अन्दर दबे हुए विकारों, दुर्व्यसनों, दुर्विचारों, दुर्गुणों, दुर्भावनाओं आदि को दूर करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। साधक अपनी प्रज्ञा को जागृत करके अपने दोषों दुर्गुणों आदि को सोचता है और उनको जड़ से नष्ट करने का भाव जागृत करता है। बार-बार मन में यह चिन्तन कि मैं यह पाप, अनाचार, अत्याचार या अनुचित कार्य नहीं करूँगा, मन पर प्रभाव डालता है। बार-बार इन विचारों को दुहराने का अभ्यास करने पर सात्त्विक भावनाएँ जागृत होती हैं और मन निर्मलता की ओर अग्रसर होता है।

दैनिक जीवन में पंचशील के पालन का अभ्यास करना, आनापान-साधना का दिन में कम से कम २-४ घण्टे अभ्यास करना, ४-६ घण्टे मौन व्रत का पालन करना और एक या दो घण्टे मन की शुद्धि के लिए शान्तचित्त होकर एकान्त में बैठकर मन की क्रियाओं को देखते हुए उनके दोषों को दूर करने का दृढ़ व्रत लेना ही विपश्यना साधना का मूल-मंत्र है। यह साधना मानसिक शान्ति के साथ आत्मिक शक्तियों को जागृत करते का सरल उपाय है।

(ख) जैन ग्रन्थों में साधना और ध्यान

(१) साधना का स्वरूप

१. साधना का अर्थ—साधना का अर्थ है—चित्त की अखण्डता या एकाग्रता का अभ्यास। चित्त की अखण्डता साधक के लिए ही नहीं, अपितु सबके लिए आवश्यक है। चित्त की एकाग्रता से ही पारंगतता आती है। चित्त की एकाग्रता से ही महाकवि, महादार्शनिक, बड़े वैज्ञानिक आदि हो पाते हैं। चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों को समेटना या एकत्र करना साधना है।

साधना को हिन्दी 'सधाना' से सरलता से समझा जा सकता है। चित्त या मन को नियन्त्रित करना, संयत करना, व्यवस्थित करना साधना है। साधना के क्षेत्र में शरीर, श्वास, वाणी और मन को सधाना आवश्यक होता है।

२. वासना—कल्पना ही रूपान्तरित होकर वासना बन जाती है, जैसे पानी का बर्फ हो जाना। कल्पना (विचार या संकल्प) पहले इच्छा बनती है। इच्छा ही आशा बन जाती है। आशा ही धीरे-धीरे वासना बन जाती है। संकल्प का वासना बन जाना जल का बर्फ बन जाने के तुल्य है। जल और बर्फ के तुल्य संकल्प और वासना दो पृथक् रूप हो गए। वासना में ढकने की शक्ति है, किसी वस्तु पर पर्दा डालने की क्षमता है।

३. वासना का प्रभाव—मनुष्य के अन्दर प्रकाश है, ज्योति है, चेतना है। वासना जल के ऊपर शैवाल (काई) की तरह ज्योतिपुंज के ऊपर आवरण डाल देती है, जिससे अन्दर की ज्योति दिखाई नहीं पड़ती। इस वासनारूपी आवरण को हटाकर तेजोमय प्रकाश का दर्शन साधना का उद्देश्य है।

४. चेतना की अखण्डता—चेतना सूर्य के प्रकाश के तुल्य अखंड हैं, किन्तु वह हजारों दरवाजों में बँट जाती है। जो चेतना मस्तिष्क के द्वारा व्यक्त होती है, उस चेतना को 'चित्त' कहते हैं, मन भिन्न वस्तु है। चित्त चेतना की खिड़की के तुल्य है, जिससे मनुष्य दूर तक झाँक सकता है और बहुत दूर का प्रकाश मनुष्य के अन्दर पहुँच सकता है। अलग-अलग द्वारों और खिड़कियाँ के कारण उस चेतना के अलग-अलग नाम पड़ जाते हैं। चेतना बिखरी हुई है। उसको बटोरना-समेटना और विखंडित को जोड़कर अखंड बना देना ही वास्तविक साधना है। साधना चेतना को अखंडित बनाना है।

५. चेतना का दिशापरिवर्तन साधना है—दिशा-परिवर्तन का भाव है—जो चेतना बहिर्मुख होकर बिखर रही थी, खंडित हो रही थी, उसको अखंडित करने के लिए दिशा बदलकर अन्तर्मुख कीजिए। अन्तर्मुख होते ही उसका बिखराव या खंडित होना बन्द हो जाएगा और वह चेतना अखंडित होनी प्रारम्भ

हो जाएगी। चेतना का अखंडित होना ही साधना का लक्ष्य है। अखंडित होने के लिए तादात्म्य की आवश्यकता है। तादात्म्य की स्थापना होने से एकरूपता होती है, चेतना के साथ एकत्व की अनुभूति होती है।

६. समर्पण—अखण्ड चेतना, शाश्वत तत्त्व या आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए समर्पण किया जाता है। कुछ पाने के लिए समर्पण किया जाता है। आग्नेय या अग्नितत्त्व-प्रधान रूप की प्राप्ति के लिए लोहा अग्नि को समर्पित किया जाता है; तभी वह अग्नि में पड़कर आग्नेय रूप धारण करता है। इसी प्रकार शाश्वत तत्त्व आत्मा की प्राप्ति के लिए समर्पण किया जाता है। उससे चेतना, शक्ति, स्फूर्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है।

७. विचार और धारणा—मनुष्य में जैसे विचार और जैसी धारणाएँ होती हैं, उसके उत्कृष्ट बिन्दु पर पहुँचने पर मनुष्य वही बन जाता है। उग्र क्रोध की अवस्था में मनुष्य दैत्य बन जाता है और शान्ति की प्रतिष्ठा होने पर देव बन जाता है। इसी को गीता में कहा है कि मनुष्य के जैसे विचार, संकल्प और श्रद्धा होती है, वह तदनुरूप ही बन जाता है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यत्-श्रद्धः एव सः। गीता १७.३

८. अन्तर्मुखी वृत्ति—अपनी ज्ञानेन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्दर की ओर मोड़ना अन्तर्मुखी वृत्ति है। मन और इन्द्रियाँ तबतक अन्तर्मुखी नहीं होती हैं, जब तक मन और प्राण इधर-उधर भटकते हैं एवं मध्यमार्ग से नहीं चलते। सुषुम्णा मध्यमार्ग है। बाईं ओर इडा नाडी है। यह सोमीय तत्त्व है, यह निषेधात्मक (Negative) है। दाईं ओर पिंगला नाडी है। यह आग्नेय तत्त्व है। यह क्रियात्मक (Positive) है। सुषुम्णा मध्यस्थ (Neutral) है। जब मन और प्राण को मध्यमार्ग पर लाते हैं, तब सुषुम्णा का द्वार खुलता है। सुषुम्णा का द्वार खुलते ही मन और प्राण का संचार सुषुम्णा के मार्ग से होने लगता है। तब बहिर्मुखी वृत्ति स्वयं रुक जाती है और अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत होती है। बहिर्मुखी वृत्ति भौतिकता लाती है और अन्तर्मुखी वृत्ति आध्यात्मिकता। यही दोनों का मौलिक अन्तर है।

९. चक्रों का खुलना—शरीर में मुख्य रूप से मूलाधार आदि सात चक्र हैं। इनको खोलने का मुख्य उपाय कुंभक क्रिया है। प्राणायाम में श्वास अन्दर लेने पर धारणा के साथ मन लगाने से हम जहाँ चाहते हैं, वहाँ प्राण जाता है। जिस केन्द्र को खोलना चाहते हैं, वहाँ पर श्वास को केन्द्रित करके कुम्भक क्रिया करें। निरन्तर इस क्रिया को करने से वह चक्र या ग्रन्थि खुलती है।

१०. चेतना शक्ति का उद्गम—चेतना-शक्ति, प्राणशक्ति या श्वास-शक्ति शरीर के निचले भाग पृष्ठरज्जु (मेरुरज्जु) के अन्तिम छोर से प्रवाहित होती है। यह

मूलाधार चक्र एवं कुण्डलिनी का स्थान है। हमारी चेतना-शक्ति, प्राण की शक्ति, ज्ञान की शक्ति एवं इडा-पिंगला की शक्ति यहाँ से ही प्रारम्भ होती है। उसका प्रवाह यदि ऊपर की ओर होता है तो चेतना का विकास होता है और यदि उसका प्रवाह नीचे की ओर होता है तो चेतना का आच्छादन होता है, ह्रास होता है।

११. मनःचक्र (हृदय-कमल)—नाभि से १२ अंगुल ऊपर मनःचक्र है। यह अनाहत चक्र है। यह प्राणशक्ति का केन्द्र है। जब मनःचक्र में हमारी प्राणशक्ति का प्रवाह होता है तो जागृति अभिव्यक्त होती है। यह जागरण का प्रारम्भ है। मनःचक्र में ही राग-द्वेष की ग्रन्थि (गाँठ) है। जबतक राग-द्वेष की गाँठ समाप्त नहीं होती, तबतक जागृति पूर्णतया विकसित नहीं हो सकती। मनःचक्र में ग्रन्थि या गांठ कहने का अभिप्राय है कि यहाँ स्नायु बहुत उलझे हुए हैं। इनको सुलझाने पर ही प्राणशक्ति का प्रवाह अबाध हो पाता है। कमल खिलता और बन्द होता है। इस विकास और संकोच के आधार पर हृदय को कमल कहा जाता है, क्योंकि यह हृदय निरन्तर खुलता और बन्द होता है। इससे ही रक्त की शुद्धि की प्रक्रिया पूरी होती है।

१२. मनःचक्र और ध्यान—मनःचक्र पर ध्यान को केन्द्रित करके रेचक, पूरक और कुंभक करने से मन की ग्रन्थियाँ खुलनी प्रारम्भ हो जाती हैं। उनकी उलझनें समाप्त होने लगती हैं और क्रमशः ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। ग्रन्थियों का खुलना ही जागरण का प्रारम्भ है। जागरण से यह ज्ञात होता है कि स्थूल शरीर से भी बड़ी एक शक्ति है—वह है सूक्ष्म शरीर। सूक्ष्म शरीर को जानना आवश्यक है।

१३. सूक्ष्म शरीर—इस स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर बहुत अधिक शक्तिशाली है। सूक्ष्म शरीर स्थूलशरीर से सैकड़ों गुना शक्ति वाला है। मनुष्य की सारी शक्तियाँ सूक्ष्म शरीर में केन्द्रित हैं। उसी से स्थूल शरीर को शक्ति प्राप्त होती है।

१४. चैतन्य सत्ता—स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों से पृथक् चैतन्य सत्ता (आत्मा) है। वस्तुतः शक्ति का मूल स्रोत वही है। दोनों स्थूल और सूक्ष्म शरीर जड़ हैं। उनमें अपनी शक्ति नहीं है। उन्हें चैतन्य सत्ता (आत्मा) से ही शक्ति प्राप्त होती है। इस चैतन्य सत्ता को ही योगी अरविन्द ने चैत्य पुरुष या हृदय पुरुष (Psychic Being) कहा है। इस चैतन्य सत्ता का निवास मनःचक्र में है।

१५. चैतन्य की मुख्य तीन क्रियाएँ—चैतन्य सत्ता (आत्मा) की मुख्य रूप से तीन क्रियाएँ हैं—ज्ञान, शक्ति और आनन्द। ज्ञान यह चेतना का आलोक या प्रकाश है। इसके कारण ही मनुष्य में ज्ञान, विज्ञान, विद्या-बुद्धि और विवेक आदि का प्रादुर्भाव होता है। शक्ति उसकी चेतनता का प्रवाह है। इसके कारण ही मनुष्य में ऊर्जा, स्फूर्ति, बल, ओज आदि है। आनन्द उसकी अनुभूति है। ध्यान-

साधना के द्वारा उस चेतनसत्ता के आनन्द की अनुभूति की जाती है। सूक्ष्मशरीर में ही सारी वासनाएँ रहती हैं। अतएव वह ज्ञान, शक्ति और आनन्द पर आवरण डालता है। आवरण डालना सूक्ष्म शरीर का कार्य है। अतएव मनुष्य आत्मा का आनन्द, आत्मा की शक्ति और आत्मा के ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता है। ध्यान के द्वारा इस पर्दे (आवरण) को हटाया जाता है। तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है।

१६. ध्यान—ध्यान की सफलता के लिए आवश्यक है कि शरीर की शिथिलता के साथ ही प्राणों को भी शिथिल करें। जबतक प्राण शिथिल नहीं होगा, शान्त नहीं होगा, तबतक मन भी न शिथिल होगा, न शान्त होगा। मन को शान्त करने के लिए आवश्यक है कि प्राणों को शिथिल, नियन्त्रित और शान्त करें। यह कार्य धारणा और ध्यान करते हैं।

१७. मन और प्राण—मन और प्राण ये दोनों संबद्ध हैं। दोनों में से किसी एक को नियन्त्रित करने पर दूसरा स्वयं नियन्त्रित हो जाता है। श्वास पर प्राणायाम से नियन्त्रण करें तो मन भी नियन्त्रित हो जाएगा। इसी प्रकार धारणा से मन को नियन्त्रित करें तो प्राण स्वयं शान्त एवं नियन्त्रित हो जाएगा। श्वास पर ध्यान केन्द्रित करने पर मन शान्त हो जाता है और मन पर ध्यान केन्द्रित करने से श्वास शिथिल हो जाता है। मन की शान्ति होने पर ही अस्तित्व का बोध होता है, आत्मबोध होता है।

१८. ज्ञानयोग और मन—ज्ञानयोग में आत्मा के ज्ञानपर बल दिया जाता है। आत्मा पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। आत्मा, मन और प्राण ये तीनों घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं। आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करने पर मन और प्राण ये दोनों भी शान्त होने लगते हैं। इनमें निष्क्रियता और निःस्पन्दता आने लगती है। आत्मा, मन और प्राण इन तीनों में से किसी एक पर नियन्त्रण कर लेने से तीनों पर नियन्त्रण हो जाता है।

१९. शरीर में शक्ति के विविध केन्द्र—शरीर में कुछ विशिष्ट स्थान हैं, जहाँ से शक्ति या ऊर्जा प्रकट होती है।

(क) शक्ति का केन्द्र—शक्ति के प्रकट होने का केन्द्र है— पृष्ठरज्जु या मेरुरज्जु (Spinal cord)। मेरुरज्जु का जो सबसे नीचे का हिस्सा है, गुदा के पास, वहाँ शक्ति का केन्द्र है। वहाँ से शक्ति प्रकट होती है। सारे स्नायु (Nerves) पृष्ठरज्जु से निकलते हैं। पृष्ठरज्जु में ही सारे स्नायुओं का जाल है। सारे चक्र इसी में हैं।

(ख) आनन्द का केन्द्र—आनन्द का केन्द्र अनाहत चक्र, मनःचक्र या हृदयचक्र में हैं। सारा आनन्द यहीं प्रकट होता है। यहीं सारी भावनाएँ हैं, अतः

तन्मयता भी यहीं होती है। राग-द्वेष के भाव भी यहीं होते हैं और आनन्द भी यहीं होता है।

(ग) प्राण का केन्द्र—प्राण का केन्द्र तैजस शरीर है। यह नाभि के नीचे है। यह सूक्ष्म है। यह प्राण-शक्ति का केन्द्र है। जितनी ऊर्जा उत्पन्न होती है, जितना प्राण उत्पन्न होता है, वह सारा तैजस शरीर से ही होता है। तैजस शरीर एक प्रकार का जेनरेटर (Generator) है। यहीं से सारी ऊर्जा (शक्ति) उत्पन्न होती है, जो सारे शरीर को सक्रिय बनाती है।

(घ) चेतना का केन्द्र—सारी चेतना का केन्द्र बृहद् मस्तिष्क है। यहीं से मानव की सारी अभिव्यक्तियाँ होती हैं।

(ङ) प्राण के उपकेन्द्र—प्राण का मुख्य केन्द्र नाभि के नीचे तैजस शरीर है। इसके विशेषरूप से प्रकट होने के कुछ अन्य केन्द्र भी हैं। इनमें विशेष हैं—

(१) हृदय—हृदय या अनाहत चक्र में प्राण विशेष रूप से प्रकट होता है। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ चरक में हृदय को ओज (ओजस्) का प्रमुख केन्द्र बताया गया है—**'तत् परस्यौजसः स्थानम्'**। ओज, प्राण और वीर्य ये शक्ति के ही वाचक विभिन्न शब्द हैं। **(२) नासाग्र**—नाक का अग्रभाग। यहाँ पर भी प्राणशक्ति विशेषरूप से प्रकट होती है। अतएव धारणा-ध्यान में नाक के अग्र भाग पर दृष्टि एकाग्र करने का विधान है। उच्च साधना में नाक के अगले हिस्से से सुगन्ध निकलनी प्रारम्भ होती है। नाक से सुगन्ध निकालना दिव्य शक्तियों में से एक है।

२०. मनोनिरोध के उपाय—मनोनिरोध या मन की चंचलता दूर करने के मुख्य रूप से तीन उपाय हैं—**(क) अभ्यास**—प्राणायाम और धारणा का निरन्तर अभ्यास। **(ख) वैराग्य**—मन में अनासक्ति या विरक्ति की भावना को प्रबल बनाना। विषयों के प्रति अनासक्ति या उदासीनता की भावना को बढ़ा देने से मन की चंचलता दूर होती है। योगदर्शन और गीता में भी अभ्यास और वैराग्य को मनोनिरोध का विशेष उपाय बताया गया है। **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'** (योग० १.१२)। **(ग) स्वाध्याय**—स्वाध्याय करना, अध्यात्म-विषयक ग्रन्थों को पढ़ना। पठन-पाठन में मग्न रहना भी मनोनिरोध का उत्तम उपाय है।

२१. प्राण-नियन्त्रण के उपाय—प्राणों पर नियन्त्रण करने, प्राणों की गति पर अंकुश लगाने या श्वास की गति को शान्त करने के लिए ये तीन उपाय विशेष उपयोगी हैं—

(क) कपालभाति प्राणायाम—यह प्राणायाम का ही एक भेद है। दोनों नाक में एक नाक बन्द कर लें। इसे क्रमशः दोनों नाक से कर सकते हैं। नाक से लम्बा श्वास बाहर फेंकना (रेचक), फिर तुरन्त साँस लेना (पूरक) और कुंभक

किए बिना फिर लम्बा श्वास बाहर निकालना। इस क्रिया को कम से कम पाँच मिनट करना। इसमें श्वास को बाहर फेंकने (रेचक) पर विशेष बल है, पूरक स्वयं ही हो जाएगा। इससे प्राणों का बिखराव दूर होगा और सुषुम्णा में प्राणों के प्रवेश का मार्ग शीघ्र खुलेगा।

भस्त्रावल्लोहकारस्य, रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता, कफदोष-विशोषणी॥ हठ० २.३६

(ख) त्रिबन्ध—तीन बन्ध लगाए जाते हैं। ये हैं—**१. मूलबन्ध**—मलद्वार (गुदा) सहित नीचे के भाग को ऊपर सिकोड़ना। **२. उड्डीयान**—साँस को बाहर निकालकर पेट को पीठ की ओर बलपूर्वक खींचना, जिससे पेट पीठ से सट जाए। **३. जालन्धर**—ठोडी (हनु) को कंठकूप (गर्दन के बीच में कोमल छोटा गड्ढा) में लगाना। प्राणायाम में पूरक करने पर मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध लगते हैं। रेचक के समय बाह्य कुंभक करते हुए उड्डीयान बन्ध अर्थात् पेट को पीठ की ओर सटाना और मूलबन्ध लगाना। त्रिबन्ध से प्राण नियन्त्रित होता है और वह सुषुम्णा में शीघ्र प्रवेश करता है।

(ग) कोटि प्राणायाम या दीर्घश्वास—दीर्घ श्वास का प्रयोग करने से प्राण की धारा मध्यवर्ती हो जाती है और सुषुम्णा का प्रवेशद्वार खुलता है। दोनों नासाछिद्रों से दीर्घ श्वास लें। बिना कुंभक किए उसे छोड़ें। उसके बाद तुरन्त फिर लम्बा श्वास लें और छोड़ें। इस प्रकार लम्बे श्वास की एक लड़ी-सी बन जाए। बीच में रुकें नहीं। एक का अन्त और दूसरे का प्रारम्भ चलता रहे। इस प्रकार ५० या १०० लम्बे श्वास लें और छोड़ें। इसमें और कपालभाति में अन्तर यह है कि कपालभाति में लम्बा श्वास छोड़ने पर बल है अर्थात् साँस जोर से बाहर निकालें। इसमें लम्बा श्वास अन्दर लेने पर बल है अर्थात् खूब लम्बा साँस लें और फिर बाहर निकालें।

इन तीनों अभ्यासों से प्राण की धारा मध्यमार्ग में आ जाती है अर्थात् सुषुम्णा के मार्ग से प्रवाहित होती है। प्राण के सुषुम्णा मार्ग से प्रवाहित होने से प्राण और मन दोनों स्वयं नियन्त्रित हो जाते हैं। उनकी चंचलता समाप्त हो जाती है। प्राण और मन दोनों संबद्ध हैं। इन दोनों में से किसी एक को नियन्त्रित कर लेने से दूसरा स्वतः नियन्त्रित हो जाता है। जब मन शान्त हो जाता हो, तब शान्त सरोवर में मुख आदि के बिम्ब की तरह आत्मा का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देने लगता है, आत्मबोध होता है और आत्मदर्शन होता है। आत्मबोध या आत्मदर्शन ही शान्ति और आनन्द का स्रोत है। जितना अधिक और जितने अधिक समय तक मन शान्त रहेगा, उतना अधिक और उतने अधिक समय तक आत्मिक शान्ति बनी रहेगी एवं आत्मानन्द की अनुभूति होगी।

(२) ध्यान-साधना के प्रयोजन

जैन शास्त्रों के अनुसार ध्यान-साधना के कुछ प्रयोजन ये हैं—

१. प्राणशक्ति को प्रबुद्ध करना—प्राणशक्ति अग्नि के तुल्य तेजोमय है और तन्तु के तुल्य बहुत सूक्ष्म है। मूलबन्ध लगाकर मलद्वार (गुदा) को ऊपर खींचकर प्राणशक्ति को पहले हृदय-कमल (अनाहत चक्र) में ले जावें। वहाँ से विशुद्धि चक्र में और फिर वहाँ से कोमल तालु में ले जावें। वहाँ से उसे ऊपर उठाते हुए ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रार चक्र) में ले जावें। यह स्थान अत्यन्त शून्य स्वरूप है। यहाँ प्राणशक्ति के पहुँचने से उसे त्रिलोक के सभी पदार्थों को देखने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

२. अपनी दिव्यशक्तियों का ज्ञान—मनुष्य के अन्दर असंख्य दिव्य शक्तियाँ विद्यमान हैं। ध्यान के द्वारा वह अपनी प्रसुप्त एवं गुप्त दिव्य शक्तियों से परिचित होता है और उनके उपयोग की विधि जान पाता है। अनेक शक्तियाँ उपयोग न होने के कारण नष्ट हो जाती हैं। ध्यान से दिव्य शक्तियों का विकास होता है और उनका सार्थक उपयोग हो पाता है।

३. अकर्तृत्व का भाव लाना—तप से जीवन में अकर्तृत्व की भावना लाई जाती है। 'हम कर्ता नहीं हैं' यह भावना आते ही सकाम कर्म समाप्त हो जाते हैं। निष्काम कर्म की भावना से मन, वाणी, कर्म आदि में पवित्रता आ जाती है और शुद्ध कार्य ही किए जाते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार ये पाँच अकर्तृत्व वाले कर्म हैं। साधना काल में इनको पूर्ण करें। इनकी निष्पत्ति तप से होती हैं। ये हैं—

(क) विदेहानां देहः—विदेह होकर देह धारण करें। देह की भावना छोड़ें।

(ख) अवाचां वाक्—अवाक् (मौन) होकर वाणी के मर्म को समझें।

(ग) अमनसां मनः—अमन (मनोनिग्रह करके) रहकर मन के मर्म को समझें।

(घ) अनुच्छ्वसतां श्वासः—श्वास न लेकर श्वास के मर्म को समझें।

(ङ) अकर्मणां कर्म—अकर्म (कर्महीन, निष्काम भावयुक्त) होकर कर्म के मर्म को समझें। अकर्म, मनोनिग्रह आदि का विज्ञान समझ में आने पर साधक की शक्ति असाधारण रूप से बढ़ जाती है। अकर्म की भावना आने पर सभी अनावश्यक कर्मों का त्याग हो जाता है और केवल आवश्यक कर्म ही किए जाते हैं।

४. आत्मा को परमात्म-स्वरूप बनाना—आत्मा और परमात्मा मूल रूप में दोनों चैतन्य सत्ता हैं। दोनों में केवल चैतन्य सत्ता के परिमाण में अन्तर है। एक ससीम है, दूसरा असीम है। एक अल्पज्ञ है, दूसरा सर्वज्ञ है। एक एकदेशी है, दूसरा सर्वव्यापक है। एक अल्पशक्ति वाला है, दूसरा सर्वशक्तिमान् है। आत्मा

(जीवात्मा) अपनी तपस्या, तन्मयता और तद्रूपता के द्वारा परमात्मा के कतिपय गुणों से युक्त हो जाता है। यही है आत्मा का परमात्मरूप हो जाना। सुवर्ण या लोहा अग्नि में तपकर आग्नेय गुण धारण कर लेता है। उसी प्रकार साधक तप-साधना-ध्यान से परमात्मा के कतिपय गुण आत्मसात् कर लेता है। वह जीवन में दिव्य शक्तियों की अनुभूति करता है। उसके भावों, विचारों और संकल्पों में सात्त्विकता आ जाती है। वह परहित, विश्वहित, विश्वबन्धुत्व, विश्वप्रेम आदि उदात्त भावों से प्रज्वलित हो जाता है।

(३) ध्यान की विविध प्रक्रियाएँ

मानव शरीर में गतिशील चार तत्त्व हैं—शरीर, श्वास, वाणी और मन। इनमें प्रतिक्षण प्रकम्पन होता है। प्रकम्पन को अप्रकम्पन की ओर ले जाना ध्यान है। शरीर आदि में निरन्तर जो प्रकम्पन होता है, उससे अस्थिरता चंचलता और क्षोभ होता है। अतः प्रकम्पन को रोकने के लिए ध्यान की विधि अपनाई जाती है। शरीर के प्रकम्पन को रोकना 'कायिक ध्यान' है। श्वास के प्रकम्पन को रोकना 'आनापान ध्यान' है। वाणी के प्रकम्पन को रोकना 'वाचिक ध्यान' है। मन के प्रकम्पन को रोकना 'मानसिक ध्यान' है।

(क) कायिक ध्यान—काय अर्थात् शरीर में होने वाली गतिविधियों एवं चेष्टाओं आदि को रोकना 'कायिक ध्यान' है। शरीर के अवयवों सिर, हाथ-पैर आदि की चेष्टाओं को रोकने से शरीर में स्थिरता आती है। यह अप्रकम्पन की प्रथम अवस्था है। कायिक ध्यान को 'कायोत्सर्ग' भी कहते हैं।

कायिक ध्यान की द्वितीय अवस्था में ये विशेष परिवर्तन घटित होते हैं—

- स्नायु-तन्त्र प्रभावित होता है। मांसपेशियों पर नियन्त्रण होने लगता है। स्नायु-तन्त्र में स्थिरता आती है। शारीरिक कार्य करने की क्षमता बढ़ जाती है।
- मस्तिष्क की तरंगों में परिवर्तन आने लगता है।
- ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है।
- चित्त की एकाग्रता सरलता से होने लगती है।
- जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।
- गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता बढ़ जाती है।

कायिक ध्यान की तृतीय अवस्था में स्थूल शरीर का बोध क्षीण होने लगता है। सूक्ष्म शरीर अधिक सक्रिय हो जाता है। सूक्ष्म शरीर कभी-कभी स्थूल शरीर को छोड़कर बाहर चला जाता है। उस स्थिति में सूक्ष्म पदार्थों के दर्शन होने लगते हैं।

कायिक ध्यान की चतुर्थ अवस्था निरुद्ध अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा के चैतन्य स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

(ख) आनापान ध्यान—यह प्राणापान-ध्यान है। यह श्वास-प्रश्वास का नियन्त्रण है। इसमें श्वास पर मन को केन्द्रित करते हैं। श्वासों के आने-जाने पर ध्यान लगाया जाता है। श्वासों में मन्दता लाने का प्रयत्न किया जाता है। इससे श्वासों की संख्या कम होती है। इसमें श्वासों की मात्रा को भी कम किया जाता है। आनापान ध्यान से लाभ यह होता है कि श्वास पर ध्यान केन्द्रित करने से प्रतिमिनट श्वासों की संख्या घटने लगती है। सामान्यतया एक मिनट में १५ श्वास मनुष्य लेता है। इसको धीरे-धीरे घटाते हुए १० श्वास पर लाते हैं और फिर कुछ मास बाद इसे एक मिनट में ५ श्वास पर लाते हैं। इस प्रकार अतिमन्दता में श्वास-निरोध या कुंभक करना सरल हो जाता है। आनापान ध्यान में प्रारम्भ में कम से कम पाँच मिनट समय अवश्य लगावें। धीरे-धीरे समय बढ़ाते जाएँ।

श्वास को मन्द और सूक्ष्म करने का दूसरा प्रकार यह है कि साधक शान्त मुद्रा में स्थित होकर मन को नाक के अग्रभाग पर या नासा-छिद्रों पर केन्द्रित करे। मन से नाक के उस भाग को देखे। आने और जाने वाले श्वास पर मन लगावे। इससे कुछ समय में श्वास अपने आप मन्द और सूक्ष्म हो जाता है। इसका कम से कम दस मिनट अभ्यास करें।

(ग) वाचिक ध्यान—शरीर और श्वास की ऊर्मियाँ तो निरन्तर प्रवाहित होती हैं, परन्तु वाणी की ऊर्मियाँ जब हम बोलने का प्रयत्न करते हैं, तभी प्रवाहित होती हैं। वाचिक ऊर्मियों को रोकने का प्रकार यही है कि हम बोलने की इच्छा और बोलने का प्रयत्न न करें। इससे वाणी के प्रकम्पनों का प्रवाह रुक जाता है। यह है 'मौन व्रत' या चुप रहना। जितना कम बोलेंगे, उतनी वाचिक शक्ति सुरक्षित रहेगी।

(घ) मानसिक ध्यान—मन के मुख्यरूप से तीन कार्य हैं—स्मृति, मनन और कल्पना। अतीत की स्मृति होती है, वर्तमान का मनन और चिन्तन तथा भविष्य की कल्पना होती है। हम जो मनन और चिन्तन करते हैं, उसकी आकृतियाँ बनती हैं। ये आकृतियाँ मनन के बाद मस्तिष्क में अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाती हैं, जिसे हम धारणा या वासना कहते हैं। यह धारणा हमारे स्मृति-कोष्ठों में संचित रहती है। जब कोई निमित्त मिलता है तो हमारे स्मृति-कोष्ठ जागृत हो जाते हैं और मन सक्रिय हो जाता है।

जब हम मनन या चिन्तन करते हैं, तब मानसिक ऊर्मियों का प्रवाह चालू हो जाता है। जब तक मनन करते हैं, उतने समय यह प्रवाह चालू रहता है। स्मृति और मनन के आधार पर कल्पना करते हैं। उस समय भी मन की ऊर्मियाँ प्रवाहित रहती हैं।

स्मृति को रोककर मानसिक ऊर्मियों को किसी एक विषय में प्रवाहित कर देना ही मानसिक ध्यान है। इस ध्यान में मानसिक प्रकम्पन बन्द नहीं होते, अपितु उनकी गति एक दिशा में हो जाती है। जबतक वह गति एक दिशा में बनी रहती है, तबतक मानसिक ध्यान बना रहता है।

मानसिक ध्यान का अभ्यास किसी एक आलम्बन के आधार पर किया जाता है। ध्यानकाल में मन की दो क्रियाएँ होती हैं—चिन्तन और अन्तदर्शन। किसी एक विषय पर चिन्तन को प्रवाहित करने पर मानसिक ध्यान बन जाता है। इसे जैन ग्रन्थों में 'विचय ध्यान' कहते हैं। इसके द्वारा पदार्थों के अव्यक्त गुण-धर्मों को व्यक्त रूप में जाना जा सकता है। किसी एक विषय को मानसिक चक्षु से देखना, मन को उसपर केन्द्रित कर देना 'विपश्यना ध्यान' है। इसके द्वारा वस्तु का स्वभाव प्रत्यक्ष होता है।

'विपश्यना ध्यान' का प्रारम्भ स्थूल शरीर के आलम्बन से किया जाए। जैसे-जैसे मन सूक्ष्म और संवेदनशील होता जाए, वैसे-वैसे क्रमशः तैजस शरीर, कर्म शरीर आदि की 'विपश्यना' की जाए। फिर पुरुषाकार चैतन्य की विपश्यना की जाए।

स्थूल शरीर की विपश्यना के लिए मन को सिर से पैर के अंगूठे तक और फिर पैर के अंगूठे से सिर तक ले जाए। शरीर का कोई भी अवयव ऐसा न रहे, जिस पर मन की धारा प्रवाहित न हो। प्रारम्भ में एक-एक अवयव पर मन की धारा ले जाएं। अभ्यास परिपक्व होने पर एकसाथ पूरे शरीर में मन की धारा प्रवाहित करें। यह अभ्यास एक बार में कम से कम एक घण्टा करें। इस अभ्यास-काल में प्रमाद या आलस्य न आने दें।

विपश्यना-ध्यानी अनुकूल संवेदनाओं में राग और प्रतिकूल संवेदनाओं में द्वेष न करे। वह तटस्थ भाव से उन्हें अनुभव करे। वह शरीर के कण-कण में चैतन्य का अनुभव करे और ज्ञान-तन्तुओं को जागृत करे।

स्थूल शरीर की विपश्यना का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर तैजस शरीर की विपश्यना का अभ्यास प्रारम्भ करे। हमारे शरीर में जितनी सक्रियता है, वह सारी तैजस शरीर (प्राणशरीर या विद्युत्-शरीर) की है, इसकी विपश्यना करने वाला अपने मन को सूक्ष्म करके उसे प्राण-केन्द्रों पर ले जावे। वहाँ उनकी क्रिया का निरीक्षण करे। ज्योति-दर्शन, विविध रंगों और आकृतियों की वस्तुओं का दर्शन इसी अभ्यास-काल में होता है।

जैसे-जैसे हमारा मन सूक्ष्म होता जाता है, वैसे-वैसे उसके आलम्बन भी सूक्ष्म से सूक्ष्म होते चले जाते हैं। मन की सूक्ष्मता होने पर हम 'कर्मशरीर' की विपश्यना करें। कर्मशरीर में ही हमारी स्थूल प्रवृत्तियों, वृत्तियों, संवेदनाओं और संस्कारों के सूक्ष्म चिह्न अंकित होते हैं। कर्मशरीर को देखने से वृत्तियों के मूल स्रोत का ज्ञान हो जाता है।

सालम्बन ध्यान—यह पुरुषाकार आत्मा की विपश्यना है। इसमें साधक अपने शरीर में आत्मा की कल्पना नहीं करता, अपितु शरीर में चैतन्य का अनुभव करता है। यह अनुभव साधक को इन्द्रियजन्य अनुभवों से ऊपर उठा देता है। इससे राग-द्वेष के संस्कार शान्त और क्षीण हो जाते हैं। इस अभ्यास को दिनरात में जब भी समय मिले, करें।

निरालम्बन ध्यान—मन की दो क्रियाएँ हैं—चिन्तन और अन्तर्दर्शन। जब ये दोनों क्रियाएं समाप्त हो जाती हैं, तब मन स्वयं समाप्त हो जाता है। उस स्थिति में शुद्ध चैतन्य का अनुभव प्रारम्भ होता है। यह वीतराग चेतना का अनुभव है। यह समाधि की अवस्था है। इस साधना में अतीत और भविष्य समाप्त हो जाते हैं। केवल वर्तमान का अनुभव रहता है। वर्तमान का दीर्घकाल तक अनुभव ही ध्यान हो जाता है और दीर्घकालीन ध्यान ही समाधि हो जाती है। इन्द्रिय और मन के स्रोत रुक जाने पर शुद्ध चैतन्य का अनुभव निरालम्बन ध्यान है। सालम्बन ध्यान में कोई न कोई आलम्बन बना रहता है, चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म। निरालम्बन ध्यान में केवल चैतन्य का अनुभव होता है, कोई आलम्बन नहीं होता। निरालम्बन ध्यान की स्थिति प्राप्त होने पर ध्यान के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, यह अप्रयत्न से ही होता है। साधक को पहले सालम्बन ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। जब ध्यान परिपक्व हो जाता है, तब निरालम्बन ध्यान किया जाता है। सालम्बन ध्यान में ध्याता और ध्येय भिन्न होते हैं। इसमें द्वैत बुद्धि रहती है। निरालम्बन ध्यान में कोई भिन्नता नहीं होती है। इसमें अद्वैत बुद्धि हो जाती है। इसमें शुद्ध चैतन्य का दर्शन और अनुभव होता है।

मानसिक ध्यान की चार अवस्थाएँ—(क) प्रथम अवस्था में ये स्थितियाँ होती हैं—

- स्नायविक तनाव कम होते हैं।
- मानसिक प्रसन्नता बढ़ती है।
- शरीर में तनाव से होने वाले रोग शान्त होते हैं।
- मानसिक कार्यक्षमता और सहिष्णुता बढ़ती है।
- मनोवृत्तियों और मानसिक व्यवहारों में परिवर्तन होता है।
- कुप्रवृत्तियाँ, दुर्व्यसन, असंयम आदि की आदतें सुधरती हैं।

(ख) द्वितीय अवस्था में ईर्ष्या, राग-द्वेष, विषाद, शोक, चिन्ता आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुःख क्षीण हो जाते हैं। साधक में मैत्री एवं समत्व-भाव गुणों का विकास होता है।

(ग) तृतीय अवस्था में सर्दी-गर्मी आदि का संवेदन और मानसिक संस्कारों के मूल क्षीण होने लगते हैं।

(घ) चतुर्थ अवस्था में साधक कष्टों से विचलित नहीं होता। वह निर्भय हो जाता है। सूक्ष्म तत्त्वों (Invisible substances) का स्पष्ट ज्ञान होने लगता है। मोह या भ्रम समाप्त हो जाता है। शरीर और आत्मा का भेदज्ञान स्पष्ट हो जाता है। आसक्ति का भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है।

ध्यान का फल—ध्यान के मुख्य लाभ ये हैं—

१. ध्येय की प्राप्ति—साधक का ध्येय होता है—आत्मा का अनुभव, शुद्ध चैतन्य का अनुभव या आत्म-साक्षात्कार। इसके लिए वह एकाग्रता का सहारा लेता है। साधक ध्यान के बल से शरीर को शून्य बनाकर ध्येय के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है, तब वह ध्येय के तुल्य बन जाता है।

२. ध्यान से ज्ञान का आवरण क्षीण होता है, इससे सहज ज्ञान प्रस्फुटित होता है। उससे संचित कर्म क्षीण होते हैं। अतः सुख-दुःख के संवेदन नष्ट होते हैं। इससे असाध्य रोग भी नष्ट हो जाते हैं। ध्यान से सभी प्रकार के विघ्न नष्ट होते हैं, परिणामस्वरूप साधक की शक्ति और उसका धैर्य असीम हो जाता है।

३. संवर और निर्जरा—ये जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। इनका अर्थ है—(क) संवर—ज्ञान के आवरणों का सर्वथा निरोध, आवरण की पुनः उत्पत्ति न होने देना।

(ख) निर्जरा का अर्थ है—पूर्वार्जित आवरणों और प्रकम्पनों का नाश। ध्यान से पहले ज्ञान के आवरणों का नाश होता है, यह निर्जरा है। ये आवरण पुनः प्रकट हो सकते हैं। इसके लिए संवर है। यह आवरणों को पुनः प्रकट होने से रोकता है। इस प्रकार संवर और निर्जरा दोनों ध्यान के फल हैं। दोनों से ज्ञान के सभी आवरणों का पूर्णतया नाश हो जाता है।

(ग) श्री अरविन्द की साधना-पद्धति

कतिपय महत्त्वपूर्ण निर्देश (श्री अरविन्द के शब्दों में)

(१) पूर्णयोग का लक्ष्य

१. इस योग का लक्ष्य है—भागवत उपस्थिति और चैतन्य में प्रवेश करना, उसके द्वारा अधिकृत होना, एकमात्र भगवान् के लिए भगवान् को प्रेम करना, अपनी प्रकृति में भगवान् की प्रकृति के साथ समस्वर होना, संकल्प कर्म तथा जीवन में भगवान् का यन्त्र बन जाना। एकमात्र भगवान् को ही लक्ष्य मानना।

२. इस योग का लक्ष्य है—सर्वप्रथम अपने 'अहं' को भागवत चेतना में निमज्जित करना और उसमें प्रवेश करना। तत्पश्चात् मन प्राण और शरीर को रूपान्तरित करने के लिए अतिमानसिक चेतना को उतार लाना।

विभाग
शान्तिकुंज, हरिद्वार

३. साधक को जो चीज पाने की चेष्टा करनी है, वह है—भगवान् की ओर पूर्ण उद्‌घाटन, अपनी चेतना का चैत्य रूपान्तर, आध्यात्मिक रूपान्तर। चेतना के इस परिवर्तन के आवश्यक घटक हैं—स्वार्थहीनता, निष्काम भाव, विनम्रता, भक्ति, समर्पण, स्थिरता, समता, शान्ति, अचंचल सद्‌हृदयता।

४. यह साधना साधक के हृदय की अभीप्सा से प्रारम्भ होती है। साधक अपने ऊर्ध्वस्थित या अन्त:स्थित आत्मा का ध्यान करता है, अपने आपको भागवत प्रभाव की ओर उद्‌घाटित कर देता है। जो कुछ इन बातों के लिए विजातीय हैं, उन सबका परित्याग कर देता है। केवल श्रद्धा, अभीप्सा और आत्मसमर्पण के द्वारा ही यह आत्मोद्‌घाटन हो सकता है।

५. **चैत्य (Psychic), आध्यात्मिक (Spiritual) और अतिमानसिक (Supramental)**—इस योग की ये मौलिक अनुभूतियाँ हैं—

(क) चैत्य (Psychic) परिवर्तन—इसमें अन्तरात्मा के साथ एकत्व प्राप्त करना और पूर्ण भक्तिभावना का विकास करना, जिससे यह भक्तिभावना हृदय की मुख्य चालिका-शक्ति बन जाए और हमारे विचार, जीवन और कर्म को संचालित करे।

(ख) आध्यात्मिक (Spiritual)—इसमें उच्चतर चेतना की शान्ति, शक्ति, ज्योति आदि का अवतरण होता है। जो मस्तिष्क और हृदय में से होकर समस्त सत्ता में आ जाता है और शरीर के कोषाणु-ऊतकों (Cells & Tissues) पर अपना अधिकार कर लेता है।

(ग) अतिमानसिक (Supramental)—पूर्ण सत्य और भगवान् (ईश्वर) का अनन्तरूपों में सर्वत्र साक्षात्कार, आत्मा (चेतना) का सर्वत्र दर्शन और उसी अनन्त चेतना में निवास।

६. चैत्यीकरण और अध्यात्मीकरण—इन दोनों में भेद है। आध्यात्मिक परिवर्तन ऐसा है, जो ऊपर से उतरता है और चैत्य (चेतना)-परिवर्तन मन-प्राण और स्थूल शरीर पर शासन करने वाले चैत्य द्वारा अन्दर से आता है।

चैत्यीकरण का अर्थ है—मन, प्राण और स्थूल शरीर में ऐसा परिवर्तन कि ये सन्मार्ग पर चलते हुए भगवान् की ओर मुड़े हुए हों। इन सबका आधार होता है—प्रेम, पूजाभाव और भक्ति। इससे सबमें एक चेतना-शक्ति का दर्शन होता है तथा श्रद्धा, आत्मोत्सर्ग एवं आत्मसमर्पण का भाव जागृत होता है।

आध्यात्मिक परिवर्तन का अर्थ है—शान्ति, ज्योति, ज्ञान, शक्ति, आनन्द का ऊपर से स्थायी अवतरण, आत्मा, भगवान् और उच्चतर विश्वव्यापी चेतना का ज्ञान तथा उसके अनुसार सम्पूर्ण चेतना में परिवर्तन।

चैत्य और आध्यात्मिक परिवर्तन परस्पर संबद्ध हैं। एक के बिना दूसरी क्रिया पूर्ण नहीं होती है। इन दोनों में आदान-प्रदान, लेना-देना, भक्त और भगवान् (Push and Pull) जैसा सम्बन्ध है। भक्त भगवान् की ओर हाथ बढ़ाता है और भगवान् भक्त का हाथ पकड़ता है। वह उसे अपनी ओर खींच लेता है तथा उसे दिव्य गुणों से युक्त करता है। एक ओर भक्त की हार्दिक पुकार है, दूसरी ओर परमात्मा का वरदान। यही चैत्यीकरण और अध्यात्मीकरण में अन्तर है।

(२) श्री अरविन्द की योगसम्बन्धी मान्यताएँ

१. वैदिक अग्नि और योग—श्री अरविन्द ने ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में प्रयुक्त **'अग्निमीले पुरोहितम्०'** (ऋग्० १.१.१) अग्नि को अपनी योग-साधना का आधार बनाया है। यह अग्नि विविध रूपों में ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यह अग्नि आधुनिक विज्ञान के शब्दों में 'मौलिक ऊर्जा' (Fundamental Energy) है। यह चराचर के कण-कण में व्याप्त है। इस 'मौलिक ऊर्जा' मूलभूत अग्नि को मूलरूप में जानना, उसका अन्वेषण, ही योग का मूल उद्देश्य है। इस विश्वव्यापी ऊर्जा का साक्षात्कार करना योग-साधना-पद्धति है।

यह अग्नि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप में सर्वत्र व्याप्त है। यह स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम इन तीन रूपों में विद्यमान है।

(१) आधिभौतिक अग्नि—यह स्थूल अग्नि है। यह जड-जगत्, पंचभूत, पक्षु-पक्षी आदि में व्याप्त है। इसके कारण ही वृक्ष-वनस्पति, चर-अचर जगत् में विकास है, चेतना है और गति एवं क्रियाशीलता है। यह प्रसुप्त अग्नि है।

(२) आधिदैविक अग्नि—यह चैत्य है, चेतना का प्रबुद्ध स्वरूप है। यह आत्मा या जीवात्मा है। यह स्थूल अग्नि का परिष्कृत रूप है, परिमार्जित रूप है। यह मानव में विद्यमान चेतनाशक्ति है। यह चित् शक्ति (तपस् शक्ति) है। इसमें ज्ञान, चेतना और कर्तृत्व शक्ति है।

(३) आध्यात्मिक अग्नि—यह सूक्ष्मतम, परिष्कृत, अविनाशी, विश्वव्यापी एवं मौलिक ऊर्जा है। इसी से समस्त शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है। आधिदैविक अग्नि को भी अत्यन्त परिष्कृत करने पर यह आध्यात्मिक अग्नि प्रकट होती है।

इस दिव्य अग्नि के स्वरूप को यथार्थरूप में जानना, आत्मसात् करना और तादात्म्य प्राप्त करना ही इस योग का लक्ष्य है।

२. योगसाधना के सोपान—श्री अरविन्द की मान्यता है कि योग-साधना के अनेक सोपान हैं। एक से एक ऊँची से ऊँची चोटियाँ (पर्वत-शिखर) हैं, जिन्हें पार करना पड़ता है। एक चोटी पार करने पर दूसरी और फिर तीसरी आदि का क्रम चलता जाता है। अतः शिखरों का कहीं अन्त नहीं होता है।

साधना का फल है—ईश्वरीय कृपा, अनुग्रह या वरदान। ऋग्वेद का यह मंत्र उन्होंने साधना का स्वरूप मानते हुए अपनाया है। इसका अभिप्राय है—साधक एक चोटी से दूसरी ऊँची चोटी पर चढ़ता है। इसके लिए अनेक जप-तप-साधना आदि करता है। परमात्मा उसके अभिप्राय को जानता है और अन्त में उसे अपना पूरा आशीर्वाद देता है।

यत् सानोः सानुमारुहद्, भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति, यूथेन वृष्णिरेजति॥ ऋग्० १.१०.२

३. अतिमानस तत्त्व (Supramental)—यह वेदों का **'सत्यं बृहद् ऋतम् उग्रम्०'** (अथर्व० १२.१.१) महान् सत्य और उग्र ऋत तत्त्व ही है। मांडूक्य उपनिषद् में इसे **'शान्तं शिवम् अद्वैतम्...स आत्मा०'** (मां० ७) कहा है। कुछ अन्य उपनिषदों तेजोबिन्दु, शरभ, योगशिखा, अन्नपूर्णा आदि में इस अतिमानस तत्त्व को **'अवाङ्मनसगोचरम्'** (तेजो० ३.८। शरभ १६। योगशिखा २.१६। अन्नपूर्णा ४.२९) अर्थात् वाणी और मन की पहुँच से बहुत परे, कहा गया है। केन उपनिषद् में इसे अतिमानस अर्थात् मन की पहुँच से परे कहा गया है। इसकी सत्ता से ही मन में मनन शक्ति है। यह ब्रह्म है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि०। केन० १.५

४. अभीप्सा—अभीप्सा का अर्थ है—आत्मतत्त्व को प्राप्त करने की उग्र अभिलाषा। यह वैदिक 'अग्नि' है, जो सदा अन्तरात्मा में प्रज्वलित है, यह रत्नों की दाता है, यह सदा ऊर्ध्वमुखी है, यह अभंग अविकल अस्वलित और विस्तार की इच्छुक है। इसको ऋग्वेद आदि में 'अग्नि' कहते हुए रत्नदाता, कामनापूरक आदि कहा है। इस अभीप्सा के बिना कोई साधना पूरी नहीं होती। यह अभीप्सा विश्वकल्याण के लिए है।

अग्निना रयिमश्नवत्। ऋग्० १.१.३
यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। ऋग्० १.१.६
अग्न आ याहि वीतये। ऋग्० ६.१६.१०
त्वमग्ने...विश्वेषां हितः। ऋग्० ६.१६.१

५. नवीन योग-पद्धति—श्री अरविन्द का कथन है कि—'जहाँ अन्य योग समाप्त होते हैं, वहाँ से मेरा पूर्णयोग प्रारम्भ होता है'। अन्य सभी योग-पद्धतियाँ आत्मबोध, आत्मसाक्षात्कार, सिद्धि और मुक्ति पर समाप्त होती हैं। परन्तु पदार्थ और शरीर का रूपान्तरण एवं सत्त्वान्तरण यह सिद्धि के बाद प्रारम्भ

होता है (The change and transformation of matter and body), इससे ही श्री अरविन्द का योग प्रारम्भ होता है। अतएव यह कथन उपयुक्त है कि जहाँ अन्य योग समाप्त होते हैं, वहाँ से यह योग प्रारम्भ होता है।

६. **कोशिका-योग**—कोशिका-योग यह श्री अरविन्द का नवीन आविष्कार है। सभी दार्शनिकों ने प्राण और मन पर निग्रह, निरोध, नियन्त्रण या उनके परिष्कार की बात कही है, पर कोशिका-योग पर ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय श्री अरविन्द को ही है। कोशिका (Cell) मानव शरीर की सबसे छोटी इकाई है। यह मानवचेतना का आधार एवं बीज है। पृथक्-पृथक् मन, प्राण, इन्द्रियों आदि की शुद्धि के स्थान पर यदि मूलभूत बीज की ही शुद्धि की जाए तो शरीर स्वयं शुद्ध एवं परिष्कृत हो जाएगा। कोशिका-योग का विवरण आगे दिया गया है।

(३) श्री अरविन्द का समग्र योग (Integral Yoga)

श्री अरविन्द के समग्र योग को चार शीर्षकों में रखा जा सकता है। ये हैं—(क) समग्रयोग या पूर्णयोग (Integral Yoga), (ख) अतिमानस-योग, (ग) कोशिका-योग, (घ) समर्पण-योग।

(क) समग्रयोग या पूर्णयोग

श्री अरविन्द का योग एक प्रकार से सर्व-समावेशी, सर्वसमाहारी या सर्वसंग्राही है। इसमें ज्ञान, भक्ति, कर्मयोग आदि के साथ ही सांख्य, योग आदि दर्शनों के विविध तत्त्वों का समावेश है। इसलिए इसे सर्वसंग्राही कहा जाता है। किसी भी पद्धति की विशेषताओं का परित्याग न करते हुए कुछ नवीन योजनाओं के साथ यह समग्र योग प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में इसको इस प्रकार रख सकते हैं—

समग्रयोग या पूर्णयोग एक ऐसी नवीन योग-प्रणाली है, जिसमें विश्व की सभी प्रचलित प्रणालियों के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है और उस उच्चतम प्राप्त लक्ष्य से आगे 'अतिमानस तत्त्व' की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया जाता है।

(ख) अतिमानस (Supramental) योग

चैत्य पुरुष (चेतन आत्मा, Psychic Being) में मनस्तत्त्व है। मनस्तत्त्व की चार श्रेणियाँ हैं। ये क्रमशः उच्चतर होती चली जाती हैं। ये हैं—

१. **उच्चतर मन (Higher Mind)**—यह मन की सामान्य स्तर से कुछ ऊँची स्थिति है। इसमें व्यक्ति की चिन्तन और मनन की शक्ति प्रबुद्ध हो जाती है। वह अपने विषय में सोच सकता है। निर्णय लेने की क्षमता आ जाती है। जैसे—सामान्य प्रबुद्ध जन।

२. प्रज्वलित या प्रकाशित मन (Illumined Mind)—यह उच्चतर मन से ऊँची स्थिति है। इसमें व्यक्ति का विवेक जागृत हो जाता है। वह हेय-उपादेय आदि का निर्णय कर सकता हैं। उसे जीवन के कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध हो जाता है। वह स्वयं शिक्षित होकर दूसरे को शिक्षित कर सकता है। उसका चिन्तन-मनन पुष्ट होता है। जैसे—शिक्षाशास्त्री, कलाकार, संगीतज्ञ आदि।

३. संबोधि मन या अन्तर्भास मन (Intuitive Mind)—यह प्रकाशित मन से उच्चतर स्थिति है। इसमें व्यक्ति में उच्चतर चेतना आ जाती है और वह दिव्य चेतनाओं और दिव्य विभूतियों को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। उसे आन्तरिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और वह आत्मिक शक्ति के आधार पर सूक्ष्म जगत् के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जैसे—योगी आदि।

४. श्रेष्ठतम मन (Over-mind)—यह संबोधिमन या अन्तर्भास मन से उच्चतर स्थिति है। इसमें मन अपने उच्चतम स्वरूप में होता है। यह अतिमानस (Supramental) के अतिसमीप पहुँचने की स्थिति है। इसके पश्चात् 'अतिमानस' की स्थिति है। उपर्युक्त चारों स्थितियों में अज्ञान (Ignorance) बना रहता है। इससे आगे सच्चिदानन्द-स्वरूप की स्थिति है। यह ईश्वरीय स्थिति है। इसमें अज्ञान का सर्वथा अभाव होता है। महायोगी आदि ही श्रेष्ठतम मन की स्थिति में पहुँच पाते हैं।

संक्षेप में अतिमानस योग को इस रूप में रख सकते हैं—

अतिमानस योग ऐसा योग हैं, जो मन से बहुत ऊपर है। यह मन के उपर्युक्त चार स्तरों को पार करके ईश्वरीय-सत्ता सच्चिदानन्द-स्वरूप के अत्यन्त समीप पहुँचाता है। इसमें अभीप्सा, त्याग और समर्पणरूपी वृत्तियाँ विशेष रूप से सहायक होती हैं।

(ग) कोशिका योग

कोशिका (Cells) योग श्री अरविन्द की मौलिक अवधारणा है। यह पूर्णतया विज्ञान-संमत है। जिंस प्रकार वृक्ष आदि के परिष्कार के लिए बीज की शुद्धि, निर्दोषता आदि अपेक्षित हैं, उसीप्रकार मानव-शरीर के सूक्ष्मतम घटक कोशिकाएँ (Cells) हैं। यदि कोशिकाओं को शुद्ध एवं परिष्कृत कर लिया जाए तो साधना की पूरी प्रक्रिया सरल हो जाती है। यह जीवाणुओं का संशोधन एवं परिष्करण है। सूक्ष्म कोशिकाओं में मानव के सभी गुण-दोष एवं गुण-धर्म विद्यमान रहते हैं। अतः इनका परिष्कार उच्च साधना के लिए अनिवार्य है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार एक वयस्क मानव के शरीर में दस नील अर्थात् सौ ट्रिलियन (Trillion) (एक पर चौदह शून्य) कोशिकाएँ होती हैं।

कोशिका मानव देह-संचरना की सूक्ष्मतम इकाई है, जो पूर्णरूप से स्वतंत्र रहते हुए सामूहिक रूप से कार्य करती है। इसके मध्य में एक अतिसूक्ष्म नाभिक केन्द्र (Nucleus) होता है। इसमें उत्पादन-गुण-सूत्र के पूरे कोड (कूट सूत्र) संचित रहते हैं। यह एक प्रकार का लघु आदर्श-मस्तिष्क है, जो यान्त्रिक रूप से कार्य करता है।

कोशिका-योग का रहस्य जानने के लिए श्री अरविन्द और श्री माँ ने घोर तपस्या की। श्री अरविन्द को इसका रहस्य जानने में वेदों से बहुत सहायता मिली। वेदों में इन रहस्यों का उल्लेख है। श्री अरविन्द और श्री माँ ने वहाँ से रहस्य-सूत्र प्राप्त करके कोशिकाओं की संरचना का स्वरूप जाना।

कोशिका क्या है? कोशिका (Cell) एक 'संकल्प अणु' है, संकल्प-बीज की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। 'संकल्प-अणु' अनेक छोटी-छोटी आकांक्षाओं, वासनाओं आदि की तृप्ति के लिए उत्पन्न होने वाले अतिसूक्ष्म संकल्प-कणों का सामुदायिक रूप है। सूक्ष्म संकल्प जब घनीभूत होते हैं और स्थूलता प्राप्त करते हैं, तब उस आकृति का नाम ही 'कोशिका' हो जाता है। प्रत्येक कोशिका छिपे संकल्पों की अभिव्यक्ति के लिए तदनुरूप देहाकृति और स्वभाव का निर्माण करती है। कोशिका-संरचना के मूल में विद्यमान 'संकल्प-सूत्रों' का ज्ञान कोशिका-योग है। द्रव्य के भीतर से ही द्रव्य के मूल में छिपी रश्मिधारा प्रकट होती है। इसी रहस्य को जानना और समझना कोशिका-योग है।

कोशिका-संरचना के अवांछनीय तत्त्वों को बदलने में जपविज्ञान विशेष सहायक है। 'ओम्' और गायत्री मंत्र का जप अवांछनीय तत्त्वों को नष्ट करता है, इससे कोशिका की शुद्धि होती है। कोशिकाओं की शुद्धि के लिए अभीप्सा (तीव्र संकल्प), त्याग (अभीप्सा-विरोधी बाहरी तत्त्वों का सर्वथा परित्याग) तथा ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण, इन तीन गुणों को अपनाना अनिवार्य है।

(घ) समर्पण योग

समर्पण योग एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। परमात्मा पूरी सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है। वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापक होने के साथ ही पालक, रक्षक और संरक्षक है। वेद के अनुसार मनुष्य 'अमृतस्य पुत्राः' उस अमृतरूप परमात्मा का पुत्र है, अतः मनुष्य और परमात्मा का पिता-पुत्र सम्बन्ध है। जिस प्रकार माता पुत्र के लिए सर्वस्य न्यौछावर करने के लिए उद्यत रहती है, उसी प्रकार परमात्मा आत्मसमर्पण करने वाले साधक के लिए अपना वरद हस्त प्रदान करता है। माता-पिता-आचार्य ये आत्मसमर्पण करने वाले पुत्र एवं शिष्य के लिए अपना कोष खोल देते हैं, उसी प्रकार परमात्मा भी शुद्ध एवं सात्त्विक साधक के लिए साधना

का मार्ग प्रशस्त कर देता है, विघ्नों को दूर करता है और अपनी विविध दिव्य विभूतियों से युक्त करता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। परमात्मा घट-घट वासी होने के कारण मानवमात्र की सभी भावनाओं को जानता है। सात्त्विक और शुद्ध भावना ईश्वर की प्राप्ति या आत्म-साक्षात्कार का सरलतम उपाय है। श्री अरविन्द ने समर्पण पर बहुत बल दिया है। उनका मन्तव्य है कि समर्पण ही एक ऐसी चमत्कारी कला है, जो परमात्मा को वश में कर लेती है। यदि सात्त्विक भावना से आत्मसमर्पण किया गया है तो साधना के बड़े से बड़े विघ्न और संकट स्वयं दूर होते जाते हैं। घोर अन्धकार और संकट में परमात्मा ही अशरणशरण है, मार्गदर्शक ज्योति है, ममता-मयी माता है और संरक्षक पिता है।

(४) श्री अरविन्द के समग्र योग का क्रियात्मक पक्ष

१. श्री अरविन्द का कथन है कि—'योग एक साधन है, जिसके द्वारा व्यक्ति वस्तुओं के पीछे के सत्य के साथ एकत्व प्राप्त करता है। यह एक आन्तरिक अनुशासन के द्वारा होता है, जो हमें बाह्य व प्रत्यक्ष संचेतना से आन्तरिक व वास्तविक चैतन्य तक पहुँचाता है। योग-संचेतना बाह्य व स्पष्ट दृष्ट जगत् को त्यागता नहीं, बल्कि उसे भी आन्तरिक दृष्टि से देखता है। संचेतना का परिपूर्ण रूपान्तर ही है योग-प्रक्रिया का सम्पूर्ण प्रयोजन।'

२. सृष्टि एक सोद्देश्य सार्थक व लक्ष्योन्मुखी महिमा का विस्तार है, जो प्रकृति के पीछे के दिव्य प्रभु की आत्म-प्रस्तावना है। परमात्मा सत्य है, अतः उसकी सृष्टि भी सत्य है।

३. श्री अरविन्द ने महर्षि दयानन्द की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और उन्हें वेद के गुह्य दिव्य अर्थों को खोलने वाला अद्वितीय अनुसंधाता माना है। उन्होंने स्वीकार किया है कि उनके समग्रयोग के मूलाधार वेद और गीता ग्रन्थ हैं।

४. श्री अरविन्द का अभिमत है कि 'सृष्टि परमात्मा का काव्य है'। प्रकृति एक चैतन्य सत्ता है, यह परमात्मा की भव्य भावनाओं को रचनात्मक रूप प्रदान करती है। परमात्मा का 'सत्' स्वरूप मूल सत्ता है। 'चित्' शक्ति 'तपस्' है, यह चैतन्य ऊर्जा सृष्टि की कर्त्री है। परमात्मा के 'सच्चिदानन्द' स्वरूप के विषय में श्री अरविन्द का मत है कि वेदों में 'वसु' शब्द 'सत्' रूप को बताता है, 'ऊर्ज्' 'चित्' तत्त्व को और 'मयस्' शब्द 'आनन्द' तत्त्व को बताता है। इस प्रकार वैदिक वसु, ऊर्ज् और मयस् ही उपनिषत्-काल में सत्-चित्-आनन्द (सच्चिदानन्द) हो गया। यह सत्-चित्-आनन्द ही उच्चतम स्थिति है। यह सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है। इसका साक्षात्कार ही योग का लक्ष्य, गन्तव्य और प्राप्तव्य है।

५. श्री अरविन्द के समग्र योग का क्रियात्मक पक्ष पृथिवी से प्रारम्भ होता है। वे पृथिवी की पूजा-अर्चना का यह भाव लेते हैं—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। अथर्व० १२.१.१२

पृथिवी माता है, हम उसके पुत्र है। पृथिवी और हमारा माता-पुत्र सम्बन्ध है। मातृभूमि की रक्षा, मातृभूमि के लिए बलिदान होना, मातृभूमि पृथिवी के पर्यावरण की रक्षा, पृथिवी पर विद्यमान प्राणिवर्ग पर दया-ममता, मानवमात्र के उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहना, मानव को 'अतिमानव' की श्रेणी में पहुँचाने का प्रयत्न, यह है पृथिवी की पूजा-अर्चना। श्री अरविन्द स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी थे, अतः उनके ये विचार एक क्रान्तिकारी की हार्दिक भावना की अभिव्यक्ति है। श्री अरविन्द का अभिमत है कि मानव केवल अपने प्रयास से 'अतिमानस' की स्थिति में नहीं पहुँच सकता है, उसे ईश्वर की कृपा-अनुग्रह या अवलम्बन अपेक्षित है। इसके लिए ही यह साधना की पद्धति है।

६. श्री अरविन्द चेतना के तीन स्तर मानते हैं—

(क) अपरार्ध, निम्न स्तर—इसमें पदार्थ, प्राण और मन हैं।

(ख) मध्य स्तर—अतिमानस (Supramental)। यह मध्य स्तर है, यह मध्य का विज्ञान है। यह वेदों का 'सत्यं बृहत्, ऋतम् उग्रम्' (अथर्व० १२.१.१.) है, सत्य और ऋत की भावना है। पुराणों में वर्णित सात लोकों में यह मध्यवर्ती 'महः लोक' है।

(ग) परार्ध, उच्चतम स्तर—सत्, चित्, आनन्द (सच्चिदानन्द ब्रह्म)।

श्री अरविन्द के क्रियापक्ष का अभिप्राय यह है—

पदार्थ के भीतर मूल अस्तित्व के रूप में आत्मा है। यह बीज-कण या संचेतना-बीज-बिन्दु है। इसका क्रमिक विकास होता है। सर्वप्रथम वृक्ष-वनस्पति आदि होते हैं। उसके बाद क्षुद्र जीव-जन्तु। उसके बाद सामान्य जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि। इस विकास की सर्वोत्तम परिणति 'मानव' है। इस प्रकार जीव-जगत् का क्रमिक विकास होते हुए मानव की सृष्टि हुई है।

मानव का निम्नतम स्तर शरीर है। इससे ऊपर इन्द्रियाँ, प्राण और मन हैं। इनमें अशुद्धि है, मल है, अविद्या है और अज्ञान है। पहला कर्तव्य है कि शरीर को शुद्ध किया जाए। उसके बाद इन्द्रियों और प्राण के मल को दूर किया जाए। तत्पश्चात् मन को शुद्ध और निर्मल किया जाय। जब साधना के द्वारा प्राण और मन को परिष्कृत कर लिया जाता है, तब द्वितीय मध्य स्तर आता है।

मध्य स्तर में 'अतिमानस योग' है। यह है आत्मा का परिष्कार। जीवात्मा के अन्दर विद्यमान राग-द्वेष, काम-क्रोध, मद-मात्सर्य एवं विषयासक्ति की सभी

भावनाओं को समूल समाप्त करना। इसके लिए ही ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग एवं समर्पणयोग आदि हैं। यह अतिमानस स्तर है। इसमें भी अज्ञान और अविद्या का अंश बना रहता है। उसको जबतक समूल नष्ट नहीं किया जाएगा, तबतक परार्ध या उच्चतम स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती है। इसके लिए अभीप्सा (लक्ष्य के प्रति तीव्र उत्कंठा), त्याग (सभी दुर्गुणों-दोषों का त्याग) और समर्पण (आत्म-समर्पण) को साधन बताया गया है। इसमें भी श्री अरविन्द ने समर्पण पर सबसे अधिक बल दिया है। समर्पण ही वह कला है, जिससे परमात्मा का अनुग्रह एवं आशीर्वाद सरलता से प्राप्त होता है और उत्थान की प्रक्रिया सरल हो जाती है।

तृतीय स्तर परार्ध है। यह ज्ञानमय है, ज्योतिर्मय है और आनन्दमय है। इसमें अविद्या या अज्ञान नाममात्र को भी नहीं है। इसमें शुद्ध शान्ति, आनन्द और पूर्ण अद्वैत की स्थिति होती है। यह 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति है। इस स्थिति में साधक परमात्मा से अभिन्नता की अनुभूति करता है। यह निर्विकल्प समाधि की अवस्था है।

७. आन्तरिक आदेशों का पालन—श्री अरविन्द का अभिमत है कि साधक को मार्गदर्शन-स्वरूप आन्तरिक आदेश आत्मसत्ता से सदा मिलते रहते हैं। ये आदेश उसके मार्गदर्शन के लिए हैं। साधक का कर्तव्य है कि वह इन आदेशों का सावधानी से पालन करे। अन्तरात्मा जितनी शुद्ध होगी, उतने ही स्पष्ट रूप में ये अन्तर के आदेश स्पष्ट सुनायी देंगे। इनका पालन करना अनिवार्य है।

८. साधनात्रयी—ये हैं—(क) अभीप्सा, (ख) त्याग, (ग) समर्पण।

(क) अभीप्सा—आन्तरिक तीव्र उत्कण्ठा। यह है वेदोक्त 'अग्नि'। यह आत्मिक शक्ति के रूप में प्रत्येक मानव में विद्यमान है। इस अग्नि को प्रदीप्त और उद्‌बुद्ध करना ही अग्न्याधान है। यह पुरोहित, ऋत्विज्, यज्ञ का देवता और विविध दिव्यशक्तिरूपी रत्नों का प्रदाता है—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्। ऋग्० १.१.१

इस आन्तरिक अग्निरूपी अभीप्सा को सदा प्रज्वलित रखना ही साधना का प्रथम चरण है। यह प्रयत्न-सापेक्ष न होकर पूर्णतया आत्मनिर्भर है। इसको ही योगदर्शन में '**तीव्रसंवेगानाम् आसन्नः**' (योग० १.२१) तीव्रसंवेग या उत्कट अभिलाषा कहा गया है।

(ख) त्याग—यह योगसाधना का द्वितीय चरण है। वेद के शब्दों में यह है—'**दुरितानि परा सुव**' और '**यद् भद्रं तन्न आ सुव**' (यजु० ३०.३) अर्थात् सारे दुर्गुणों और दुर्विचारों को हटावो, दूर करो और शुभ विचारों एवं सद्‌गुणों

को अपने अन्दर लावो। यही संस्कृति एवं संस्कार है। इसके आने से हृदय में सात्त्विक भावना जागृत होती है और उच्च स्फूर्ति आती है।

(ग) समर्पण—यह समग्र योग-साधना का तृतीय चरण है। प्रभु के चरणों में आत्मसमर्पण। यह समर्पण निष्क्रिय नहीं, अपितु अत्यन्त सक्रिय आत्मनिवेदन है। साधक अपनी शक्तिभर पूर्ण प्रयत्न करता है, पूर्ण निष्ठा से संलग्न है, गुरु के आशीर्वाद के तुल्य परमात्मा का अनुग्रह-आशीर्वाद और वरदहस्त अपेक्षित है। यहाँ Push और Pull का भाव है—साधक पूर्ण प्रयत्न के साथ उत्थानोन्मुख है, परमात्मा सहारा दे और हाथ ऊपर खींचे, तभी उसे आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। इसको ही उपनिषदों में कहा गया है कि—जिसको परमात्मा चाहता है, उसे ही आत्मा के दर्शन हो पाते हैं। केवल ज्ञान, विद्या और शास्त्राध्ययन से नहीं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ कठ० १.२.२२

समर्पण योग में साधक का प्रयत्न और ईश्वरीय अनुग्रह दोनों अपेक्षित हैं। दोनों के संयोग से आत्म-साक्षात्कार हो पाता है।

जीवतत्त्व और चैत्य तत्त्व—श्री अरविन्द ने वेद के द्वि-सुपर्ण (द्वा सुपर्णा० ऋग्० १.१६४.२०) से जीवतत्त्व और चैत्य तत्त्व ये दो तत्त्व लिए हैं। जीवतत्त्व का स्थान सिर के ऊपरी भाग में है और चैत्य तत्त्व का स्थान हृदय के पीछे के भाग में है। जब इन दोनों स्थानों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तो साधना शीघ्र सफल होती है। शिर का ऊपरी भाग मनस्तत्त्व है। वह ज्ञान का केन्द्र है। यह प्रज्ञा और प्रतिभा का स्थान है। यहाँ ध्यान केन्द्रित करने से ज्ञान की वृद्धि होती है। हृदय भावपक्ष का स्थान है। यहाँ ध्यान केन्द्रित करने से श्रद्धा, भक्ति और ममता आदि गुणों की वृद्धि होती है। अतएव दोनों स्थानों पर ध्यान से ज्ञान और भक्ति दोनों की सिद्धि होती है।

इस प्रकार श्री अरविन्द की योग-पद्धति में दार्शनिक और यौगिक दोनों पद्धतियों का क्रियात्मक पक्ष समन्वित है।

❑

अध्याय ७

विज्ञानमय कोश, अन्तःकरण-चतुष्टय

१. अन्तःकरण

साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने शरीर के बाहरी और भीतरी अवयवों को जाने। हमारा शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों से बना है। इसके मुख्य रूप से ३ भाग हैं—१. स्थूल शरीर, २. सूक्ष्म शरीर, ३. कारण शरीर। इन तीनों को जीवन-शक्ति प्रदान करने वाला तत्त्व आत्मा या जीवात्मा है।

१. स्थूल शरीर—यह मनुष्य का स्थूल शरीर है। इसमें हाथ, पैर, आँख, नाक आदि अंग है। इसमें रक्त-संचार और प्राण-संचार होने से सक्रियता है। स्थूल शरीर के दो भाग हैं—**(क) अन्नमय कोश**—शरीर की बाह्य आकृति आदि अन्न से बनी है, अतः इसे अन्नमय कोश कहते हैं। इसमें शरीर का सारा ढाँचा आ जाता है। **(क) प्राणमय कोश**—स्थूल शरीर में प्राणों के कारण सक्रियता है, अतः श्वासों का आना-जाना, उनके कार्य आदि होते हैं। प्राणमय कोश अन्नमय कोश से सूक्ष्म है। यह स्थूल शरीर को जीवन प्रदान करता है।

२. सूक्ष्म शरीर—यह स्थूल शरीर से सूक्ष्म है। इसमें मन और बुद्धि आते हैं। शरीर जो कुछ कार्य करता है, वह सारी क्रिया सूक्ष्म शरीर के द्वारा संचालित है। ये क्रियाएँ दो प्रकार की हैं—ज्ञान और क्रिया रूप। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर के दो भाग हैं—

(क) क्रियाप्रधान भाग—इसको **मनोमय** कोश कहते हैं।

(ख) ज्ञानप्रधान भाग—इसको **विज्ञानमय** कोश कहते हैं।

३. कारण शरीर—यह सूक्ष्म शरीर से भी अतिसूक्ष्म है। यह सूक्ष्म शरीर को शक्ति देता है। इसको लिंग शरीर, अव्यक्त शरीर आदि भी कहते हैं। यह **'आनन्दमय कोश'** है। यह एक प्रकाशपुंज है। इसमें चित्त और अहंकार की स्थिति है।

अन्तःकरण का स्वरूप

अन्तःकरण क्या है ?—शरीर के बाहरी अवयवों हाथ, पैर, आँख, नाक आदि को बाह्य करण कहते हैं। ये बाहरी कामों को करते हैं। शरीर के अन्दर जो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं और जो सोचने-विचारने, निश्चय करने आदि कार्यों को करती हैं, उन्हें अन्तःकरण कहते हैं। ये चार हैं—१. मन, २. बुद्धि,

३. चित्त, ४. अहंकार। मन के आधार पर 'मनोमय कोश' है। इसमें मन के क्रियाकलाप का विस्तृत अध्ययन होता है। बुद्धि के आधार पर 'विज्ञानमय कोश' है। इसमें बुद्धि के क्रियाकलाप का अध्ययन होता है। चित्त और अहंकार के आधार पर 'आनन्दमय कोश' है। इसमें चित्त और अहंकार की क्रियाओं का अध्ययन होता है।

२. कर्मप्रधान मनस्तत्त्व

१. मन का स्वरूप—न्यायदर्शन का कथन है कि मन एक समय में एक ही ज्ञान होने देता है, अर्थात् मन एक समय में एक ही कार्य कर सकता है, अनेक नहीं। मन की गति बहुत तीव्र है, अतः दूसरे क्षण में दूसरा और तीसरे क्षण में तीसरा काम करता है। सामान्यतया इन क्षणों का ज्ञान नहीं हो पाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब काम एक समय में ही हुए हैं।

युगपत्-ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्याय० १.१.१३

मन इन्द्रियों के द्वारा समस्त विषयों के ज्ञान का आदान-प्रदान करता है। यह इन्द्रियों से काम लेता है और इन्द्रियों का स्वामी है। इसकी सहायता के बिना कोई ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय कोई ज्ञान या कर्म नहीं कर सकती है। इतना ही नहीं, अपितु प्राण और बुद्धि भी मन की सहायता के बिना कोई काम नहीं कर पाते हैं।

मन की उत्पत्ति अहंकार से होती है। मन का स्वरूप शुभ्र शुक्र तारे के तुल्य है। यह शिर के ऊपरी भाग ब्रह्मरन्ध्र या सहस्रार चक्र में स्थित है। मन का बुद्धि और इन्द्रिय-समूह से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह इन्द्रियों से लाए गए विषयज्ञान, क्रिया और संवेदनाओं को ग्रहण करता है और निर्णय के लिए इन संवेदनाओं को बुद्धि के पास भेजता है। बुद्धि के निर्णयों को यह ग्रहण करके इन्द्रियों के पास भेजता है। सभी इन्द्रियाँ बुद्धि के निर्णयों का पालन करती हैं। इस प्रकार संवेदनाओं के आदान-प्रदान का सारा काम मन करता है।

मन के त्रिगुणात्मक भेद—संसार के प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। अतः मन भी त्रिगुणात्मक है।

(क) सात्त्विक मन—यह शान्त, स्थिर और निष्क्रिय-सा होता है। इस प्रकार का सात्त्विक मन ऋषि-मुनियों आदि का होता है।

(ख) राजस मन—यह अत्यन्त चंचल और तीव्र गति वाला होता है। यह विद्युत् की तरह गति वाला, शीघ्रकारी और सशक्त होता है। ज्ञान-विज्ञान के ग्रहण के समय यह अति सतर्क और तेजोमय होता है। यह अपनी तीव्र गति के कारण बुद्धि और इन्द्रियों को भी चंचल बनाए रखता है।

(ग) तामस मन—तामस मन जड़वत् निष्क्रिय और चिरकारी होता है। यह अपनी निष्क्रियता के कारण देह और इन्द्रियों को भी अकर्मण्य बना देता है।

मन के गुण-धर्म

१. मन स्वभाव से ही चंचल, गतिशील और क्षिप्रकारी है। अतएव कहा गया है कि चंचलता मन का धर्म है, जैसे अग्नि में उष्णता।

चंचलत्वं मनोधर्मो वह्निधर्मो यथोष्णता।

यह अपनी क्रियाशीलता और शीघ्रकारिता के कारण प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। जब यह नियन्त्रित होता है, तब उच्च से उच्च ज्ञान-विज्ञान के तत्त्वों को तथा धारणा-ध्यान की उच्च सीमाओं को प्राप्त करने में समर्थ होता है। अनियन्त्रित होने पर साधना के लिए सबसे बड़ा विघ्न हो जाता है।

२. **संकल्प-विकल्प**—मन बुद्धि का सहकारी बनकर चिन्तन-मनन और निदिध्यासन कराता है। धारणा और ध्यान के समय शान्त और एकाग्र होकर विषयों का ज्ञान कराता है। संकल्प और विकल्प अर्थात् कौन सा कार्य किस प्रकार किया जाना है, उसके क्या हानि-लाभ हैं, उसमें कौन से विघ्न आ सकते हैं, उनका कैसे निवारण किया जाएगा, आदि का गहन चिन्तन-मनन मन का कार्य है। सोचना-समझना, सूझ-बूझ, कार्य की क्रिया-विधि पर विचार मन का कार्य है। निर्णय करना बुद्धि का कार्य है।

३. **आदान-प्रदान**—मन की दो वृत्तियाँ हैं—आदान-प्रदान। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को लेना आदान है। उसे निर्णयार्थ बुद्धि को भेजना और बुद्धि से प्राप्त आदेशों को तदनुसार कार्य करने के लिए कर्मेन्द्रियों को भेजना, यह प्रदान है। मन यह आदान-प्रदान का काम जीवन भर करता है।

४. **कर्मप्रधान तत्त्व**—मन कर्म-प्रधान तत्त्व है। क्रियाशीलता ही इसकी मुख्यता है। योगवासिष्ठ में इसे बन्दर की तरह चंचल वृत्ति वाला कहा गया है, **'मनो मर्कटचंचलम्'**। मन की क्रियाशीलता गुण भी है और दोष भी। मन अपनी क्रियाशीलता के कारण विविध ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करता है, यह गुण है। यह अपनी चंचलता के कारण ध्यान में एकाग्रता नहीं आने देता, यह दोष है। मन को धारणा आदि के द्वारा सधाया जाने पर यह एक सधे हुए घोड़े आदि के तुल्य आत्मबोध, आत्मदर्शन और आत्म-साक्षात्कार का साधन हो जाता है।

५. **ज्योतिषां ज्योतिः**—यजुर्वेद में मन को ज्योतियों का ज्योति या प्रकाशों का प्रकाश अर्थात् सर्वोत्तम ज्योति कहा गया है—**ज्योतिषां ज्योतिरेकम्** (यजु० ३४.१)। जब मन अन्तर्मुखी हो जाता है, तब वह सूक्ष्मतम तत्त्वों, सुदूर स्थित एवं गुह्यतम रहस्यों को जानने और दिखाने में समर्थ होता है। मन सधे

जाने पर साधक का परम मित्र हो जाता है और दिव्य विभूतियों की प्राप्ति में बड़ा सहायक होता है।

६. **दूरंगमम्**—यजुर्वेद में इसको '**दूरंगमम्०**' (यजु ३४.१) कहा है। इसकी गति अतितीव्र है। यह संसार का सबसे तीव्र गति वाला तत्त्व है। यह क्षण भर में तीनों लोकों की यात्रा कर सकता है। सारी योग-साधना मनोनिरोध या मन को वश में करने की विद्या है। मन की चंचलता पर नियंत्रण होने से ध्यान और समाधि का मार्ग अत्यन्त सरल हो जाता है।

३. ज्ञानप्रधान बुद्धितत्त्व

१. **बुद्धि का लक्षण और स्वरूप—'बोधयति इति बुद्धिः' 'बोधनाद् बुद्धिः'** जो संसार के पदार्थों का बोध कराती है, उसे बुद्धि कहते हैं। यह संसार के ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण करती है और उनके वास्तविक स्वरूप का बोध कराती है। '**अध्यवसायो बुद्धिधर्मः**' निर्णयात्मक ज्ञान देना, कर्तव्य-अकर्तव्य के निश्चयात्मक ज्ञान को देना बुद्धि का कार्य है। बुद्धि निर्णायक तत्त्व है। न्यायाधीश के तुल्य निर्णय करना बुद्धि का धर्म है। बुद्धि मन को आदेश देती है कि यह कर्तव्य है, ऐसा करो। मन इन्द्रियों से तदनुसार कार्य कराता है।

बुद्धि को ही प्रज्ञा, मेधा, मनीषा, धी, मति आदि कहते हैं। बुद्धि के ही शुद्धतम और उच्चतम रूप प्रतिभा एवं ऋतंभरा प्रज्ञा हैं। प्रतिभा ही मानव में ईश्वरीय दिव्य शक्ति है। यह एक दिव्य ज्योति है, जो संसार के प्रत्येक वस्तु के सूक्ष्मतम रहस्य को प्रकट करती है। साधना की उच्चकोटि में प्राप्त 'ऋतंभरा प्रज्ञा' मानव को दिव्य शक्ति देती है, जिससे वह सर्ववित् या सर्वज्ञ होने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। प्रतिभा का सामान्य रूप बुद्धि है। इसकी सूक्ष्मता एवं दूरदर्शिता प्रयत्न-सापेक्ष है। बुद्धि को जितना परिष्कृत किया जाएगा, उतनी वह शुद्ध और परिष्कृत होती चली जाएगी। यह संकल्प-विकल्प, ऊहापोह, अनिश्चितता को अपने तर्क-वितर्क से छाँटकर निश्चयात्मक ज्ञान कराती है। निर्णय लेना, मार्ग-दर्शन, वस्तुओं का शुद्ध स्वरूप बताना बुद्धि का कार्य है।

२. **बुद्धि की उत्पत्ति एवं निवास**—बुद्धि की उत्पत्ति महत् तत्त्व से होती है। बुद्धि का निवास ब्रह्मरन्ध्र या मस्तिष्क के ऊपरी भाग में है। यह एक अत्यन्त तेजोमय, सूर्य के तुल्य भास्वर, ज्योति-पुंज है। यह संकोच-विकासशील और त्रिगुण-धर्मी है।

३. **बुद्धितत्त्व का सम्बन्ध**—बुद्धि का मन के द्वारा 'हृदय' से सदा सम्बन्ध बना रहता है, जहाँ जीवात्मा का निवास है। हृदय में चित्त, अहंकार और सूक्ष्म प्राण भी जीवात्मा के साथ रहते हैं। चित्त में प्रतिक्षण संस्कार उठते रहते हैं। इनको मन

की सूक्ष्म रश्मियाँ आकृष्ट करके प्रतिक्षण बुद्धि तक पहुँचाती हैं। बुद्धि मन की सहायता से इन संस्कारों को स्थूल रूप देकर इन्द्रियों के उपभोग के योग्य बनाती है। मन इन्द्रियों से कार्य कराता है। इन्द्रियाँ बाहर से जो ज्ञान एकत्र करती हैं, उन्हें मन के द्वारा बुद्धि के पास निर्णय के लिए भेजती हैं। बुद्धि अपने निर्णय को मन के द्वारा इन्द्रियों तक पहुँचाता है। तदनुसार इन्द्रियाँ काम करती हैं। इस प्रकार सभी संस्कारों पर, मन पर और इन्द्रियों पर बुद्धि का पूर्ण अधिकार है। बुद्धि यदि भौतिक विषयों की ओर आकृष्ट होती है, तो 'जीव' बन्धन में पड़ता है। बुद्धि यदि भोगों से विमुख होकर अन्तर्मुखी होती है, तो 'जीव' मुक्त हो जाता है।

४. बुद्धि के त्रिगुणात्मक भेद—सत्त्व, रजस्, तमस् के भेद से बुद्धि के भी तीन भेद हैं। गीता में इन भेदों का बहुत सुन्दर एवं स्पष्ट वर्णन है। ये तीन भेद हैं—

(क) सात्त्विक बुद्धि—जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग (निष्कामभाव से कार्य करना), निवृत्तिमार्ग (संसार से विरक्ति या वैराग्य की भावना), कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय (भय के कारण) और अभय (निर्भयता के साधन), बन्धन (जीव के बन्धन के कारण) और मोक्ष (मुक्ति के साधन) को यथार्थ रूप में जानती है और बताती है, वह सात्त्विक बुद्धि है। यह ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, हर्ष, शक्ति, स्फूर्ति, उल्लास, शान्ति, मनन-चिन्तन की शक्ति, एकाग्रता, शील, संयम, शम-दम आदि गुणों को देती है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ गीता १८.३०

(ख) राजस बुद्धि—जो बुद्धि धर्म और अधर्म का, कर्तव्य और अकर्तव्य का ठीक-ठीक बोध नहीं करा सकती है, वह राजस बुद्धि है। राजस बुद्धि या रजोगुणी बुद्धि काम, क्रोध, मद, लोभ, विषय-वासना, ईर्ष्या, राग-द्वेष, भय, शोक, प्रतिकार की भावना, अर्थलोलुपता, अहंकार, आदि अवगुणों को देती है।

यया धर्ममधर्मं च, कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति, बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ गीता १८.३१

(ग) तामस बुद्धि—तमोगुणी बुद्धि उसे कहते हैं, जो अधर्म को धर्म, अकर्तव्य को कर्तव्य और त्याज्य दुर्गुण-दुर्व्यसन आदि को दुर्गुण नहीं समझती है। वह ज्ञान, धर्म, कर्तव्य, उपदेश आदि को अपने लिए उपयोगी नहीं समझती है। तमोगुणी बुद्धि अज्ञान, हिंसावृत्ति, क्रूरता, नास्तिकता, आलस्य, प्रमाद, उद्विग्नता, अविवेक, छल-प्रपंच, दम्भ, दुराचार, मद-मोह एवं पापों में प्रवृत्ति आदि दूषित प्रवृत्तियाँ देती है।

अधर्मं धर्ममिति या, मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतान् च, बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ गीता १८.३२

५. बुद्धि के गुण-धर्म—बुद्धि के विशेष गुण-धर्म संक्षेप में ये हैं—

(क) निर्णय देना—मन इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को निर्णय के लिए बुद्धि के पास भेजता है। बुद्धि तर्क-वितर्क से विवेचन करके अपना निर्णय देती है। उस निर्णय को मन इन्द्रियों तक पहुँचाता है और इन्द्रियाँ तदनुसार कार्य करती हैं।

(ख) बुद्धि ज्योति-स्तम्भ है—बुद्धि मनुष्यमात्र का सबसे बड़ा हितैषी है। यह ज्योतिस्तम्भ या प्रकाश-स्तम्भ (Light-house) के तुल्य सदा मार्गदर्शक है। संकट में बुद्धि ही मार्ग-प्रदर्शन करती है। यह एक मंत्री के तुल्य उत्तम सम्मति देती है। यह सुसारथि के तुल्य सन्मार्ग पर ले जाती है। यह मनुष्य की ज्ञानचक्षु है। यह उलझनों को सुलझाकर मनुष्य को कष्टों के भँवर में से निकालती है।

(ग) हेय-उपादेय की बोधक—क्या ग्रहण करना चाहिए और क्या छोड़ना चाहिए, किन गुणों और कर्मों को अपनाना चाहिए तथा किनको छोड़ना चाहिए, इसका बोध बुद्धि ही कराती है। दुर्गुणों को छोड़ना चाहिए। इनका परिणाम दु:खद होता है, अत: ये त्याज्य हैं। उत्तम गुणों को अपनाना चाहिए, क्योंकि इनका परिणाम मनुष्य को सुख देता है। यह निश्चयात्मक बोध कराना बुद्धि का कार्य है।

(घ) ऋतंभरा प्रज्ञा—यह बुद्धि का शुद्धतम रूप है। उच्च साधना के द्वारा योगियों को यह ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। इसको प्राप्त करनेवाला 'स्थितप्रज्ञ' पुरुष हो जाता है। ऋतंभरा वह प्रज्ञा है, जो कठिन से कठिन समस्याओं का तुरन्त समाधान प्रस्तुत करती है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार करा सकती है। यही प्रकृति और पुरुष का भेद स्पष्ट करती है। यह जीवन-मरण के बन्धन से छुड़ाकर साधक को मोक्ष तक पहुँचाती है।

४. कर्मप्रधान अहंकार-तत्त्व

१. अहंकार का लक्षण और स्वरूप—यह अन्त:करण का एक अंग है। प्रत्येक ज्ञान में अहम् (मैं), मम (मेरा), ममत्व, ममता, आत्मभाव उत्पन्न करने वाला तत्त्व अहंकार है। इसको ही अभिमान, दर्प, अस्मिता, अहंकृति आदि कहते हैं। बुद्धि के द्वारा भेजे गए प्रत्येक ज्ञान, कर्म, आदेश, निर्णय और संवेदना को लेकर उस पर 'ममत्व' की मुहर लगाकर 'चित्त' में स्थापित करता है और 'पुरुष' को अवगत कराता है। साथ ही सभी चित्तगत संस्कारों को बुद्धि तक पहुँचाता है। अहंकार ही जीवात्मा को 'अहमस्मि' (मैं हूँ) 'अयमस्ति' (यह है)

का बोध कराता है। यह हृदयस्थित चित्त के चारों एक वृत्त (घेरा) बनाकर विद्यमान है। यह त्रिगुणात्मक है।

२. अहंकार की उत्पत्ति और निवास-स्थान—अहंकार की उत्पत्ति 'महत् तत्त्व' से होती है। अहंकार से ही पंचभूतों, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मन की उत्पत्ति होती है। अहंकार का निवास-स्थान हृदय में विद्यमान आनन्दमय कोश और कारणशरीर में है।

३. अहंकार का सम्बन्ध—अहंकार का मुख्य रूप से सम्बन्ध 'चित्त' और 'प्राण' से है। गौण रूप से 'जीवात्मा' एवं अन्य करणों से। यह चित्त में पड़े संस्कारों को बुद्धि तक पहुँचाता है और बुद्धि से प्राप्त नवीन संस्कारों को चित्त तक पहुँचाता है। इस आदान-प्रदान के कारण चित्त भी मनकी तरह चंचल रहता है।

४. अहंकार के त्रिगुणात्मक भेद—अहंकार के त्रिगुणात्मक भेद ये हैं—

(क) सात्त्विक अहंकार—इसमें सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है। सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण अहंकार निश्चल होकर चित्त और प्राण के व्यापारों को भी निष्क्रिय कर देता है। इससे यह आत्म-बोध एवं आत्म-साक्षात्कार में बड़ा सहायक हो जाता है। अहंकार के अभाव में आत्मदर्शन सुलभ हो जाता है।

(ख) राजस अहंकार—इसमें रजोगुण की प्रधानता होने से अहंकार अत्यन्त चंचल हो जाता है। इस चंचलता के कारण यह चित्त और प्राण को भी सक्रिय बना देता है। इस अवस्था में यह चित्त और प्राण को शक्ति देता है, इनके कार्यों में सहयोग देता है, इन्हें जागरूक रखता है और प्रत्येक ज्ञान एवं कर्म में 'ममत्व' की भावना भर देता है। बुद्धि को उत्तेजित करता है। अस्मिता को उद्दीप्त करके काम-क्रोध-मद-लोभ राग-द्वेष आदि विकारों के संस्कारों को प्रचण्ड बना देता है। चित्त में 'ममेदम्' (यह मेरा है) की भावना दृढ बनाता है। चित्त और प्राण में उद्वेग बढ़ाकर इन्हें अशान्त बनाता है।

(ग) तामस अहंकार—इस अवस्था में यह चित्त को मूढ, दुरभिमानी और आत्मश्लाघी बनाता है। पाप और अधर्म में प्रवृत्त करता है, कुमार्गगामी बनाता है। दुर्भावों को उद्दीप्त करता है। अज्ञान का अन्धकार फैलाकर बुद्धि और ज्ञान को कुण्ठित कर देता है।

५. अहंकार के गुण-धर्म—अहंकार के विशेष गुण-धर्म ये हैं—

(क) अहंभाव जगाना—अहंकार चित्त और बुद्धि में 'अहं' (मैं, मेरा) का भाव जागृत करता है। अतएव व्यक्ति शरीर, भूमि-भवन, धन-धान्य आदि में 'मम' या ममत्व का भाव रखता है।

(ख) आसक्ति का जन्मदाता—अहंकार अपने स्वाभाविक धर्म ममत्व के कारण विषयों में आसक्ति जागृत करता है। इसके कारण जीवात्मा अज्ञान के आवरण में फंसकर जन्म-मरण कें चक्र में पड़ जाता है। यह चित्त के संस्कारों को उद्‌बुद्ध करके राग-द्वेष आदि में फँसाता है।

(ग) आत्मबोध में सहायक—अहंभाव सदा दुर्गुण न होकर सात्त्विक भाव वाला होने पर लाभप्रद भी है। सत्त्व भाव होने पर जीव में आत्मा के प्रतिबिम्ब का दर्शन 'अहं' के कारण ही होता है। यदि 'अहं' न हो तो जीवात्मा को अपने स्वरूप का बोध नहीं हो सकता है।

(घ) राग-द्वेष आदि का जनक—अहंभाव ही मनुष्य में 'ममता या ममत्व' को जन्म देता है। अतएव मेरा पिता, मेरी माता, मेरी पत्नी आदि में ममता उत्पन्न होती है। मित्रों से प्रेम, शत्रुओं से शत्रुता का भाव इसी अहंभाव का फल है। राजस और तामस अहंकार राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, कर्मठता-अकर्मण्यता, हर्ष और विषाद के कारण होते हैं।

५. ज्ञानप्रधान चित्त-तत्त्व

१. चित्त का लक्षण और स्वरूप—चित्त शब्द 'चिती संज्ञाने' (भ्वादि०) से बनता है। इसका अर्थ है—ज्ञान-प्राप्ति का साधन। यह ज्ञानरूप जीवात्मा के संयोग से चेतनवत् होकर जीवात्मा के लिए ज्ञान और कर्म के द्वारा समस्त भोगों का सम्पादन करता है। यह सभी संस्कारों या वासनाओं को तथा स्मृति (स्मरणशक्ति) को धारण करता है। यह प्राण या जीवनी शक्ति का उत्पादक है। यह आत्मा के संयोग से सदा चेतनवत् रहता है। यह ज्योतिर्मय एवं गतिशील है।

२. चित्त की उत्पत्ति और निवास-स्थान—चित्त महत् तत्त्व से उत्पन्न होता है। हृदय में 'रक्ताशय' नामक स्थान में 'हृदयाकाश या हृदयगुहा' में इसका निवास-स्थान है। हृदयाकाश में छोटे अंगूर या शिशु के अंगुठे के बराबर एक छोटा रिक्त स्थान है। इसमें चित्त का निवास-स्थान है। चित्त में ही जीवात्मा का निवास है।

३. चित्त का सम्बन्ध—चित्त का मुख्य रूप से जीवात्मा से सम्बन्ध है, गौण रूप से अहंकार, प्राण, बुद्धि, मन और इन्द्रियों से है। जीवात्मा और चित्त सदा एक साथ रहते हैं। दोनों का स्व-स्वामि-भाव या भोग्य-भोक्तृ-भाव सम्बन्ध है। चित्तरूपी हृदय-गुहा में जीवात्मा का निवास है। चित्त का सम्बन्ध आनन्दमय कोश से है।

४. चित्त के त्रिगुणात्मक भेद—चित्त के त्रिगुणात्मक भेद ये हैं—

(क) सात्त्विक चित्त—सत्त्वगुण-प्रधान चित्त अत्यन्त ज्योतिर्मय होता है। यह निर्मल एवं निस्तरंग सरोवर के तुल्य शान्त एवं श्रद्धा, ज्ञान, वैराग्य आदि संस्कारों से युक्त होता है। इस अवस्था में यह सूक्ष्म अणुरूप बन जाता है। तब आत्मबोध एवं आत्मसाक्षात्कार सरलता से हो जाता है।

(ख) राजस चित्त—रजोगुणी चित्त उत्ताल तरंगयुक्त समुद्रवत् होता है। इस अवस्था में यह अतिसंवेदनशील होता है। तब इच्छा, संकल्प, राग-द्वेष. सुख-दुःख, मान-मोह आदि रजोगुणी संस्कारों को उद्बुद्ध करता है। इस समय ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, अनुराग-वैराग्य आदि दोनों प्रकार के संस्कार उत्पन्न होते हैं। रजोगुणी चित्त के प्रकाश में तीव्रता और तीक्ष्णता होती है।

(ग) तामस चित्त—तमोगुणी चित्त का प्रकाश मन्द होता है। इसमें अज्ञान, अविवेक, अधर्म, विषाद, भय, आलस्य, मोह, ग्लानि आदि की अधिकता होती है। यह बुद्धि को कुण्ठित कर देता है, उसमें कुवासनाएँ भर जाती हैं। इस अवस्था में कोई अच्छे संस्कार नहीं उठते, न सत्कर्म में प्रवृत्ति होती है।

५. चित्त के गुण-धर्म—चित्त के विशेष गुण-धर्म ये हैं—

(क) सदा क्रियाशील—चित्त सदा क्रियाशील रहता है। यह सूक्ष्म प्राण को उत्पन्न करता है और जीवनी शक्ति देता है। अहंकार के द्वारा कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर में जीवन का संचार करता है। यह धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान एवं संसार के सभी भावों को संस्कार के रूप में धारण करता है। यह सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों से प्रभावित होकर पुरुष को शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, सुखी-दुःखी, ज्ञानी-अज्ञानी आदि की अनुभूति कराता है।

(ख) जीव के बन्ध-मोक्ष का कारण—चित्त ही विषयों में आसक्ति के द्वारा जीव को बन्धन में डालता है। यही विषयों से विमुख होने पर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

(ग) स्मृति और संस्कारों का केन्द्र—चित्त में ही सारे संस्कार या वासनाएँ संगृहीत रहती हैं। जो संस्कार भोगोन्मुख होते हैं, उनको चित्त 'अहं' के द्वारा 'बुद्धिमण्डल' को भेजता है। बुद्धि के आदेशानुसार उन संस्कारों का भोग पुरुष करता है। अच्छे संस्कारों का भोग सुखरूप में होता है और बुरे संस्कारों का भोग दुःख के रूप में। चित्त ही स्मृति का केन्द्र है। सारी स्मरण शक्ति चित्त में रहती है।

(घ) आत्मदर्शन में सहायक—असंप्रज्ञात समाधि में जब संस्कारों का निरोध हो जाता है, तब चित्त ही अहंकार के द्वारा आत्मदर्शन या आत्म-साक्षात्कार कराता है।

(ङ) ज्ञान और कर्म का प्रेरक—ज्ञान की प्राप्ति और कर्म करने की प्रेरणा चित्त में विद्यमान संस्कारों के द्वारा ही होती है। चित्त सूक्ष्म प्राण को प्रेरणा

देता है और वह अहंकार को क्रियाशील बनाता है। अहंकार क्रियाशील होकर अन्न-प्राण-मन-विज्ञान एवं आनन्दमय कोशों को क्रियाशील बनाए रखता है। इस प्रकार चित्त सभी प्रकार के ज्ञान और कर्मों का प्रेरक है।

(च) आनन्दमय कोश का अंग—चित्त आनन्दमय कोश का अभिन्न अंग है। यह सदा अव्यक्त रूप से सारे शरीर का संचालन करता है।

(छ) चित्त की वृत्तियाँ—जिस प्रकार चित्त संस्कारों का केन्द्र है, उसी प्रकार यह वृत्तियों का भी केन्द्र है। शान्त सरोवर में जैसे क्षोभ होने पर तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार शान्त चित्त में जब विचार या संकल्प उठते हैं तो चित्त में गति या व्यापार उत्पन्न होता है। सरोवर में तरंग के तुल्य चित्त में ये वृत्तियाँ सदा उठती रहती हैं। इनके कारण चित्त में अस्थिरता आती है। योगसाधना में मनोनिरोध होने पर चित्त की वृत्तियों में शान्ति आती है। यह प्रशान्त अवस्था ही चित्त-वृत्ति-निरोध है।

६. योगवासिष्ठ में अन्तःकरण-चतुष्टय का विवेचन

महर्षि वाल्मीकिकृत योगवासिष्ठ में अन्तःकरण-चतुष्टय का बहुत विशद वर्णन हुआ है। यहाँ उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

योगवासिष्ठ में मन के व्यापक रूप का वर्णन करते हुए बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि को मन का ही एक विशिष्ट रूप बताया गया है। जैसे नट विभिन्न पात्रों की भूमिका निभाता हुआ अनेक रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन भी विभिन्न कर्म करने के कारण अनेक चित्त आदि नाम धारण करता है।

यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्यलं तथैव हि।
मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं व्रजत्॥ योग० ३.९६.४३

आधुनिक मनोविज्ञान (Psychology) में बुद्धि, चित्त आदि को मन का ही एक भेद या स्वरूप-विशेष माना जाता है। अथर्ववेद के एक मंत्र में आठ शब्दों के द्वारा पूरे मनोविज्ञान का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥ अथर्व० ६.४१.१

मन्त्र में मनसे आदि के द्वारा मनोविज्ञान के इन विषयों का वर्णन हुआ है—(१) **'मनसे'** के द्वारा संवेदना (Sensations) और प्रेरणा (Motivation) का ग्रहण है। (२) **'चेतसे'** के द्वारा चेतना (Consciousness) और चिन्तन (Thinking) अभिप्रेत है। (३) **'धिये'** के द्वारा ध्यान या अवधान (Attention) अभिप्रेत है। (४) **'आकूतये'** के द्वारा अनुभूति (Feeling) और संवेग (Emotion) का ग्रहण है। (५) **'चित्तये'** के द्वारा चित्त के धर्म स्मरण (Remembering) और उसके अभावरूप विस्मरण (Forgetting) का ग्रहण

है। (६) **'मत्यै'** के द्वारा बुद्धि (Intelligence) अभिप्रेत है। (७) **'श्रुताय'** के द्वारा श्रवण, पठन एवं शिक्षण (Learning) का ग्रहण है। (८) **'चक्षसे'** के द्वारा चक्षुकार्य, दर्शन या प्रत्यक्षीकरण (Perception) अभिप्रेत है।

(क) मन

१. परम चेतना (मन) का व्यापक रूप

परा संवित् (परम चेतना) ही मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, कल्पना, वासना, आदि रूप धारण करती है। योगवासिष्ठ का कथन है कि मूल तत्त्व परा-संविद् है। यह ईश्वरीय परम चेतना है। यह अपने विभिन्न कार्यों के आधार पर विभिन्न नाम धारण करती है। इस परम चेतना के ही विभिन्न रूप मन, बुद्धि, चित्त आदि हैं।

परायाः संविदो ब्रह्मन् एताः पर्यायवृत्तयः
कल्प्यमान-विचित्रार्थाः कथं रूढिमुपागताः॥ योग० ३.९६.१६

१. मन—जब परा संविद् (परम चेतना) में कुछ अज्ञान का अंश आ जाता है और वह संकल्प -विकल्प का कार्य करने लगती है, तब उसे 'मन' कहते हैं।

गतेव सकलंकत्वं, कदाचित् कल्पनात्मकम्।
उन्मेषरूपिणी नाना, तदैव हि मनःस्थिता॥ योग० ३.९६.१७

२. बुद्धि—जब यह परम चेतना संकल्प-विकल्प के बाद निर्णय करने की स्थिति में आ जाती है और 'यह ऐसा है' यह निश्चय करने में समर्थ हो जाती है, तब उसे 'बुद्धि' कहते हैं।

भावनामनुसंधानं यदा निश्चित्य संस्थिता।
तदैषा प्रोच्यते बुद्धिः-इयत्ताग्रहणक्षमा॥ योग० ३.९६.१८

३. अहंकार—जब इस परम चेतना में अहंभाव जागृत हो जाता है और यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व समझने लगती है, तब इसे 'अहंकार' कहते हैं। अहंकार सब अनर्थों का कारण है और जन्म-मृत्युरूपी बन्धन का कारण है।

यदा मिथ्याभिमानेन सत्तां कल्पयति स्वयम्।
अहंकाराभिधानेन् प्रोच्यते भवबन्धिनी॥ योग० ३.९६.१९

४. चित्त—जब परम चेतना में चंचलता उत्पन्न हो जाती है और वह बच्चों की तरह एक विचार को छोड़कर दूसरे और तीसरे विचार या विषय की और दौड़ती है, तब उसे चित्त कहते हैं।

इदं त्यक्त्वेदमायाति बालवत् पेलवा यदा।
विचारं संपरित्यज्य तदा सा चित्तमुच्यते॥ योग० ३.९६.२०

५. कल्पना—जब परम चेतना एक दृढ़निश्चय को छोड़कर 'यह भी हो सकता है' 'वह भी हो सकता है' इस प्रकार विविध कल्पनाएँ करती है, तब उसे 'कल्पना' कहते हैं।

काकतालीय-योगेन त्यक्त्वैकघन-निश्चयम्।
यदेहितं कल्पयति भावं तेनेह कल्पना ॥ योग० ३.९६.२२

६. स्मृति—जब परम चेतना देखी हुई या न देखी हुई पुरानी वस्तुओं या विषयों को स्मरण करती है, तब उसे 'स्मृति' कहते हैं।

पूर्वदृष्टमदृष्टं वा प्रागदृष्टमिति निश्चयैः।
यदैवेहां विधत्तेऽन्तस्तदा स्मृतिरुदाहृता ॥ योग० ३.९६. २३

७. वासना—यह परम चेतना जब पुराने भोगों को सूक्ष्म रूप धारण करके अन्तरात्मा में संस्कार के रूप में निवास करती है, तब उसे 'वासना' कहते हैं।

यदा पदार्थशक्तीनां संभुक्तानामिवाम्बरे।
वसत्यस्तमितान्येहा वासनेति तदोच्यते ॥ योग० ३.९६.२४

८. विद्या—जब आत्मतत्त्व निर्मल होता है और ज्ञानरूपी नेत्र खुलता है, तब इस परम चेतना को 'विद्या' कहते हैं।

अस्त्यात्मतत्त्वं विमलं द्वितीया दृष्टिरङ्किता।
जाता ह्यविद्यमानैव तदा विद्येति कथ्यते ॥ योग० ३.९६. २५

२. मन का महत्त्व

मन शरीर में नट की तरह नाना भूमिकाएँ निभाता है। मन का सम्बन्ध आँख से होने पर मनुष्य देखता है, कान से सम्बन्ध होने पर सुनता है। इस प्रकार जिस-जिस इन्द्रिय से मन का सम्बन्ध होता है, वह इन्द्रिय काम करने लगती है। यदि मन का सम्बन्ध आँख से न हो तो आँख खुली होने पर भी सामने की वस्तु नहीं देख सकती है। इसलिए शरीर में मन की ही प्रभुता है।

मनः पश्यद् भवत्यक्षि शृण्वत् श्रवणतां गतम्।
नाटके नटवद् देहे मन एवानुवर्तते॥
योग० ३.११०.१८-१९

मन ही शरीर का स्वामी है। मन ही जो कुछ करता है, वही किया हुआ माना जाता है। मन को ही शरीर समझो, शरीर को शरीर नहीं। सारे संसार में मन ही रमा हुआ है। संसार मन की ही माया है। मन ही आकाश, वायु और पृथ्वी है। जो अपने विचार एवं संकल्प से ज्ञेय की वासना को नष्ट कर देता है, उसको बादलरहित आकाश में सूर्य के प्रकाश के तुल्य आत्मा का प्रकाश दिखाई देता है।

अतस्त्वं मन एवेदं नरं विद्धि न देहकम्। योग० ३.११०.१३
मनोमात्रं जगत् कृत्स्नं मनः पर्यन्तमण्डलम्।
मनो व्योम मनो भूमिर्मनो वायुर्मनो महान् ॥ योग० ३.११०.१५
येन छिन्ना विचारेण जीवस्य ज्ञेय-वासना।
निरभ्रस्येव सूर्यस्य तस्यालोको विराजते ॥ योग० ३.११०.१२

प्राण और मन—चित्शक्ति और प्राणशक्ति के सम्बन्ध से मन में शक्ति आती है। प्राणवायु की शक्ति को स्पन्द (गति) कहते हैं। चित्शक्ति सदा सर्वत्र विद्यमान है। यदि प्राणशक्ति को रोक लेते हैं तो मन स्वयं रुक जाता है। इसीलिए प्राणायाम के द्वारा प्राणों को रोकने का अभ्यास किया जाता है।

चित्-शक्तेः स्पन्दशक्तेश्च सम्बन्धः कल्प्यते मनः। योग० ५.१३.८८

प्राणशक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते। योग० ५.१३.८३

मनोनिरोध से सिद्धियाँ—दृढ़ निश्चय से युक्त मन जिस बात को लगातार सोचता है, वह विचार सिद्ध होता है, जैसे आग में पड़कर लोहा। मन की अशुद्धि को दूर करने के लिए उसे सन्मार्ग पर लगाना चाहिए। मन के निरोध से ही सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

मनो हि पुरुषो नाम तं नियोज्य शुभे पथि।
तज्जयैकान्तसाध्या हि सर्वा जगति भूतयः॥ योग० ४.२०.५

मन और कर्म परस्पर संबद्ध—जिस प्रकार आग और उष्णता परस्पर सम्बद्ध हैं, इसी प्रकार मन और कर्म संश्लिष्ट हैं। दोनों में से एक का नाश होने पर स्वयं दूसरे का नाश हो जाता है। कर्मों का नाश होने पर मन का नाश हो जाता है और मन का नाश होने पर कर्म स्वयं समाप्त हो जाते हैं।

कर्मनाशे मनोनाशो मनोनाशो ह्यकर्मता।
वह्न्यौष्ण्ययोरिव सदा शिलष्टयोश्चित्तकर्मणोः।
द्वयोरेकतराभावे द्वयमेव विलीयते॥ योग० ३.९५.३६-३७

मन से ही मन की जड़ नष्ट करो—जिस प्रकार लकड़ी के डंडे से बनी कुल्हाड़ी में आगे लोहा लगा देने से वह लकड़ी का डंडा वृक्ष को काट डालता है। उसी प्रकार मन के आगे चेतन ब्रह्मरूपी लोहा लगाकर मन को समूल नष्ट कर दो।

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम्।
पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव॥ योग० ५.१३.३५

(ख) बुद्धि

बुद्धि और शुभ विचारों का महत्त्व—शुभ विचार बुद्धि को तीक्ष्ण बनाते हैं और वह बुद्धि आत्मतत्त्व को जानने में समर्थ होती है। संसाररूपी महारोग की ओषधि विचार ही है। शुभ विचार कल्पवृक्ष है। इसके ही फल हैं—राज्यप्राप्ति, विशाल धनप्राप्ति, भोग और मोक्ष। जिसकी बुद्धि में विवेक जागृत हो जाता है, वह संसार में कभी विपत्तिरूपी जल में नहीं डूबता, जैसे लौकी (तुम्बी)। शुभ विचार से तत्त्वज्ञान होता है, तत्त्वज्ञान से आत्मा में शान्ति आती है। आत्मा में शान्ति से सारे दुःखों का नाश होता है।

(क) विचारात् तीक्ष्णतामेत्य धीः पश्यति परं पदम्।
संसारदीर्घरोगस्य विचारो हि महौषधम् ॥ योग० २.१४.२

(ख) राज्यानि संपदः स्फारा भोगो मोक्षश्च शाश्वतः।
विचारकल्पवृक्षस्य फलान्येतानि राघव ॥
योग० २.१४.१०-११

(ग) विचाराज्ज्ञायते तत्त्वं तत्त्वाद् विश्रान्तिरात्मनि।
अतो मनसि शान्तत्वं सर्वदुःखपरिक्षयः ॥ योग० २.१४.५३

बुद्धि का महत्त्व—बुद्धिमान मनुष्य के हृदय में बुद्धि चिन्तामणि है। यह कल्पवृक्ष (कल्पलता) की तरह मनुष्य की सारी कामनाएँ पूर्ण करती है। बुद्धि का सदुपयोग किया जाए तो यह संसार-सागर के पार पहुँचा देती है। यदि इसका दुरुपयोग किया जाता है तो विपत्ति में डाल देती है। आत्मारूपी सूर्य को अहंकाररूपी बादल ढके हुए है। इन बादलों को बुद्धिरूपी वायु उड़ा देती है और आत्मा का दर्शन कराती है।

(क) चिन्तामणिरियं प्रज्ञा हृत्कोशस्था विवेकिनः।
फलं कल्पलतेवैषा चिन्तितं संप्रयच्छति ॥ योग० ५.१२.३४

(ख) धीः सम्यग् योजिता पारम्, असम्यग् योजिताऽऽपदम्।
योग० ५.१२.३६

(ग) पिधानं परमार्कस्य जडात्मा विततोऽसितः।
अहंकाराम्बुदो मत्तः प्रज्ञावातेन बाध्यते ॥ योग० ५.१२.३९

(ग) चित्त

चित्त ही संसार है—यह सारा संसार चित्त की ही माया है। राग-द्वेष आदि क्लेशों से दूषित चित्त ही संसार है। जब यह राग-द्वेष आदि से मुक्त हो जाता है, तब संसार की समाप्ति समझें। चित्त में जो चैतन्य अंश है वह सारी कल्पनाओं का बीज है और इसमें जो अचेतन अंश है, वह संसार है।

(क) चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्।
तदैव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥ योग० ३.८४.३६

(ख) योऽयं चित्तस्य चिद्भागः सैषा सर्वार्थबीजता।
यश्चास्य जडभागश्च तज्जगत् सोऽङ्ग संभ्रमः ॥ योग० ३.८४.३९

चित्त-शुद्धि से प्रतिभा का उदय—दीर्घकाल तक दृढ़ अभ्यास के द्वारा चित्त की शुद्धि होती है। जब चित्त में सारे संकल्प (विचार) समाप्त हो जाते हैं, तब चित्त में प्रतिभा का उदय होता हैं। जिस प्रकार गर्म किए हुए दो लोहे परस्पर मिल जाते हैं, उसी प्रकार शुद्ध हुआ चेतन तत्त्व परम चेतन तत्त्व (परमात्मा) से मिल जाता है।

(क) चिरमेकदृढाभ्यासात् शुद्धिर्भवति चेतसः।
अनाक्रान्तस्य संकल्पैः प्रतिभोदेति चेतसः॥ योग० ४.१७.२१

(ख) अयोऽयसि च संतप्ते शुद्धे तप्तं तु लीयते। योग० ४.१७.२९

(ग) तस्याशु शुद्ध्या भवति प्रबुद्धः,
तन्मात्रयुक्त्या परसंगमेति॥ योग० ४.१७.३१

चित्त मायाचक्र का केन्द्र है—संसाररूपी मायाचक्र की नाभि (केन्द्र) चित्त है। यह मायाचक्र मनुष्य को जीवन-मरण के चक्र में फँसाए रखता है। इसलिए दान तप आदि सभी कार्यों को छोड़कर चित्त को ही वश में करो।

अस्य संसाररूपस्य मायाचक्रस्य राघव।
चित्तं विद्धि महानाभिं भ्रमतो भ्रमदायिनः॥ योग० ५.५०.६
तस्माद् राघव संत्यज्य तीर्थ-दान-तपःक्रियाः।
श्रेयसे परमायान्तश्चित्तमेव वशं कुरु॥ योग० ५.५०.१३

चित्तरूपी पिशाच को भगावो—विवेक, वैराग्य, गुरुकृपा और मन्त्रों के द्वारा इस चित्तरूपी पिशाच को अपने हृदयरूपी घर से बाहर निकाले बिना आत्मसिद्धि (आत्मदर्शन, आत्मबोध) नहीं होती।

विवेक-वैराग्य-गुरुप्रयत्न-
मन्त्रैः स्वतन्त्रैः स्वचिदात्मगेहात्।
नोत्सादयेत् चित्तपिशाचमेनं
यावत् कुतस्तावदिहात्मसिद्धिः॥ योग० ५.५०.७१

(घ) अहंकार

अहंकार आत्मज्ञान में बाधक—स्वच्छ आकाश में अहंकाररूपी बादल के नष्ट होने पर आत्मारूपी सूर्य का प्रकाश पूर्ण रूप से फैलता है। अहंकार की भावना सबसे बड़ा अन्धकार है। उसके हट जाने पर आत्मा का प्रकाश प्रकट होता है।

अहंकाराम्बुदे क्षीणे चिद्व्योम्नि विमले तते।
नूनं संप्रौढतामेति स्वालोको भास्करः परः॥ योग० ५.१३.१७-१८

अहंकार अनर्थों का मूल है—अहंकार अनर्थों का मूल है। अहंकार से कुकर्मों में प्रवृत्ति होती है। अहंकार सभी दुःखों का कारण है।

ददात्यनर्थनिचयं विस्तारयति दुष्कृतम्।
विस्तारयति संतापम् अहंभावोऽनुसंहितः॥ योग० ५.५३.२७

❑

अध्याय ८

आनन्दमय कोश, समाधि

१. कुण्डलिनी-जागरण

कुण्डलिनी क्या है ?—साधक के लिए आवश्यक है कि वह कुण्डलिनी के स्वरूप, स्थान आदि का ज्ञान प्राप्त कर ले। कुण्डलिनी एक प्रसुप्त ज्योतिपुंज है। कुण्डलिनी-जागरण में इस प्रसुप्त शक्ति को जगाना होता है। हमारी रीढ़ (पृष्ठवंश) के नीचे के स्थान पर त्रिक-अस्थि है। इससे नीचे 'पुच्छास्थि' है। इन दोनों निचली अस्थियों के जोड़ पर बाँस की जड़ के समान एक नाड़ी-गुच्छक है। यह मूलाधार चक्र का स्थान है। इस नाड़ी-गुच्छक के मध्य में एक बहुत छोटा काले अंगूर के समान तिकोना उभार है। इस स्थान पर अनेक ज्ञानतन्तु और गतिवाहक तन्तु आकर मिलते हैं। इस त्रिकोण में तीन नाड़ियों का संयोग है। ये हैं—१. इडा नाड़ी। यह बाईं ओर है। २. पिंगला नाड़ी। यह त्रिकोण में दाहिनी ओर है। ३. सुषुम्ना नाड़ी। यह दोनों के मध्य में है। इस त्रिकोण वाले बिन्दु के स्थान पर एक बहुत सूक्ष्म अण्डाकार मांसपिंड है। उस मांसपिंड पर मकड़ी के जाल के तार की तरह अतिसूक्ष्म छोटी सी नाड़ी लिपटी है। यह साढ़े तीन वलय (घेरे) से युक्त सोई हुई सर्पिणी के तुल्य है। साढ़े तीन कुण्डल (वलय, घेरा) से युक्त होने के कारण इसको 'कुण्डलिनी' शक्ति कहते हैं। यह सोई हुई महान् शक्ति है। इसको जागृत करना ही 'कुण्डलिनी-जागरण' कहा जाता है।

इस त्रिकोण का सम्बन्ध सुषुम्ना से है। इसके बाईं ओर इडा नाड़ी (चन्द्र नाड़ी, गंगा, वाम नाड़ी) है। दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी (सूर्य नाड़ी, यमुना, दक्षिण नाड़ी) है। सुषुम्ना को सरस्वती भी कहते हैं। ये तीनों नाड़ियाँ मूलाधार से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड (पृष्ठवंश) के मध्य से ऊपर होती हुई भ्रूमध्य में जाकर मिलती हैं। अतः भ्रूमध्य को 'मुक्तत्रिवेणी' भी कहते हैं। कुण्डलिनी-जागरण होने पर कुण्डलिनी के प्रकाश से सारे चक्र खुल जाते हैं और वे खिले हुए चक्र ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे खिले हुए कमल।

चक्र और कमल में भेद है। शरीर में मूलाधार चक्र से लेकर सहस्रार चक्र (ब्रह्मरन्ध्र) तक सात चक्र हैं। जब कुण्डलिनी सुप्त रहती है, तब उनका नाम 'चक्र' होता है। कुण्डलिनी के जागने पर उनका नाम 'कमल' हो जाता है, क्योंकि ये चक्र कमल के तुल्य खिले हुए हो जाते हैं।

कुण्डलिनी का महत्त्व—मानव-शरीर में कुण्डलिनी एक दिव्य ज्योति है, सुप्त प्रकाश-पुंज है, आत्मशक्ति है और महाशक्ति-सम्पन्न एक दिव्य शक्ति है। इसके जागृत होने पर शरीर में असाधारण ज्ञानशक्ति, प्रतिभा, स्फूर्ति और दूर-दृष्टि आ जाती है, जिससे साधक अज्ञात बातों को अनायास जान लेता है। शरीर के अन्दर के क्रिया-कलाप और शरीर से बाहर बाह्यजगत् के गूढ़ रहस्यों को सरलता से जान लेता है। अज्ञात विषय भी सरलता से ज्ञात हो जाते हैं। साधक आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान और तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतएव कुण्डलिनी-जागरण पर इतना महत्त्व दिया गया है।

कुण्डलिनी-जागरण हेतु आवश्यक बातें—कुण्डलिनी-जागरण हेतु साधक को इन गुणों को अपनाना पड़ता है। जिनमें ये गुण नहीं हैं, उनकी कुण्डलिनी जागृत नहीं हो पाती है।

१. भोजन—सात्त्विक हो। साधक हितभुक्, मितभुक् और ऋतभुक् हो। वह थोड़ा और ईमानदारी से प्राप्त अन्न ही खावे।

२. विचार—सात्त्विक विचार हों। राग-द्वेष आदि का परित्याग करे।

३. दृढ़ निश्चय—सफलता प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प हो।

४. नियमित साधना—साधक साधना को नियमित रूप से करे। कई मास की साधना करने पर कुण्डलिनी जागृत होती है। अनियमित साधना निष्फल रहेगी।

५. काम, क्रोध आदि का त्याग—इस साधना में क्रोध, काम आदि का आवेश पड़ा विघ्न है, अत: इनसे सर्वथा बचें।

६. संयमी जीवन—जीवन संयमी होना चाहिए। प्रश्न उपनिषद् में कहा है कि इन गुणों से युक्त साधक ही इस साधना में सफल होते हैं—१. तपस्वी जीवन, २. ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना, ३. श्रद्धा, ४. ज्ञानवान् होना, स्वाध्यायशील होना, ५. आत्मा के अन्वेषण की उग्र इच्छा।

तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया, विद्यया, आत्मानम् अन्विष्य०। प्रश्न उप० १.१०

कठ उपनिषद् में संक्षेप में उन दोषों का उल्लेख किया गया है, जो सिद्धि में बाधक हैं। वे दोष हैं—१. असंयमी जीवन, २. अशान्त चित्त होना, ३. चित्त की एकाग्रता का न होना, ४. मन में शान्ति का न होना। इन दोषों को छोड़ने पर ही आत्मदर्शन होता है। ऋतंभरा प्रज्ञा के जागृत होने पर ही आत्मदर्शन सम्भव होता है।

नाविरतो दुश्चरिताद्, नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि, प्रज्ञानेनैनम् आप्नुयात्॥ कठ उप० १.२.२४

कुण्डलिनी-जागरण के दो रूप—कुण्डलिनी-जागरण दो प्रकार का होता है—१. प्राणोत्थान, २. प्रकाशमयी अवस्था की उत्पत्ति।

१. प्राणोत्थान—हठयोग आदि की विविध क्रियाओं के द्वारा इसमें केवल प्राण की ऊपर की ओर गति होती है। इसमें आन्तरिक प्रकाश नहीं होता है। मूलाधार में स्थित 'अपान-प्राण' या अपानशक्ति ध्यान आदि की ठोकरों से क्षुब्ध होकर सुषुम्ना मार्ग के द्वारा आज्ञाचक्र तक चली जाती है। इसमें नस-नाड़ियों में चींटियों के रेंगने जैसी गति होती है और कम्पन होता है। हाथ-पैर आदि में झटका अनुभव होता है। कभी-कभी कुछ शब्द, वीणा आदि की झंकार जैसी ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। यह तमोमय कुण्डलिनी-जागरण है। इसमें तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन नहीं होता। यह कुण्डलिनी-जागरण निरर्थक है।

२. प्रकाशमयी अवस्था—दूसरे प्रकार के कुण्डलिनी-जागरण में आत्म-ज्योति का प्रकाश होता है। वास्तविक कुण्डलिनी-जागरण यही है। यह सामान्यतया ध्यान की प्रबलता से होता है। इसके लिए किसी योग्य गुरु का आश्रय लेना आवश्यक होता है। गुरु की कृपा या गुरु के द्वारा शक्तिपात से यह कुण्डलिनी-जागरण होता है। कुछ पवित्र आत्माओं की कुण्डलिनी पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण जन्म से ही जागृत होती है। ये जन्म से ही असाधारण प्रतिभा वाले होते हैं, जैसे श्री शंकराचार्य आदि। सामान्यतया कुण्डलिनी-जागरण उग्र साधना के द्वारा ही होता है। ध्यान की तीव्रता और दृढ़-निश्चय के द्वारा यह प्रकाशमयी ज्योति उद्‌बुद्ध होती है। सामान्यतया सुषुम्ना नाड़ी का मुख बन्द रहता है। ध्यान की उग्रता के कारण कुण्डलिनी जागृत होती है और सुषुम्ना का द्वार खुल जाता है। यह कुण्डलिनी आत्म-ज्योति के रूप में मूलाधार चक्र से लेकर आज्ञाचक्र तक सभी चक्रों को दीपक के तुल्य जलाती हुई, उन्हें उद्‌बुद्ध करती हुई, आज्ञाचक्र में जाकर स्थिर हो जाती है। इसके जागृत होने पर सारे चक्र प्रज्वलित बल्बों के तुल्य देदीप्यमान हो जाते हैं। इस अवस्था में असाधारण प्रतिभा जागृत होती है, अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है, अपूर्व स्फूर्ति आती है और आत्मसाक्षात्कार होता है। यह कुण्डलिनी-जागरण आत्म-ज्योति का जागरण है। इसमें निरन्तर ज्योति की धारा प्रवाहित होती है।

यह आवश्यक नहीं है कि एक बार कुण्डलिनी-जागरण होने पर वह स्थायी रहे। यदि निरन्तर ध्यान आदि की क्रिया नहीं की जाएगी, या इसका दुरुपयोग किया जाएगा, या दुरभिमान आदि दोष उत्पन्न होंगे तो यह किसी भी अवस्था में समाप्त हो जाएगी। अतः कुण्डलिनी-जागरण के पश्चात् साधक को

अपनी दिनचर्या कठोरता से नियमित रखनी पड़ती है। ध्यान आदि का अभ्यास टूटने न पावे और न कोई अन्य अनियमितता हो।

कुण्डलिनी-जागरण की विधि—कुण्डलिनी-जागरण की विधि प्रायः गोपनीय है। यह किसी सिद्ध अनुभवी गुरु से सीखी जाती है। साधारणतया योग्य गुरु के द्वारा शक्तिपात से कुण्डलिनी जागृत होती है। परमात्मा की कृपा भी आवश्यक है। बिना उसकी कृपादृष्टि के कुण्डलिनी जागृत नहीं होती है। पवित्र और सात्त्विक भावना वालों की ही कुण्डलिनी जागृत होती है, अन्य की नहीं। सामान्य साधकों को कुण्डलिनी-जागरण की ओर विशेष ध्यान न देकर अन्य साधनाओं पर ध्यान देना चाहिए। कुण्डलिनी-जागरण में असावधानी या हठ के प्रयोग से हानि की सम्भावना अधिक रहती है, अतः इसके चक्कर में न पड़ना अधिक श्रेयस्कर है।

यहाँ कुछ उपयोगी निर्देश दिए जा रहे हैं।

१. सिद्धासन, वज्रासन, पद्मासन या स्वस्तिक आसन पर कहीं शान्त एकान्त स्थान पर बैठें। 'समपृष्ठशिरोग्रीवः' रहें। मूलबन्ध लगाकर खेचरी मुद्रा में बैठें। प्रातः कम से कम तीन घंटा ध्यान के लिए बैठें।

२. मस्त्रिका, कपालभाति और सूर्यभेदी प्राणायाम करें। तत्पश्चात् योनिमुद्रा करके खेचरी मुद्रा करें अर्थात् जिह्वा को ऊपर ले जाकर तालु के पास कण्ठ के छिद्र में लगावें और दाँतों को मिलाकर रखें।

३. श्वास को भरकर मूलाधार चक्र में ले जावें और वहाँ रोकें। वहीं मानसिक ध्वनि के साथ 'ओम्' का मन ही मन जप करें। ध्यान के समय यह भावना करें कि सुषुम्ना का द्वार खुल गया है और कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सुषुम्ना के द्वार से ऊपर की ओर जा रही है। चार या छः मास में मूलाधार चक्र में ध्यान जमने का अभ्यास पक्का होगा। इसके बाद अन्य चक्रों के भेदन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

४. पहले आज्ञाचक्र और सहस्रार-चक्र में ध्यान पक्का करने का अभ्यास करें। ये दो चक्र सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। इन चक्रों के खुलने पर अन्य चक्र स्वयं खुलने लगते हैं।

५. एक सरल विधि यह है कि मूलाधार चक्र, आज्ञाचक्र, ब्रह्मरन्ध्र या नासिका के अग्रभाग पर ध्यान एकाग्र करके 'ओम्' का मानसिक जप करें। श्वास सामान्य रूप से चलने दें। यह भावना करें कि 'ओ' के साथ श्वास अन्दर आ रहा है और 'अम्' के साथ बाहर जा रहा है। इसके निरन्तर अभ्यास से श्वास और प्रश्वास की गति रुक जाती है। इस प्रकार ब्रह्मरन्ध्र में प्राण को ४ या ५ घंटे रोकने का अभ्यास पक्का करें। तत्पश्चात् आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) में ध्यान को केन्द्रित करें।

इसके पक्का होने पर सामान्यतया कुण्डलिनी जागृत होने लगती है। इसके लिए हठ का प्रयोग करना उचित नहीं है। ईश्वरीय कृपादृष्टि पर छोड़ देना चाहिए।

अज्ञानी व्यक्ति से कुण्डलिनी-जागरण का प्रयोग कदापि न करें या करावें। इससे लाभ के स्थान पर हानि होने की अधिक सम्भावना रहती हैं। सिद्ध योगी आजकल प्रायः दुर्लभ हैं। जो हैं, वे अज्ञात स्थानों पर रहते हैं और वे साधक की कठोर परीक्षा करने के बाद ही शक्तिपात के लिए तैयार होते हैं। शक्तिपात साधारणतया योगी द्वारा साधक के लिए सिर पर हथेली रखकर या अँगुलियाँ रखकर किया जाता है।

कुण्डलिनी-शक्ति जागृत होने पर सुषुम्ना के द्वारा बिजली के तीव्र प्रवाह की तरह बीच के चक्रों को खोलते हुए, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्रों को भेदती हुई, आज्ञाचक्र तक जाती है और वहाँ इडा-पिंगला और सुषुम्ना का संगम होता है और वह वहीं आज्ञाचक्र में स्थिर हो जाती है। यहीं शिव के तृतीय नेत्र का स्थान है। यहाँ पहुँचते ही ज्ञान का आलोक प्रसारित होता है और साधक को दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। वह भूत, वर्तमान और भविष्य को देखने में समर्थ होता है। अज्ञात तत्त्वों को भी जान लेता है। असाधारण प्रतिभा जागृत हो जाती है।

कुण्डलिनी-जागरण अत्यन्त गोपनीय है। इसका प्रदर्शन, दुरुपयोग और प्रचार-प्रसार वर्जित है। ऐसा करने से यह शक्ति शीघ्र ही लुप्त हो जाती है।

चेतावनी—कुण्डलिनी-जागरण में कुछ असाधारण स्थिति होती है, अतः ये सावधानियाँ बरतें।

१. जैसे बिजली का करेंट (Current) लगने से शरीर में सनसनाहट, घबराहट होती है, कुण्डलिनी-जागरण में प्रायः वैसी ही स्थिति होती है, अतः भय का भाव न आने दें और धैर्य बनाए रखें।

२. कुण्डलिनी जागृत होने पर जब सुषुम्ना में प्रवेश करती है, उस समय उसकी पहली टक्कर मूलाधार चक्र पर लगती है। इससे मूत्रेन्द्रिय पर दबाव पड़ता है, अतः मूलबन्ध सावधानी से लगाए रहें।

३. कुण्डलिनी-जागरण के समय सूक्ष्म नाड़ियों और चक्रों आदि के प्रकाश अलौकिक एवं अतितीव्र होते हैं, कुछ अलौकिक शब्द भी होते हैं, उन्हें दर्शक की तरह देखें, भयभीत न हों, अन्यथा कुण्डलिनी नीचे लौट जाएगी।

४. कुण्डलिनी भृकुटि तक पहुँच कर वहाँ रुक जाती है। तब कोई भय नहीं है। तबतक सावधानी और धैर्य बनाए रखें। डरना, घबराना अशुभ एवं हानिकर है।

५. कुण्डलिनी के भृकुटि (आज्ञा चक्र) में पहुँच जाने पर शवासन करें और ध्यान लगावें। इससे प्राणों का प्रवाह कुण्डलिनी में खिंच जाएगा। इस समय मूलबन्ध लगाए रहें।

६. कुण्डलिनी-जागरण को स्थायी न समझें। जब तक नियमित ध्यान-साधना और वैराग्य की भावना है, तबतक वह स्थिर है। अभिमान, प्रदर्शन, नियम-भंग आदि होते ही वह शक्ति नष्ट हो जाएगी।

७. कुण्डलिनी दिव्य शक्ति है। इसका लोकहित, परोपकार एवं सदुपयोग होने पर यह स्थिर रहती है, अन्यथा विद्युत् की तरह लुप्त हो जाती है। इसकी सुरक्षा के लिए सदाचार, संयम, आहार-विहार में पवित्रता, काम-क्रोध आदि का परित्याग अनिवार्य है।

२. समाधि का अर्थ एवं स्वरूप

समाधि का अर्थ—समाधि शब्द सम् और आ उपसर्गपूर्वक धा धातु से बना है—सम् + आ + धा + कि (इ)। समाधि का अर्थ है—मन को विविध विक्षेपों से हटाकर किसी एक विषय पर एकाग्र करना।

सम्यग् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।

समाधि की प्रक्रिया प्रत्याहार से ही प्रारम्भ हो जाती है। प्रत्याहार में मन को अन्तर्मुखी बनाया जाता है। धारणा में किसी एक बिन्दु पर मन को एकाग्र किया जाता है। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए ध्यान में मन के संकल्प-विकल्पों पर अंकुश लगाया जाता है। उसकी स्वेच्छाचारिता को रोकने का अभ्यास किया जाता है। मन में कुछ स्थिरता आनी प्रारम्भ होती है। मन लगाने पर किसी विषय पर मन लग जाता है और फिर कुछ ध्यान बढ़ जाता है। मन पर संयम की मात्रा बढ़ जाती है। ध्यान की अगली सीढ़ी समाधि है। इसमें मन पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त होता है। मन में इतनी विरक्ति आ जाती है कि वह सुख-दुःख में भी विचलित नहीं होता। उसका केवल लक्ष्य होता है—आत्मा का दर्शन, उसका साक्षात्कार और उसका बोध। यह पूर्ण तन्मयता की स्थिति है।

समाधि का स्वरूप—समाधि उत्तरोत्तर विकसित होने वाली एक उच्च-स्तरीय सुदृढ़ मनोभूमि है, जिसमें अनियन्त्रित मन को धीरे-धीरे सधाया जाता है, उसे विषय-वासनाओं से मुक्त किया जाता है, उसे सुख-दुःख आदि के प्रति विरक्त बनाया जाता है, राग-द्वेष आदि दुर्गुणों से मुक्त किया जाता है, उसे सत्त्व-प्रधान बनाकर उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बनाया जाता है। इतनी सुदृढ़ नींव हो जाने पर आत्मा की बिखरी हुई अनन्त शक्तियों को तन्मयता के आधार पर धीरे-धीरे प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त की जाती है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वरीय शक्तियों का कहीं अन्त नहीं है। समुद्र में गोताखोर जितना गहरे तक गोता लगता है, उसी अनुपात से उसे मोती मिलते जाते हैं। अधिक गहरे तक जाने पर अधिक बहुमूल्य मोती मिलते हैं। इसी प्रकार समाधि में जितनी उच्चता प्राप्त हो जाएगी, उसी के अनुपात से दिव्य शक्तियाँ या विभूतियाँ मिलती जाएँगी। समाधि की उच्चता का कहीं अन्त नहीं है। एक से एक बड़े ऋषि, मुनि, योगी हुए हैं, जिन्होंने पूरा जीवन ही साधना में लगा दिया है। उन्हें उच्च साधना और समाधि में 'ऋतंभरा प्रज्ञा' प्राप्त होती है। ऋतंभरा वह प्रज्ञा है, जिसमें सर्वज्ञता की शक्ति छिपी रहती है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों एवं रहस्यों को जान सकती है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में होने वाली घटनाओं का साक्षात्कार कर सकती है। अतएव ऋग्वेद में ऋषि का कथन है कि मुझे परमात्मा के आशीर्वाद से 'ऋतंभरा प्रज्ञा' प्राप्त हुई है और मैं सूर्य के तुल्य तेजस्वी हो गया हूँ।

अहमिद् हि पितुष्परि, मेधामृतस्य जग्रभ।
अहं सूर्य इवाजनि॥ ऋग्० ८.६.१०

३. समाधि के विभिन्न रूप

१. समाधि के भेद और उपभेद

योगदर्शन ने समाधि को मुख्यरूप से दो भागों में बाँटा है और फिर इन दोनों भेदों के कुछ उपभेद किए हैं। ये संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(क) संप्रज्ञात समाधि (सबीज)	(ख) असंप्रज्ञात समाधि (निर्बीज)
१. सवितर्क (सविकल्प)	१. असंप्रज्ञात
२. निर्वितर्क (निर्विकल्प)	२. निर्बीज
३. सविचार	
४. निर्विचार	

१. सवितर्क (सविकल्प) समाधि

यह संप्रज्ञात समाधि की प्रथम अवस्था है। इसको सवितर्क, या सविकल्प कहते हैं। संप्रज्ञात समाधि के चारों भेदों में कोई आधार रहता है, अतः इन्हें संप्रज्ञात और सबीज समाधि कहा जाता है। इसकी मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

१. यह स्थूल-विषयक होती है। इसमें भौतिक स्थूल विषयों को आलम्बन या आधार बनाया जाता है। जैसे—सूर्य, चन्द्र आदि।

२. इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों संकीर्ण या मिश्रित रूप में रहते हैं। जैसे—सूर्य शब्द, सूर्यरूपी अर्थ, सूर्य का ज्ञान। इसमें शब्द अर्थ और ज्ञान का पृथक् बोध नहीं होता है।

३. इसमें ध्याता, ध्येय और ध्यान (ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान) का भेद बना रहता है। जैसे—

(क) (ध्यान या ज्ञाता) मैं सूर्य को देख रहा हूँ। इसमें 'ध्याता' या ज्ञाता 'मैं' का बोध है।

(ख) (ध्येय या ज्ञेय) इसमें वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है। इसमें 'ध्येय' या ज्ञेय सूर्य के आकार, प्रकार, रंग, रूप आदि का बोध होता है।

(ग) (ध्यान या ज्ञान) इसमें ध्यान या ज्ञान की प्रक्रिया होती है। सूर्य का ध्यान या सूर्य का ज्ञान, यह ज्ञान है।

इसमें वस्तु के स्वरूप के विषय में वितर्क या विकल्प आदि होते रहते हैं, अतः इसे सविकल्प या सवितर्क समाधि कहते हैं। इसमें सूर्य आदि स्थूल पदार्थ आलम्बन होते हैं। अतः यह सबीज समाधि है। इसमें मैं, वस्तु और ज्ञान (ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान) तीनों का मिश्रण रहता है। इसका अलम्बन कोई स्थूल वस्तु (सूर्य आदि) होती है।

शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा समापत्तिः। योग० १.४२

२. निर्वितर्क (निर्विकल्प) समाधि

इसको निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं। यह सवितर्क से आगे की स्थिति है। इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों में से केवल अर्थ (वस्तु) शेष रहता है। उसका ही ध्यान किया जाता है। जैसे—सूर्य के ध्यान में केवल सूर्य के रूपमात्र का ध्यान। इसमें शब्द और अर्थ में से शब्द को छोड़ दिया जाता है और केवल अर्थ को ग्रहण किया जाता है।

सामान्यतया शब्द और अर्थ मिश्रित रूप से स्मृति में रहते हैं। समाधि के द्वारा शब्द और अर्थ को पृथक् रूप में देखा जाता है। समाधि में स्मृति में परिष्कार हो जाने से शब्द और अर्थ की पृथक् सत्ता का बोध होने पर शब्द के बिना भी अर्थ (वस्तु) को देखा जा सकता है। इस अर्थमात्र के दर्शन को निर्वितर्क या निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। योग० १.४३

३. सविचार समाधि

यह संप्रज्ञात समाधि का तीसरा भेद है। पूर्वोक्त दो समाधियों से इसका भेद यह है कि यह इस समाधि का विषय स्थूल वस्तु न होकर सूक्ष्म विषय होता है। जैसे—मन, बुद्धि, अहंकार आदि। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये स्थूल विषय हैं। इनको बनाने वाले और इनके कारण 'तन्मात्राएँ' हैं। तन्मात्राएँ शब्द आदि के सूक्ष्म रूप हैं। ये पाँच हैं—शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-

तन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा। सविचार समाधि में इन सूक्ष्म तत्त्वों मन, बुद्धि, तन्मात्रा आदि के कार्य, व्यापार और स्वरूप आदि का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसमें रजोगुण की सहायता सत्त्वगुण करता है। यह समाधि प्रकृति तक पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान करा सकती है, इससे आगे नहीं। अर्थात् यह समाधि आत्मा के स्वरूप आदि के विषय में कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकती है।

सूक्ष्मविषयं चालिङ्गपर्यवसानम्। योग० १.४५

सवितर्क और निर्वितर्क समाधियों में रजोगुण प्रधान रहता है। सविचार समाधि में रजोगुण के साथ सत्त्व गुण भी मिश्रित रहता है। इसमें ब्रह्मरन्ध्र और हृदय-मण्डल अपने दिव्य स्वरूप को प्रकट करने लगते हैं। इसमें दिव्य रूप, रस, गन्ध आदि, दिव्य शब्द, दूर देशस्थ शब्दों आदि के दिव्य विषय भी प्रकट होने लगते हैं। ज्योतिर्मयी दिव्य इन्द्रियाँ दिव्य रूप, रस, शब्द आदि का प्रत्यक्ष कराती हैं। इस स्थिति में सभी तर्क-वितर्क आदि के विषय समाप्त हो जाते हैं।

४. निर्विचार समाधि

यह सविचार समाधि से उच्च स्थिति है। इसमें सत्त्व गुण की प्रधानता हो जाती है, अत: किसी प्रकार का कोई विचार स्थूल या सूक्ष्म उठने ही नहीं पाता। इसमें केवल 'यह है' इतना ही ज्ञान होता है। इसमें चित्त ध्येय के रूप में धारा-प्रवाह रूप से बहता रहता है, जिससे निरन्तर आनन्द की अनुभूति होती है। अतएव इसको 'आनन्दानुगत समाधि' भी कहते हैं। इसमें चित्त आत्मा में मग्न हो जाता है, अत: आनन्द का अनुभव करता है। मैत्रायणी उपनिषद् में इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस स्थिति में योगी के चित्त के सारे मैल नष्ट हो जाते हैं और चित्त आत्मतत्त्व में लीन हो जाता है। उस स्थिति का शब्दों के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है। वह आनन्द की स्थिति अवर्णनीय है। वह केवल स्वयं अनुभव के द्वारा ही ज्ञात की जा सकती है।

समाधि-निर्धूत-मलस्य चेतसो, निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

मैत्रा० उप० ४.९

इस निर्विचार समाधि का ही एक रूप है 'अस्मितानुगत समाधि'। इसमें योगी को 'अहम्' (मैं) या 'अहम् अस्मि' (मैं आत्मरूप हूँ) इस प्रकार का ज्ञान होता है।

ऋतंभरा प्रज्ञा—निर्विचार समाधि में ही योगी को 'ऋतंभरा प्रज्ञा' प्राप्त होती है। ऋतंभरा प्रज्ञा प्रतिभा का एक विशिष्ट रूप है। इसके प्राप्त होने पर सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है। योगी की बुद्धि प्रकाशमय हो जाती है।

इसमें सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान अनायास ग्रहण करने की क्षमता आ जाती है। ऋतंभरा प्रज्ञा से जो सूक्ष्म विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, उसमें किसी प्रकार की कोई त्रुटि या भूल-चूक होने की सम्भावना नहीं होती। इसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि के विषय में भी ज्ञान प्राप्त होता है। अज्ञात विषय स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं।

ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा। योग० १.४८

आत्मानन्द—योगदर्शन का कथन है कि निर्विचार समाधि की सिद्धि हो जाने पर आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाता है और आध्यात्मिक आनन्द की एक धारा बहने लगती है। योगी इस आत्मिक आनन्द की धारा में बहने लगता है और आनन्दमग्न हो जाता है।

निर्विचार-वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। योग० १.४७

निर्विचार समाधि में 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' अर्थात् प्रकृति जड़-तत्त्व है और पुरुष उसका नियामक चेतन तत्त्व है, यह 'विवेकख्याति' अर्थात् दोनों के भेद का स्पष्ट ज्ञान होने से योगी को आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्मदर्शन होता है।

इन सभी समाधियों में किसी न किसी रूप में 'चित्त' के अवलम्बन की आवश्यकता होती है, अतः इन्हें 'सबीज' और 'संप्रज्ञात समाधि' कहा जाता है।

धर्ममेघ समाधि—योगदर्शन में इस समाधि का उल्लेख है। यह निर्विचार-समाधि से कुछ उच्च कोटि की समाधि है। इसमें चित्त के आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। जब योगी 'विवेक-ख्याति' में भी कोई आसक्ति नहीं दिखाता और एकमात्र आत्मदर्शन को अपना लक्ष्य बनाए रखता है, तब आत्मदर्शनरूपी धर्ममेघ (बादल) के तुल्य आनन्द की वर्षा करता है, अतः इसे 'धर्ममेघ समाधि' कहते हैं।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

योग० ४.२९

५. असंप्रज्ञात समाधि

यह समाधि की सर्वोच्च स्थिति है। इसमें सत्त्व गुण चरम सीमा पर होता है। इसमें किसी आलम्बन या आश्रय की आवश्यकता नहीं होती है। अतः इसे 'निर्बीज समाधि' या 'असंप्रज्ञात समाधि' कहते हैं। इसमें चित्त के आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती। इसमें परम वैराग्य की स्थिति होती है। योगी को संसार की किसी वस्तु में माया-ममता नहीं रहती है। इसमें केवल शुद्ध संस्कार बचे रहते हैं।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। योग० १.१८

निर्बीज समाधि—यह असंप्रज्ञात समाधि की उच्चतम स्थिति है। इसमें संस्कारों का भी निरोध हो जाता है। केवल आत्मा का स्वरूप ही रहता है। इसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रहता है। योगी केवल आत्म-दर्शन में मग्न रहता है। सारी वृत्तियों के निरोध के कारण यह निर्बीज समाधि है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात् निर्बीजः समाधिः। योग० १.५१

योगदर्शन में समाधि के इन स्वरूपों का वर्णन किया गया है।

४. समाधि के ६ भेद

जैन-दर्शन में समाधि-विवेचन

पातंजल योगदर्शन के तुल्य ही जैन-दर्शन में भी समाधि विषय पर विस्तृत विवेचन हुआ है। साधकों के लिए उपयोगी होने के कारण इसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। जैन दर्शन में समाधि के ६ भेद किए गए हैं। ये हैं—

१. सामयिक समाधि—समत्व बुद्धि को पूर्णतया प्रतिष्ठित करना।

२. विनय समाधि—अहंभाव, राग-द्वेष, तनाव, अशान्ति को हटाना एवं पूर्ण समर्पण।

३. ज्ञान-समाधि—तटस्थ भाव जागृत करना। स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्राप्त करना।

४. तप समाधि—आन्तरिक तप। सूक्ष्म शरीर को सक्रिय बनाना।

५. दर्शन समाधि—निर्विकल्प समाधि। अभेद की स्थिति विकसित करना।

६. चारित्र समाधि—आध्यात्मिक प्राणायाम। कुंभक—आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाना और रेचक—अन्दर के संचय को खाली करना, वासनाओं को हटाना।

इनका ही संक्षिप्त विववरण यहाँ दिया जा रहा है।

१. सामयिक समाधि (समत्व बुद्धि)

सामयिक समाधि क्या है?—सामयिक समाधि का अर्थ है—जीवन में समत्व की भावना, समत्व बुद्धि या समभाव को प्रतिष्ठित करना। समभाव का अर्थ है—लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा, प्रसन्नता-विषाद आदि द्वन्द्वों में सम रहना। लाभ हो या हानि, उसमें मन को विचलित न होने देना, सुखी या दुःखी न होने देना, निर्लेप भाव से उसे देखना। जब मन पर सुख या दुःख का कोई प्रभाव न पड़े, तब समझना चाहिए कि यह सामयिक समाधि की स्थिति है।

साधना का उद्देश्य है—दोष या मल (कषाय) को दूर करना। दोषों में मुख्य हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। काम और क्रोध बड़े दुर्गुण हैं। मान-अपमान

की भावना मन को दूषित करती है। सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसना माया है। लोभ तृष्णा और असन्तोष को जन्म देता है, अत: दोष है। इन दुर्गुणों का त्याग करना साधना का उद्देश्य है। जब तक ये दोष दूर नहीं होंगे, तबतक साधना में विशेष प्रगति नहीं होगी। जब ये दोष कम हो जाएँ या नष्ट हो जाएँ, तो समझना चाहिए कि साधना ठीक दिशा में चल रही है। आध्यात्मिक साधना में विशेष ध्यान की बात है कि ये दोष दूर हों। तब सामयिक समाधि सिद्ध होती है।

सम्पूर्ण मानव-जीवन प्रकम्पनों या स्पन्दनों (Vibrations) का जीवन है। बाहरी जगत् में प्रतिक्षण प्रकम्पन उत्पन्न होते हैं। वस्तुओं के दर्शन, स्पर्श आदि से प्रकम्पन उत्पन्न होते हैं। बाह्य जगत् के तुल्य आन्तरिक जीवन में भी विभिन्न प्रकम्पन्न निरन्तर होते हैं। विचारों के उत्पन्न होने के साथ ही प्रकम्पन प्रारम्भ हो जाते हैं। इन प्रकम्पनों के साथ जब हमारा ध्यान जुड़ जाता है तो हमें सुख या दुःख की अनुभूति होती है। यदि इन प्रकम्पनों के साथ हमारा ध्यान न जुड़े तो न सुख की अनुभूति होगी और न दुःख की। जब हमारा ध्यान कहीं और होता है या हम अन्य-मनस्क होते हैं तो उस समय किसी प्रकार के सुख या दुःख की अनुभूति नहीं होती है।

प्रकम्पनों के साथ ध्यान का जुड़ जाना सविकल्प अवस्था है। सविकल्प अवस्था में सुख-दुःख, राग-द्वेष, अनुराग-विराग, आसक्ति-विरक्ति सभी कुछ होंगे। सामयिक समाधि के लिए निर्विकल्प अवस्था की आवश्यकता है। जब मन में कोई संकल्प-विकल्प न हो। मन सर्वथा विकल्प-हीन हो। इस अवस्था को प्राप्त करना ही समत्व बुद्धि की प्राप्ति है। समत्व बुद्धि और निर्विकल्प अवस्था दोनों का एक ही भाव है।

वास्तविकता यह है कि विकल्प के साथ ही अशान्ति भी उत्पन्न होती है। यदि विकल्प बढ़ते हैं तो अशान्ति भी बढ़ती है। जितने विकल्प बढ़ेंगे, उतनी ही अशान्ति बढ़ती जाएगी। जबतक विकल्प शान्त नहीं होंगे, तबतक शान्ति नहीं आएगी। इसलिए शान्ति के लिए आवश्यक है कि विकल्पों को शान्त किया जाए या उन्हें समूल नष्ट किया जाए। विकल्पों को मन से हटाना ही समत्व बुद्धि का विकास है। यह निर्विकल्प अवस्था है।

सामयिक समाधि का अर्थ है—प्रकम्पनों को रोक देना, समाप्त कर देना, बन्द कर देना या उत्पन्न न होने देना। यह समभाव है। प्रकम्पनों को दूर करने के लिए दो उपाय हैं—१. अवांछनीय प्रकम्पों को वांछनीय प्रकम्पों की शक्ति से रोक देना या समाप्त कर देना। वांछनीय प्रकम्पों को शक्तिशाली बनाइए और अवांछनीय प्रकम्पों को घुसने ही न दें या जो हैं उन्हें बाहर निकाल दें। २. समभाव की स्थिति

लाकर नए प्रकम्पों को उत्पन्न ही न होने दें। जब प्रकम्प नहीं उठेंगे तो लाभ-हानि, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा कुछ भी हो, उसका हमारे मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, न क्षोभ होगा और न अशान्ति। इसके लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. मन को शिथिल करना—मन को विकल्पों से खाली कर देना।

२. शरीर को शिथिल करना—शरीर को तनावों से मुक्त करना।

३. प्रकम्पनों को ग्रहण न करना—प्रकम्पनों को मन में स्थान न देना।

साधना में मूलभूत वस्तु शरीर है। शरीर की चंचलता छूटती है तो सब कुछ ठीक हो जाता है। शरीर जितना स्थिर और शान्त होगा, उतनी ही अधिक सामयिक समाधि में शरीर की स्थिरता, वाणी की स्थिरता और मन का खाली होना आवश्यक है। जब ये तीनों बातें होंगी तभी सामयिक समाधि सिद्ध होती है।

सामयिक समाधि को सिद्ध करने के मुख्य रूप से दो उपाय हैं—

१. क्रिया—क्रिया का अर्थ है—एकाग्रता या स्थिरता। तीन घंटे तक एक विषय पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास हो जाने पर एकाग्रता की सिद्धि मानी जाती है। पहले आधा घंटा किसी विषय पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करें। फिर अभ्यास बढ़ाकर एक घंटा पर आइए, फिर डेढ़ घंटा, दो घंटा और ढाई घंटा पर आइए। इस प्रकार अभ्यास बढ़ाकर तीन घंटे पर आ जाइए। जब तीन घंटा एक विषय पर ध्यान एकाग्र हो जाए, तब यह समाधि सिद्ध मानी जाती है। एक घंटा एकाग्रता का अभ्यास हो जाने पर आगे अभ्यास सरलता से बढ़ता है। यह कठोर साधना से ही सम्भव है।

२. जप—पूर्ववत् कोई मंत्र (ओम् या गायत्री मंत्र) आधा घंटा से प्रारम्भ करके तीन घंटे तक एकाग्र मन होकर जपने का अभ्यास करें। तीन घंटे की एकाग्रता सिद्धि मानी जाती है।

गीता में समत्व योग—गीता में अनेक स्थलों पर समत्व योग का उल्लेख है। जैन दर्शन की सामयिक (समत्व बुद्धि) समाधि इसका ही प्रकारान्तर है। गीता में समत्व योग के विषय में उल्लेख है कि मनुष्य निष्काम भावना से कर्म करे। सफलता हो या असफलता, दोनों को समान समझे। यह समत्व योग है। सर्दी, गर्मी, मान और अपमान को समान समझे। वह निर्विकार होकर रहे। वह सुख में प्रसन्न न हो और दुःख में दुःखित न हो। न शोक करे और न कुछ कामना करे। शुभ-अशुभ को समान समझे। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख में समबुद्धि रखे। निन्दा और प्रशंसा को समान समझे, जो कुछ मिल जाए उससे सन्तुष्ट रहे। जिन्होंने समत्व योग सिद्ध कर लिया है, उन्होंने वस्तुतः संसार पर विजय प्राप्त कर लीं है।

(क) सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते। गीता २.४८

(ख) यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति॥ १७
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥ १८
तुल्यनिन्दा-स्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्॥
गीता १२.१७ से १९

(ग) इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः॥ गीता ५.१९

२. विनय समाधि

विनय समाधि क्या है?—विनय समाधि का अभिप्राय है—जीवन में विनम्रता लाना, सुशीलता को लाना, हृदय में सात्त्विक गुणों को लाना। साथ ही विनय का अर्थ है—वि + नयनम्, दूर करना, हटाना, निकालना। किनको हटाना है? अहंभाव को, अहंकार को, ईर्ष्या-द्वेष को, राग-द्वेष की भावना को, तनाव को, अशान्ति को, क्रोध-लोभ-माया-मान-अपमान की भावना को। अहंकार आदि को हटाना कोई सरल कार्य नहीं है। इसकें लिए बहुत बड़ी साधना करनी पड़ती है। वर्षों के निरन्तर अभ्यास से यह साधना पूर्ण हो पाती है। इस कठोर साधना को ही विनय समाधि कहते हैं।

अहं की भावना को हटाना—अहं, अहंभाव या अहंकार साधना का सबसे बड़ा शत्रु है। यह शत्रु जबतक हृदय में निवास करेगा, तबतक कोई साधना पूर्ण नहीं होगी। अहं द्वैत-बुद्धि को बढ़ाता है, अभिमान को बढ़ाता है, राग-द्वेष को बढ़ाता है और विवेक को नष्ट करता है। यदि विवेक नहीं है, विचारशीलता नहीं है तो समाधि या साधना कैसे सफल होगी? अहं को हटाने का एकमात्र उपाय है—विवेक। विवेक का अर्थ है—विवेचन, विश्लेषण, चिन्तन, हित और अहित का विवेचन करके अहित को छोड़ना और हितकर को अपनाना। गेहूँ या चावल में से अग्राह्य कंकड़ आदि कूड़े को निकालना विवेक है। अहं साधना और समाधि का शत्रु है, अतः उसे हृदय से निकालना विनय समाधि है। अहं को निकाल देने से हृदय शुद्ध हो जाता है। उसमें कटुता नहीं रहती। वह **'बालादपि सुभाषितम्'** वह बालक की भी हितकर बात ग्रहण कर लेता है। हृदय की शुद्धता भूपरिष्कार है। परिष्कृत या शोधित भूमि में कोई भी साधना का उत्तम बीज बोया जा सकता है।

राग-द्वेष से अशान्ति—राग-द्वेष अशान्ति के कारण हैं। प्रिय के प्रति राग (अनुराग, प्रेम) होता है और अप्रिय के प्रति द्वेष (घृणा, क्रोध आदि)। जैसे—धन के प्रति राग से माया और ममता की भावना जागृत होगी और उससे लोभ के भाव जागृत होंगे। लोभ के कारण आसक्ति एवं वृद्धि की कामना होगी। यह वृद्धि

की कामना बढ़ते हुए जीवन में अशान्ति और असन्तोष को जन्म देती है। इससे व्यक्ति बन्धन में पड़ता है। इसी प्रकार द्वेष की भावना से शत्रु का अहित-चिन्तन और उसके प्रति क्रोध की भावना जागृत होगी। यह क्रोध की भावना मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देती है। चाहे राग हो या द्वेष, दोनों ही साधना के मार्ग में बड़े विघ्न हैं। इन दोनों को हृदय से निकालना विनय समाधि है।

मन को आग्रह से मुक्त करना—मन में किसी प्रकार का पूर्वाग्रह या दुराग्रह स्वतन्त्र विचारों के आने में बाधा डालता है। वह दूसरे की अच्छी बात को भी स्वीकार करने में बाधा पहुँचाता है। मन को जितना आग्रह या पूर्वाग्रह से मुक्त रखेंगे, उतना ही वह स्वच्छ और शुद्ध होगा। उतनी ही उसमें ग्रहण-शक्ति तीव्र होगी। वह गुरु आदि के अनुशासन को उतनी ही शीघ्रता से ग्रहण कर सकेगा।

समर्पण की भावना—मनुष्य में अहं की भावना जिस समय निकल जाती है, उस समय उसका हृदय शुद्ध और निर्विकार हो जाता है। वह गुरु के प्रति समर्पित हो जाता है। गुरु के उपदेश, अनुशासन आदि को सच्चे हृदय से स्वीकार करता है। यह है साधना में प्रगति का मार्ग। यह समर्पण की भावना उसे समाधि के लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ होती है।

विनम्रता या लाघव—जीवन में विनय या विनम्रता को प्रतिष्ठित करना बहुत बड़ी साधना है। इससे जीवन में लघुता या हलकापन अनुभव होता है। उसे कोई भी बालक या सामान्य व्यक्ति कोई हित की बात कहता है तो वह तुरन्त उसे स्वीकार कर लेता है। उसके मन में अहं या गुरुता (भारीपन) नहीं है, अतः कोई भी हितकर बात स्वीकार करने में उसे कोई उलझन नहीं आती है। विनम्रता, लघुता या लाघव का भाव साधक के मन और बुद्धि को स्वस्थ एवं स्वच्छ रखने में बहुत सहायक होता है।

श्वास की मन्दता—श्वास की मन्दता से अभिप्राय है श्वास की मात्रा कम करना। साधारणतया एक व्यक्ति एक मिनट में १५ या १६ श्वास लेता है। क्रोध आते ही श्वास की गति तीव्र हो जाती है और वह प्रति मिनट २०-२५ हो जाती है। किसी प्रकार का आवेश या वासना का भाव आते ही श्वास की मात्रा बढ़ जाती है। अत्यन्त शान्त अवस्था में श्वास की गति मन्द हो जाती है। साधना के लिए आवश्यक है कि श्वास की गति मन्द हो। हम श्वास की गति को जितना मन्द करेंगे, उतनी ही साधना विकसित होगी। श्वास को मन्द करने के लिए निरन्तर अभ्यास अपेक्षित है। प्राणायाम से श्वास की मात्रा कम होती है। पहले प्रयत्न करें कि एक मिनट में १० श्वास ही लें। एक-दो मास के प्रयत्न से यह संभव हो सकेगा। धीरे-धीरे एक मिनट में ८, फिर ६ और फिर ४ श्वास पर आ जाइए। इसमें एक वर्ष लगेगा। जितनी श्वास की मात्रा कम होती जाएगी,

उतनी ही साधना में सफलता मिलती जाएगी। क्रोध आदि के आवेश स्वयं समाप्त हो जाएँगे। इस प्रकार विनय समाधि में आपको सफलता मिलेगी।

गीता में विनय समाधि—गीता में विनय को बुहत आदरणीय स्थान दिया गया है। अतएव गीता में विद्या के साथ विनय का होना आवश्यक बताया गया है। विद्वान् व्यक्ति ज्ञानी होने के साथ ही विनीत या विनम्र होना चाहिए।

विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे०। गीता ५.१८

गीता में अनेक स्थानों पर अहंकार को दोष बताते हुए इसे समाधि में विघ्न माना गया है और साधक के लिए आवश्यक बताया गया है कि वह अहंभाव या अहंकार को सर्वथा छोड़ दे। साधक के लिए कहा गया है कि ममता, अहंकार को छोड़ दे, सुख-दुःख में समबुद्धि रहे, क्षमाशील हो। वह आसक्ति और अहंकार को छोड़ दे, सदा धैर्य और उत्साहयुक्त हो, सफलता-असफलता को समान समझे।

(क) निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः॥ गीता १२.१३

(ख) मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः, कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
गीता १८.२६

३. ज्ञान-समाधि

ज्ञान-समाधि क्या है?—ज्ञान-समाधि गीता का स्थिरप्रज्ञ या स्थितधी है। जब ज्ञान केवल ज्ञान के रूप में रहे। उसमें किसी प्रकार के अन्य ज्ञान या भाव का संमिश्रण न हो, तब उसे ज्ञान-समाधि कहते हैं। यह समाधि सबसे सरल है और सबसे कठिन है। यदि आपमें अनासक्ति की भावना है, निष्काम भाव है तो यह समाधि सबसे सरल है। यदि आपमें कुछ भी राग-द्वेष की भावना है, ईर्ष्या या द्वेष की भावना है तो यह ज्ञान-समाधि अत्यन्त कठिन है। इस समाधि के लिए आवश्यक है कि आप प्रत्येक ज्ञान को, विज्ञान को, केवल साक्षी रूप में देखें, द्रष्टा या दर्शक के रूप में देखें, तटस्थ भाव से देखें, उसमें अपना राग-द्वेष आदि मिश्रित न होने दें। जब ज्ञान में किसी प्रकार की कोई संवेदना राग-द्वेष आदि जुड़ जाता है तो वह ज्ञान शुद्ध ज्ञान न रहकर अज्ञान हो जाता है और सांसारिक बन्धन का कारण हो जाता है। अतएव योगसार का कथन है कि जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में ज्ञान होना सत्य है, ज्ञान है, वस्तु का यथार्थ बोध है। जब उसमें राग-द्वेष, मद-क्रोध आदि कोई भी संवेदन मिश्रित हो जाता है तो वह ज्ञान मिश्रित होकर संवेदना बन जाता है। संवेदना ज्ञान का दूषित या अशुद्ध रूप हैं।

यथावस्तु परिज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते।
राग-द्वेष-मद-क्रोधैः, सहितं वेदनं पुनः ॥ योगसार

तटस्थ भाव या साक्षीभाव ज्ञानसमाधि है—तटस्थ भाव को ही द्रष्टाभाव, दर्शक भाव, साक्षीभाव या अनासक्त भाव कहते हैं। तटस्थ भाव का अभिप्राय है कि जो भी घटना घटित होती है, उसमें हम अपने भाव या राग-द्वेष आदि को मिश्रित नहीं होने दें। वह घटना एक घटना है, वह ज्ञान एक ज्ञान है, हम केवल दर्शक हैं, साक्षी हैं। उस घटना या ज्ञान में हमारी कोई आसक्ति नहीं है।

द्रष्टाभाव या साक्षीभाव ज्ञान-समाधि का स्वरूप है। यह साधारण साधना नहीं है। सामान्य स्थिति में किसी भी घटना का मन पर प्रभाव पड़ता है। वह सुखात्मक, दुःखात्मक, रागात्मक, द्वेषात्मक या किसी अन्य भाव से मिश्रित हो सकती है। हम सुख और दुःख में निर्विकार रहें, प्रिय और अप्रिय में मन में कोई विकार न आने दें, यह कठोर साधना से ही सम्भव है। ज्ञान-समाधि में यह साक्षीभाव या अनासक्ति की भावना विकसित करने की आवश्यकता होती है।

ज्ञानसमाधि का क्रम—ज्ञान-समाधि में सामान्यतया यह क्रम होता है—

१. विशुद्ध ज्ञान का होना। पहले केवल ज्ञान होता है।

२. चित्त की एकाग्रता। चित्त में चंचलता का न होना।

३. स्थितप्रज्ञता। केवल सत्य की प्रतिष्ठा, राग-द्वेष आदि का अभाव।

४. स्थितप्रज्ञता का प्रसार। अन्यों को भी स्थितप्रज्ञ होने की प्रेरणा देना।

ज्ञान-समाधि की सफलता के लिए इन चार बातों का अभ्यास करना होता है।

ज्ञानकेन्द्र और कामकेन्द्र—शरीर का ऊपरी भाग अर्थात् मस्तिष्क ज्ञान का केन्द्र है। यहीं पर सूक्ष्म शरीर का निवास है। यहाँ पर ही विज्ञानमय कोश है। गले से नीचे के भाग में मेरुरज्जु, पृष्ठरज्जु या कटिभाग है। यह काम का केन्द्र है। यहाँ चंचलता, वासनाएँ, क्षोभ आदि विद्यमान हैं। जब ज्ञान की धारा ऊपर से नीचे की ओर आती है तो उस समय चंचलता, वासनाएँ, काम-भावना, क्षोभ आदि उसमें मिश्रित हो जाते हैं और मन में चंचलता आदि दोष आ जाते हैं। इसके विपरीत जब कामकेन्द्र की ऊर्जा को ऊपर की ओर या ज्ञान-केन्द्र की ओर ले जाते हैं तो उसमें स्थिरता आ जाती है। असंयम संयम में बदल जाता है। राग-द्वेष, मद-मोह, क्षोभ आदि समाप्त हो जाते हैं। उस समय साधक स्थिर-बुद्धि या स्थितप्रज्ञ हो जाता है। मस्तिष्क ज्ञान का केन्द्र है और पृष्ठवंश या मेरुरज्जु वासना का स्थान है। ज्ञान-समाधि में मेरुरज्जु की ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है।

बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी वृत्ति—बहिर्मुखी वृत्ति में हमारा ज्ञान बाहर की ओर रहता है। बाह्य विषयों में मन रमता है। राग-द्वेष आदि के भाव बढ़ते हैं। इसके विपरीत अन्तर्मुखी वृत्ति होने पर मन विषय-वासनाओं से विमुख होता है, राग-द्वेष से मुक्त होता है। उस समय चित्तवृत्ति ज्ञान की ओर अग्रसर होती है। मन में एकाग्रता आती है। संयम की भावना जागृत होती है। इस संयम का फल होता है कि साधक राग-द्वेष से मुक्त होता है, आसक्ति नष्ट हो जाती है और वह अनासक्त हो जाता है। इस स्थिति में ज्ञानसमाधि का मार्ग प्रशस्त होता है।

सत्य और संयम—ज्ञान-समाधि में शुद्ध सत्य को अपनाना होता है। शुद्ध सत्य को अपनाने में राग-द्वेष का भाव नाममात्र को भी नहीं आना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि साधक में संयम या चरित्र का बल हो। जिसमें संयम या चरित्र का बल नहीं है, वह पूर्णतया तटस्थ नहीं हो सकता। ज्ञान-समाधि में तटस्थता अपेक्षित है। संयम के अभाव में राग-द्वेष आदि की भावना प्रवेश कर जाती है और वहाँ तटस्थता न रहकर पक्षपात आदि की संभावना बढ़ जाती है। अतएव ज्ञानसमाधि में शुद्ध सत्य-स्वरूप को अपनाने के लिए संयम या चरित्र गुण का समन्वय अभीष्ट है।

गीता में ज्ञान-समाधि—गीता में ज्ञान-समाधि का उल्लेख ज्ञानयोग नाम से किया गया है। गीता का कथन है कि ज्ञान के तुल्य पवित्र संसार में कोई भी वस्तु नहीं है। यह ज्ञानरूपी अग्नि मनुष्य के सारे राग-द्वेष-रूपी कर्मों को नष्ट कर देती है। राग-द्वेष-रूपी अज्ञान से ज्ञान ढक जाता है, अतः मनुष्य लोभ-मोह आदि से ग्रस्त हो जाता है। जो इस अज्ञानरूपी आवरण को नष्ट कर देते हैं, उनका ज्ञान सूर्यवत् तेजोमय होकर प्रकाशित होता है।

(क) **नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।** गीता ४.३८
(ख) **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।** गीता ४.३७
(ग) **अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।** गीता ५.१५
(घ) **ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।**
तेषामादित्यवत् ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ गीता ५.१६

जो दुःख में दुःखित नहीं होता और सुख में अनासक्त रहता है तथा राग-द्वेष भय क्रोध आदि से मुक्त है, वही स्थिरप्रज्ञ होता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ गीता २.५६

जो एकाग्रभाव से केवल ज्ञान की चिन्ता करता हुआ भक्ति में लगा रहता है, ऐसा ज्ञानी पुरुष ही परमात्मा को प्रिय होता है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते गीता ७.१७

४. तप समाधि

तप समाधि क्या है?—तप का अर्थ है—ताप, तपाना, ऊष्मा उत्पन्न करना, शोषण या सुखाना, शुद्ध करना। सुवर्ण (सोना) को शुद्ध करने के लिए अग्नि में तपाया जाता है। तपाने से उसका मल या दोष जल जाता है और सुवर्ण निर्मल शुद्ध या परिष्कृत हो जाता है, उसका मूल्य बढ़ जाता है। इसी प्रकार शरीर को शुद्ध करने की पूरी प्रक्रिया को तप कहते हैं। तप भी दो प्रकार का है—

१. बाह्य तप—बाहरी तप। यह केवल स्थूल शरीर को शुद्ध करने की प्रक्रिया है।

२. आन्तरिक तप—अन्त:करण को शुद्ध करना। यह सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर या कर्मशरीर को शुद्ध करने की प्रक्रिया है। इसमें मन, बुद्धि और चित्त को शुद्ध करने का प्रयास किया जाता है। वास्तविक साधना आन्तरिक तप है। आन्तरिक तप को ही तप समाधि कहते हैं।

तीन शरीर—दार्शनिक और योग की दृष्टि से यह मानव शरीर तीन शरीरों का समन्वित रूप है। ये तीन शरीर हैं—

१. स्थूल शरीर—स्थूल दीखने वाला यह शरीर। इसमें ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं। इसमें अन्नमय और प्राणमय कोश है।

२. सूक्ष्म शरीर—इसको प्राण शरीर, विद्युत् शरीर, तैजस शरीर और ऊर्जा शरीर कहते हैं। वह स्थूल शरीर को शक्ति, ऊर्जा और प्रेरणा देता है। इसमें मनोमय और विज्ञानमय कोश हैं। जैन आचार्य इसमें आनन्दमय कोश की भी सत्ता मानते हैं।

३. कारण शरीर—जैन आचार्यों के अनुसार इसे कर्म-शरीर, वासना शरीर, कार्मण शरीर भी कहते हैं। यह स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों को शक्ति देता है। शक्ति का मूल स्रोत यही है। इसमें विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश और शक्ति का कोश भी है।

हठयोग और राजयोग—इन तीनों शरीरों को शुद्ध करने के लिए ही योग-शास्त्र की विधि प्रारम्भ हुई है। योगशास्त्र में दो विधियाँ हैं—१. हठयोग, २. राजयोग। हठयोग मुख्य रूप से स्थूल शरीर को शुद्ध करने की विधि है। इसमें स्थूल शरीर को प्रभावित किया जाता है। स्थूल शरीर में प्रकम्पन्न पैदा करके सूक्ष्म शरीर को सक्रिय बनाया जाता है। राजयोग स्थूल शरीर पर विशेष ध्यान न देकर सूक्ष्म शरीर को शुद्ध करने की प्रक्रिया है। इसमें सूक्ष्म शरीर में प्रकम्पन्न उत्पन्न किया जाता है और उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर को सक्रिय बनाया जाता है। जैन आचार्य दोनों विधियों को मान्यता देते हैं। उनका कथन है कि साधक रुचिभेद के

कारण कोई हठयोग को अपनाते हैं, कोई राजयोग को। इसी प्रकार साधना के लिए तप-मार्ग भी है और ध्यान-मार्ग भी। किसी को तप-मार्ग रुचिकर है और किसी को ध्यान-मार्ग। इसलिए दोनों मार्गों को मान्यता दी गई है। लक्ष्य एक है, मार्ग दो हैं। जिसको जो मार्ग रुचिकर हो, वह उसको अपनावे। किसी एक के लिए बाध्यता नहीं है।

बाह्यतप और आन्तरिक तप—बाह्य तप और आन्तरिक तप या आभ्यन्तर तप में साधना की दो पृथक् विधियाँ हैं। इनकी प्रक्रिया भिन्न है और फल भी भिन्न है।

बाह्य तप

इसका सम्बन्ध बाहरी सामग्री से है, अत: इसे बाह्य तप कहते हैं। इसमें शरीर के बाहरी अंगों हाथ-पाँव आदि को तपाया जाता है। उन्हें कष्ट दिया जाता है। जैसे—एक हाथ ऊपर करके बहुत समय तक रुकना, शीतल जल में या तालाब आदि में घंटों खड़े रहना। इसमें शरीर के विभिन्न अंगों को तपाया जाता है। आसन और प्राणायाम में शरीर के विभिन्न अंगों की सक्रियता बढ़ाकर उनको हृष्ट-पुष्ट किया जाता है। प्राणायाम से फेफड़ों की शुद्धि, पाचन-संस्थान और रक्त-संस्थान को सक्रिय बनाना आदि कार्य बाह्य तप में आते हैं। बाह्य तप में तीन बातें मुख्य रूप से प्राप्त होती हैं। ये हैं—

१. उपवास आदि के द्वारा भोजन को सर्वथा बन्द कर देना या कम कर देना।

२. शरीर में विशेष रूप से हलचल उत्पन्न करना, जिससे शरीर के विभिन्न अवयव सक्रिय हो जाएँ, वे अपना संकुचन छोड़कर विकसित हो जाएँ और खुल जाएँ।

३. निरोध मार्ग को अपनाना। अप्रिय शब्द सुनकर कान बन्द कर लेना। अप्रिय वस्तु को देखकर आँख बन्द कर लेना। प्राप्त विषय पर राग-द्वेष की भावना को रोककर रखना। असंयम की भावना को बलात् रोककर रखना। विवेक से मन और इन्द्रियों को विषयों के प्रति आसक्ति को रोकना।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि बाह्य तप का प्रभाव केवल स्थूल शरीर पर ही नहीं पड़ता है, अपितु स्थूल शरीर पर तो साक्षात् प्रभाव पड़ता है, तैजस और कर्म शरीर पर असाक्षात् रूप से प्रभाव पड़ता है। प्राणायाम से प्राणों की पुष्टि होती है, इससे तैजस शरीर पर भी प्रभाव पड़ा। विवेक से राग-द्वेष का भाव रोका तो इसका प्रभाव अन्ततः कर्म-शरीर या संस्कार-शरीर पर पड़ा। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं।

आन्तरिक तप

आन्तरिक तप और बाह्य तप में अन्तर यह है कि जो साधना शरीर या बाहरी स्तर पर की जाती है, वह बाह्य तप है। जो साधना मानसिक स्तर पर की जाती है, वह आन्तरिक तप है। तप समाधि में आन्तरिक साधना ही अभीष्ट है। आन्तरिक साधना में मन को तपाना होता है, शुद्ध करना होता है। मन में विद्यमान सभी राग-द्वेष आदि के भावों को समाप्त करना होता है। साथ ही बुद्धि को निर्मल बनाना होता है, बुद्धि के कु-संस्कारों को हटाना होता है, बुद्धि में विद्यमान मान-अपमान, हर्ष-शोक आदि भावों को हटाना होता है। इसके साथ ही कारण शरीर या कर्म-शरीर को भी तपाना अभीष्ट है। कर्म-शरीर वासना-शरीर है। हमारे पूर्व कर्मों से जो संस्कार या वासनाएँ बनती हैं, उनको क्षीण करना या नष्ट करना ही कर्म-शरीर को तपाना है। कर्म-शरीर पर प्रभाव डालना, उसमें वासनाओं या संस्कारों को नष्ट करना वास्तविक आन्तरिक तप है। इस प्रकार आन्तरिक तप का अभिप्राय है—मन, बुद्धि और चित्त को शुद्ध करना, उनके मल को दूर करना। आन्तरिक तप सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर या तैजस शरीर और कर्म-शरीर को तपाकर शुद्ध करने की प्रक्रिया है। इससे मानस शरीर और बौद्धिक शरीर का विकास होता है। मन और बुद्धि की क्षमता बढ़ती है, उनमें चैतन्य की मात्रा अधिक आ जाती है, जिससे इच्छाशक्ति (Will-power) मनोबल और आत्मबल में अद्‌भुत सामर्थ्य आ जाती है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि बाह्य तप और आन्तरिक तप दोनों सर्वथा पृथक् नहीं हैं। जैसे केला और उसका छिलका। केला कटेगा तो ऊपर और अन्दर दोनों कटेगा। दोनों तप एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। बाह्य तप का भी प्रभाव कर्मशरीर तक पहुँचता है, आन्तरिक तप का भी। बाह्य तप का प्रभाव कर्मशरीर पर बहुत कम मात्रा में पहुँचता है, आन्तरिक तप का प्रभाव बहुत अधिक पहुँचता है। आन्तरिक तप मन, बुद्धि और चित्त को बहुत अधिक प्रभावित करता है, अतः उसे बहुत अधिक प्रमुखता दी गई है। साधना की दृष्टि से आन्तरिक तप की साधना अधिक कठिन है। मन को सधाना ऐसा ही कठिन है, जैसे बिगड़े हुए घोड़े या बन्दर को सधाकर नियन्त्रित करना।

प्रायश्चित्त—प्रायश्चित्त भी आन्तरिक तप का एक अंग है। प्रायश्चित्त का अर्थ है—**चित्तस्य शोधनं प्रायश्चित्तम्।** प्रायश्चित्त में प्रायः शब्द का अर्थ है—शोधन, निर्मल करना। प्रायश्चित्त मन को निर्मल बनाने की प्रक्रिया है। अपने दोषों को स्वीकार करना, भूलों को स्वीकार करना, ज्ञान या अज्ञान भाव से किए गए दोषों दुर्गुणों या दुराचरण को प्रकट करके उन्हें पुनः न करने की शपथ लेना, किसी प्रकार के दुर्भाव को छिपाकर न रखना, यह सब प्रायश्चित्त के अन्दर

आता है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सक रोगी से कहता है—कुछ छिपाओ नहीं। वह रोगी की पूरी बात सुनकर रोग के असली कारण को पकड़ पाता है। दुर्भाव एवं दुर्विचार भी मनुष्य के अन्दर कुसंस्कार की गांठ बनाते जाते हैं। इनको खोलने पर ही मन और चित्त निर्मल होते हैं। प्रायश्चित्त भी इन कुसंस्कारों की ग्रन्थियों को खोलने की एक प्रक्रिया है। यह मन और चित्त को निर्मल बनाती है। अतएव प्रायश्चित्त को आन्तरिक तप माना जाता है।

आन्तरिक तप के ६ अंग—आन्तरिक तप या आन्तरिक साधना में ६ बातों को करना आवश्यक बताया गया है। ये हैं—

१. प्रायश्चित्त—मन को निर्मल बनाने के लिए अपने दोषों एवं दुर्गुणों को प्रकट करना प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त से कु-संस्कारों एवं वासनाओं की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। इससे मन और चित्त निर्मल हो जाते हैं।

२. अहंभाव को छोड़ना—अहंभाव या अहंकार को छोड़ना विनय या विनम्रता है। अहंभाव साधक के दृष्टिकोण को दूषित कर देता है। अहंभाव छोड़ देने से हृदय में पवित्रता, स्वभाव में ऋजुता, आचरण में शिष्टता और दृष्टिकोण में शुचिता आती है।

३. अभेद-बुद्धि का स्थापना—अभिन्नता या तादात्म्य की स्थापना करना चित्त की विशालता का परिचायक है। तादात्म्य के लिए दार्शनिक शब्द 'वैयावृत्त्य' है। यह व्यावृत्ति शब्द से बना है। इसका अभिप्राय है—द्वैत बुद्धि या भिन्नता की भावना को हटाना, व्यावृत्त करना। जब तक द्वैत बुद्धि रहती है, तब तक स्वार्थ-भावना प्रबल रहती है। अभेद-बुद्धि आने पर परार्थ की भावना जागृत होती है। परोपकार के कार्य परार्थ की भावना जागृत होने पर होते हैं। इनमें मुख्य हैं—सेवा का भाव, निर्धनों-दीनों का हित करना, दीन-दुःखितों की सहायता करना, समाज की सेवा, समाज से एकत्व की अनुभूति करना, सामाजिक सेवा, समाज से तादात्म्य, एकत्व और समत्व की सूचक है। यह तादात्म्य या एकत्व की अनुभूति हृदय को विशाल बनाती है। हृदय की विशालता वास्तविक रूप में आन्तरिक तप है।

४. स्वाध्याय—स्वाध्याय भी आन्तरिक तप है। स्वाध्याय का अर्थ है—स्व-आत्मा, अध्याय-अध्ययन। आत्म-चिन्तन, आत्मदर्शन से संबद्ध ग्रन्थों का पढ़ना। इससे मानसिक विकास होता है। इससे तत्त्व-विचार करने की बुद्धि जागृत होती है। स्वाध्याय का अर्थ है—तत्त्वविचार के द्वारा सत्य का ज्ञान प्राप्त करना, आत्मज्ञान प्राप्त करना। स्वाध्याय के द्वारा साधक सत्य को जानता है, आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है। इससे आत्मदर्शन का मार्ग प्रशस्त होता है।

५. ध्यान—ध्यान के द्वारा एकाग्रता प्राप्त होती है। मानसिक चिन्तन प्रखर होता है। मन और बुद्धि में स्थिरता आती है। मन की स्थिरता से एकाग्रता आती है। बुद्धि की स्थिरता से निर्विचार साधना की सिद्धि होती है। ध्यान का विवेचन अन्यत्र हो चुका है।

६. व्युत्सर्ग या परित्याग—उत्सर्ग और व्युत्सर्ग का अर्थ है—त्याग करना, छोड़ना, पूर्णतया परित्याग करना। संस्कार का परित्याग, संसार के सुखों के प्रति विरक्ति की भावना जागृत करना, सभी प्रकार के कषायों, मलों या दोषों को छोड़ना, काय अर्थात् शरीर को छोड़ना या शरीर के प्रति उपेक्षा भाव रखना, ये सभी बातें व्युत्सर्ग के अन्दर आती हैं। जैन ग्रन्थों में कायोत्सर्ग का बहुत वर्णन है। कायोत्सर्ग का अर्थ है—काया या शरीर को छोड़ देना अर्थात् शरीर को पूर्णतया शिथिल कर देना, शरीर के प्रति ममत्व को शिथिल कर देना या समाप्त करना। शरीर से आत्मा को पृथक् कर देखना भी कायोत्सर्ग साधना है। व्युत्सर्ग साधना में कर्म-व्युत्सर्ग भी है। कर्मों के संस्कार न बनें, उनकी वासनाएँ न बनें, इसके लिए मन और बुद्धि की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है। मन और बुद्धि शुद्ध हैं तो कोई बुरा संस्कार नहीं बनेगा।

गीता में तप-समाधि—गीता में बाह्य और आन्तरिक तप दोनों को समन्वित करते हुए तीन प्रकार के तप का वर्णन किया गया है। ये हैं—शारीरिक, वाचिक और मानस। इनके भी तीन भेद हैं—सात्त्विक, राजस और तामस।

१. शारीरिक तप—शारीरिक तप में ये कर्तव्य हैं—देवता, द्विज, गुरु और विद्वानों का सम्मान करना, शारीरिक स्वच्छता, विनम्रता, संयम और अहिंसा।

२. वाचिक तप—वाचिक (वाणी-सम्बन्धी) तप में ये कर्तव्य हैं—उद्वेग करने वाला वचन न बोलना, सत्य प्रिय और हितकारक वचन बोलना। वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय और परमात्मा के नाम के जप का अभ्यास।

३. मानस तप—मन-सम्बन्धी तप में ये कर्तव्य हैं—मन को सदा प्रसन्न रखना, सोम्य भाव, मौन रहना, मन को नियन्त्रण में रखना और विचारों की शुद्धता।

यदि ये तीनों प्रकार के तप श्रद्धा से एवं निष्काम भाव से किए जाते हैं तो ये सात्त्विक तप हैं। यदि ये तप सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करने के लिए या पाखण्ड के रूप में किए जाते हैं तो ये राजस तप हैं। यदि ये तप हठपूर्वक, शरीर-वाणी और मन को कष्ट देने के लिए या किसी दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए किए जाते हैं तो ये तमोगुणी तप हैं। (गीता १७.१४ से १९)

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म-विनिग्रहः।
भाव-संशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥ गीता १७.१६

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ गीता १७.१७

५. दर्शन समाधि

दर्शन-समाधि क्या है ?—दर्शन-समाधि का अर्थ है—तत्त्व का दर्शन। तत्त्व क्या है ? संसार में एक ही तत्त्व है और वह है आत्मा। आत्मा का दर्शन करना, आत्मतत्त्व का बोध होना, आत्मा के गुण-कर्म को जानना, 'अहं या मैं' को जानना दर्शन समाधि है। 'मैं' या 'आत्मा' को जानने में कुछ बड़े विघ्न हैं। इन विघ्नों को हटाए बिना आत्मतत्त्व या 'मैं' का ज्ञान या दर्शन नहीं हो सकता है। ये हैं—१. सन्देह की भावना, २. असन्तोष की भावना, ३. अभावात्मक दृष्टिकोण। इन विघ्नों को हटाना साधक का कर्तव्य होता है। इसी प्रकार अपने दृष्टिकोण को सुधारना भी दर्शन-समाधि का कार्य है। दृष्टिकोण में ये भेद पाए जाते हैं—१. व्यावहारिक दृष्टिकोण—इसमें भेद-बुद्धि रहती है, द्वैत बुद्धि रहती है। २. अभेद की दृष्टि—यह शास्त्रीय दृष्टि है। इसमें अभेद या एकत्व का दर्शन होता है। ३. ऋजुसूत्र की दृष्टि—यह बौद्ध-दर्शन की दृष्टि है। इसमें केवल वर्तमान को ही सम्मुख रखा जाता है, उसी पर अपना ध्यान केन्द्रित किया जाता है। भूत और भविष्य पर विचार नहीं किया जाता है और न भूत और भविष्य की चिन्ता ही की जाती है। समाधि की दृष्टि से अतीत और भविष्य का चिन्तन एक प्रकार से विघ्न ही है।

समाधि का उद्देश्य—समाधि का उद्देश्य है—समाधान, जीवन की समस्याओं का समाधान, दुःख की समस्याओं का समाधान, तत्त्वदर्शन की समस्याओं का समाधान। समाधान ही समाधि है। समाधि ही वह विधि है जो अशान्ति में शान्ति देती है, चिन्ताओं से मुक्त कराती है, अज्ञान असन्तोष, दुर्विचार, अभाव, सन्देह आदि को दूर करके मन और बुद्धि को तत्त्वदर्शन कराती है। तत्त्वदर्शन या तत्त्व-ज्ञान से अज्ञान, असन्तोष, अशान्ति, दुर्विचार आदि दोष स्वयं शान्त हो जाते हैं। समाधि शान्ति और आनन्द का मार्ग है।

दर्शन समाधि के विघ्न—आत्मदर्शन के मार्ग में कुछ विघ्न हैं, इनको हटाना या इनका निराकरण करना आवश्यक है, तभी समाधि सफल हो सकती है। ये हैं—

१. सन्देह या संशय—सन्देह या संशय अज्ञान का प्रतीक है, इसको ज्ञान के द्वारा दूर करना चाहिए। गीता का कथन है कि सन्देह या संशय अज्ञान से उत्पन्न होता है। इसको ज्ञानरूपी तलवार से नष्ट करना चाहिए। संशय-रहित व्यक्ति ही योगमार्ग में सफल होता है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ गीता ४.४२

कार्य की सफलता में सन्देहं, कर्मफल में सन्देह, किसी के चरित्र के प्रति सन्देह, आदि सन्देह समाधि में विघ्न हैं। जिसमें श्रद्धा, विश्वास और आस्था नहीं है, वह कभी भी समाधि में सफल नहीं हो सकता।

२. असन्तोष—सन्तोष का अभिप्राय है—जैसा जो कुछ प्राप्त है, उससे सन्तुष्ट और प्रसन्न रहना। इसका अभाव ही असन्तोष है। जिसके मन में असन्तोष है, वह बहुत या सब कुछ पाकर भी असन्तुष्ट रहता है। यह असन्तोष की भावना मन में सदा अशान्ति बनाए रखती है। समाधि के लिए मन और चित्त की शान्ति प्राथमिक आवश्यकताओं में है। अत: समाधि की सिद्धि के लिए असन्तोषरूपी दुर्गुण को हटाना आवश्यक है।

३. अभावात्मक दृष्टिकोण का त्याग—अभाव या जो नहीं है, उसको ही सदा ध्यान में रखना अभावात्मक दृष्टिकोण हैं। यह दृष्टिकोण साधना में विघ्न है। साधक का कर्तव्य है कि वह 'जो है' उसको देखे। उसका पूर्ण सदुपयोग करे। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसके पास सब कुछ हो। अभाव का रोना रोते रहने वाले की समाधि कभी सफल नहीं हो सकती। जो है, उसको देखे, जो नहीं है, उसके लिए प्रयत्नशील रहे, पर उसकी चिन्ता न करे।

४. भूत और भविष्य का चिन्तन—साधना के मार्ग में भूत का चिन्तन और भविष्य की चिन्ता अनायास आती रहती है। अतीत का चिन्तन ध्यान बटाता है। इसी प्रकार भविष्य की चिन्ता भी एकाग्रता और शान्ति नहीं आने देती है। ये दोनों विघ्न हैं। न अतीत का चिन्तन करे और न भविष्य की चिन्ता। मन में निश्चिन्तता का भाव जागृत होने पर ही समाधि में सफलता मिलती है।

समाधि के लिए उपयोगी दृष्टिकोण—समाधि की सफलता के लिए साधक का दृष्टिकोण कैसा हो, इसके लिए कुछ उपयोगी संकेत दिए गए हैं। इन संकेतों के अनुसार आचरण करने से शीघ्र सफलता प्राप्त होती है। ये हैं—

१. अभेद-बुद्धि—समाधि की सफलता के लिए आवश्यक है कि साधक अभेद-बुद्धि जागृत करे। **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** सबमें एक आत्मा की अनुभूति करे। सबको अपना समझे। अतएव गीता में कहा गया है कि योगी या साधक को चाहिए कि वह समदृष्टि हो। सबको आत्मवत् समझे। सबमें आत्मा है और सब आत्मा में है। ऐसा दृष्टिकोण रखे।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ गीता ६.२९

२. भावात्मक दृष्टिकोण—भावात्मक दृष्टिकोण का अभिप्राय है—जो है, उसको देखना। जो नहीं है, उसकी चिन्ता न करना और न उसके लिए दु:खित होना। दर्शन समाधि का लक्ष्य है—भावात्मक दृष्टिकोण को जागृत करना और अभावात्मक दृष्टिकोण को नष्ट करना। जब भावात्मक दृष्टिकोण जागृत हो जाता है तो साधक 'है' को देखता है। उसे धर्म, ज्ञान, त्याग, तप, शान्ति और आनन्द सब दीखने लगते हैं। उसके मन में असन्तोष और अशान्ति को स्थान नहीं मिलता है।

३. वर्तमान को देखना—'वर्तमान को देखना' यह साधना का रहस्य है। जो प्रस्तुत एवं वर्तमान को सम्भाल लेता है, उसका भूत और भविष्य अपने आप सम्भल जाता है। वर्तमान का पूरा उपयोग करना, उसके एक-एक क्षण का ठीक उपयोग करना, साधना की सफलता का द्योतक है। जब तन्मय होकर कोई समाधि की जाती है तो साधक की तन्मयता ही सफलता का संकेत है। जहाँ तन्मयता है, वहाँ सफलता है।

४. एकाग्रता—शंकराचार्य का कथन है कि—'**चित्तस्य एकाग्रता समाधानम्**' अर्थात् जब चित्त एकाग्र होता है, तभी समाधि की स्थिति होती है। समाधान और समाधि शब्द एकार्थक हैं। चित्त को एकाग्र करना, चित्त को आत्मज्ञान में लगाना और आत्मिक आनन्द में मग्न हो जाना ही समाधि की वास्तविक स्थिति है।

गीता में दर्शन समाधि—गीता में दर्शन समाधि का अनेक प्रकार से वर्णन है। गीता का कथन है कि—जो सारे प्राणियों में आत्मा को देखता है, वह योगी है। योगी सबको आत्मवत् देखता है। योगी सर्वत्र आत्मा को देखता है और सबको आत्मा में देखता है (गीता ६.२९ से ३२)। जो राग-द्वेष से रहित है और किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करता है, वह संन्यासी और योगी है (गीता ५.३)। साधक का कर्तव्य है कि वह अपना पूरा ध्यान आत्म-चिन्तन में लगा दे। उसके अतिरिक्त किसी बात का ध्यान न करे (गीता ६.२५)। मन यदि विचलित होता है तो बलात् उसको रोक कर आत्मा की ओर ही लगावे (गीता ६.२६)। सबमें आत्मतत्त्व को देखने वाला कर्म करता हुआ भी कर्म में कभी आसक्त नहीं होता है (गीता ५.७)। योगी निष्काम भाव से कर्म करते हैं। उनका उद्देश्य होता है— आत्मशद्धि (५.११)।

(क) **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।** गीता ६.२५

(ख) **सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ गीता ६.२९

(ग) **योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥** गीता ५.११

६. चारित्र समाधि

चारित्र समाधि क्या है?—चारित्र समाधि का सम्बन्ध चरित्र से है। चरित्र को अति-उज्ज्वल, प्रज्वलनशील बनाकर केवल अपने भरोसे, आत्मबल के विश्वास पर, किसी बाह्य वस्तु का आलम्बन लिए बिना, अपनी आत्मा को शक्तिशाली बनाकर उसको साधना में डालना। इसमें अपने विवेक के सहारे, अपने पराक्रम से, सभी बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न करना है। यह अध्यात्म योग है। इसमें प्राणायाम के तुल्य मुख्य रूप से दो क्रियाएँ करनी पड़ती हैं—१. **रेचक**—अर्थात् शरीर के अन्दर विद्यमान अनावश्यक एवं दूषित तत्त्वों को बाहर निकालना। जैसे—काम, क्रोध, ईर्ष्या, दुर्विचार आदि जो मानव शरीर में हैं, उनको बाहर निकालना। २. **कुंभक**—निग्रह, रोककर रखना। जो लाभकारी तत्त्व हैं, उनको अन्दर रोकर रखना। इनमें विशेष हैं—विवेक, पराक्रम, संयम, निर्भयता, संघर्ष की शक्ति, चारित्रिक पवित्रता आदि।

चारित्र समाधि के सात अंग—चारित्र समाधि एक समन्वित समाधि है। इसमें अनेक गुणों का समन्वय है। साधक में जब ये गुण आ जाते हैं, तब वह पूर्ण साधक या सत्यनिष्ठ बन जाता है। यह एक स्थिरधी या स्थितप्रज्ञ बन जाता है। इन गुणों की प्राप्ति के लिए कठोर संघर्ष करना पड़ता है, तभी चारित्र समाधि सिद्ध होती है। सात अंग ये हैं—

१. अनाशंसा—आशंसा का अर्थ है—इच्छा, कामना, मनोरथ, एषणा या अभिलाषा। जब तक मनुष्य के हृदय में कोई कामना या एषणा है, तब तक उसकी समाधि सिद्ध नहीं होगी। धन की कामना, पुत्र की कामना, प्रसिद्धि की कामना आदि कामनाएँ साधना में विघ्न हैं। इनका त्याग अनाशंसा है। जब कोई इच्छा नहीं है, तब मनुष्य निर्भय होता है, अनासक्त होता है और वीतराग होता है।

२. अभय—निर्भय होना। अनेक प्रकार के भय हैं। जैसे—मृत्यु का भय, धनाभाव का भय, शत्रु का भय, अप्रतिष्ठा का भय आदि। सभी प्रकार के भय को छोड़ देना निर्भयता है। कामनाओं का त्याग करना अभय की स्थापना का मार्ग है। जहाँ कामना है, वहाँ भय है। जिसे जीवन तक की कामना नहीं है, उसे किसका भय हो सकता है।

३. समता—समत्व बुद्धि को अपनाना। सबको आत्मवत् देखना समत्व बुद्धि है। जब एक व्यक्ति सबको अपना समझने लगता है, सबसे प्रेम का व्यवहार करता है, सबके सुख-दुःख में समवेदना प्रकट करता है, तब वह किसी से भय नहीं मानता। समता से अभय गुण की हृदय में स्थापना हो जाती है। समत्व-बुद्धि अभय की आधारशिला है।

४. संयम—संयम में केवल इन्द्रिय-निग्रह ही नहीं है। अपितु यम के पाँचों अंग संयम में आते हैं। यम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। हिंसा, असत्य, चोरी, असंयम और संग्रह की वृत्ति का त्याग ही संयम है। यमों को महाव्रत कहा गया है।

५. सम्यक्चर्या—अपने दैनिक जीवन को सर्वथा पवित्र बनाना सम्यक्चर्या है। मन, वचन और कर्मों में पवित्रता, आचार-विचार की शुद्धि, सुविचार और सुसंस्कारों को अपनाने की प्रवृत्ति, दुर्गुण-त्याग, सद्‌गुण-ग्रहण, ये सभी कार्य सम्यक्चर्या में आते हैं।

६. ध्यान—अपने मन को किसी एक विषय में या एक लक्ष्य पर केन्द्रित कर देना ध्यान है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक ध्यानों का पहले उल्लेख किया जा चुका है, उनकी सिद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना साधक का कर्तव्य है। ध्यान साधक की आन्तरिक शक्ति, इच्छाशक्ति और आत्मिक शक्ति को बढ़ाता है।

७. अप्रमाद—असावधानी, आलस्य, निद्रा, अकर्मण्यता का परित्याग अप्रमाद है। साधना में प्रमाद या आलस्य बड़ा विघ्न है, उसको हटाना अत्यन्त आवश्यक है। सतत जागरूकता अप्रमाद है। जो साधक सदा अपने कर्तव्यों एवं साधना के प्रति जागरूक रहता है, उसको ही समाधि की सिद्धि सुलभ होती है।

समाधि-सिद्धि के लिए आवश्यक गुण—समाधि में पूर्ण सफलता के लिए इन गुणों को अपनाना आवश्यक है—

१. आत्मा की स्वतन्त्रता—हमारी आत्मा स्वतन्त्र है। हम किसी पर निर्भर नहीं हैं। हम सब कुछ करने में समर्थ हैं। इस प्रकार की मान्यता को अपनाकर निर्भय होकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने से ही सफलता मिलती है। यह मनोबल एवं इच्छाशक्ति जागृत करने का सरल उपाय है।

२. पुरुषार्थ—जहाँ पुरुषार्थ है, वहाँ सफलता है। पुरुषार्थी के लिए कुछ दुर्लभ नहीं है। पुरुषार्थ, कर्मठता एवं उत्साह असम्भव कार्य को भी संभव बना देते हैं।

३. संघर्ष—संघर्ष ही जीवन है। जीवन में जो जितना संघर्ष करता है, उतनी ही उसको सफलता मिलती है। समाधि के मार्ग में राग-द्वेष, असंयम, काम-क्रोध आदि बड़े शत्रु हैं। इनको बिना जीते समाधि सम्भव नहीं है। वासनाओं से युद्ध करना पड़ता है, कुसंस्कारों को हटाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। यह संघर्ष की शक्ति ही इसे युद्ध में सफलता दिलाती है।

४. दुर्गुण-त्याग—दुर्गुणों, वासनाओं, कुसंस्कारों, दुर्व्यसनों आदि का परित्याग ही आध्यात्मिक प्राणायाम में रेचन क्रिया है। इनको हटाना या निकालना अपना बोझा उतारना है। इनके हटाने से मन और चित्त शान्त एवं सुस्थिर होते हैं।

५. निरोध—विवेक, संयम, विनय, श्रम आदि गुणों को रोककर रखना आध्यात्मिक प्राणायाम में कुंभक क्रिया है। इन गुणों को रत्नों के तुल्य सम्भाल कर रखना चाहिए।

६. अनुशासन—यह आत्मा का अनुशासन है। जो आत्मा कहती है, वह करो। वह जिसको मना करती है, उसको न करो। आत्मा की आवाज सुनो, तदनुसार आचरण करो। यह है आत्मा का अनुशासन।

गीता में चारित्र समाधि—गीता (१६.१ से ३) में चारित्र समाधि का उल्लेख दैवी सम्पद् या दिव्य संपत्ति के रूप में किया गया है। इसमें इन गुणों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है—अभय (निर्भयता), अन्तःकरण की शुद्धि, ध्यानयोग में तत्परता, दान, संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋजुता (विनय), अहिंसा, सत्य, अक्रोध, दुरभिमान का त्याग, शान्ति, प्राणियों पर दया, लोभ-लोलुपता का त्याग, चंचलता का त्याग, तेजस्विता, क्षमाशीलता, धैर्य, मन-वचन-कर्म की पवित्रता।

अभयं सत्त्वसंशुद्धि-र्ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ गीता १६.१ से ३

❑

अध्याय ९

दिव्य ज्योति-दर्शन, समाधि

दिव्य ज्योतियाँ

अन्तर्दृष्टि का विकास—अन्तर्दृष्टि के विकास के लिए यह एक सरल विधि दी जा रही है, इसको अपनावें। प्रात: दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर अपने आसन पर शान्तभाव से बैठें, इधर-उधर के विचारों से ध्यान हटाकर आँख्र बन्द करके भ्रूमध्य में अपना ध्यान जमावें। दो-चार मिनट तक आपको वहाँ कछ दिखाई नहीं पड़ेगा। भ्रूमध्य में निरन्तर ध्यान जमाए रखने से मन और बुद्धि की शक्ति बढ़ जाती है। ८-१० मिनट ध्यान स्थिर रखने पर धीरे-धीरे भ्रूमध्य में कुछ धुंधला-सा प्रकाश दिखाई पड़ना प्रारम्भ होगा। जितनी अधिक तन्मयता होगी, उतनी ही शीघ्रता से प्रकाश दीखना प्रारम्भ होगा। इसमें शीघ्रता या उतावलापन न करें। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद प्रकाश धुंधले से कुछ अधिक स्पष्ट होता हुआ जुगनू, बल्ब या धूप सा दिखाई पड़ेगा। जब प्रकाश दीप-शिखा की तरह स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे, तब उसे सावधानी से स्थिर करने का प्रयत्न करें। ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों प्रकाश अधिक स्पष्ट होता जाएगा और अधिक समय तक रुकने लगेगा। कुछ मास के निरन्तर अभ्यास से इस प्रकाश पर अपना अधिकार होने लगेगा। फिर इस प्रकाश को अपनी इच्छा-शक्ति से इधर-उधर ले जाने का अभ्यास कीजिए। कुछ समय के अभ्यास के बाद इस प्रकाश पर आपका अधिकार अधिक बढ़ जाएगा। यह प्रकाश ही 'दिव्यनेत्र' या 'दिव्य तृतीय नेत्र' है। इस प्रकाश से साधक इधर-उधर की वस्तुओं को देखने में समर्थ हो जाता है। इसके बाद साधक का कर्तव्य है कि वह इस प्रकाश को मनोबल से अन्दर की ओर मोड़े। इसमें सफलता मिलने पर साधक इस प्रकाश से अपनी शरीर के अन्दर की रचना को देखने में समर्थ होता है। मस्तिष्क की रचना, हृदय का स्वरूप, नाड़ी-संस्थान, पाचन-संस्थान आदि को इस सक्ष्म दृष्टि से देखा जा सकता है। दिव्य नेत्रों का विकास अभीप्सा (लगन) और सतत अभ्यास से ही संभव हो पाता है, इसके लिए किसी योग्य गुरु का आश्रय लेना आवश्यक होता है।

१. दिव्य ज्योति-दर्शन

(क) स्थूल शरीर

श्री स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती ने अपने 'दिव्य ज्योति-विज्ञान' में २६० पृष्ठों में स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और समष्टि जगत् में १५४ + १

ब्रह्म = १५५ दिव्य ज्योतिओं का विशद वर्णन किया है। साधकों के लिए उपयोगी होने के कारण उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१५४ दिव्य ज्योतियाँ ये हैं—

(क)	स्थूल शरीर—	६९ (२३ × ३)
(ख)	सूक्ष्म शरीर—	६६ (२२ × ३)
(ग)	कारण शरीर—	७
(घ)	समष्टि जगत्—	१२
		१५४ + १ ब्रह्म = १५५

२. स्थूल शरीर में ६९ दिव्य ज्योतियाँ

स्थूल शरीर में २३ दिव्य ज्योतियाँ हैं। इनके सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद होने से ये ६९ दिव्य ज्योतियाँ हो जाती हैं। ये दिव्य ज्योतियाँ शरीर से पृथक् कोई अन्य तत्त्व नहीं हैं, अपितु शरीर में विद्यमान, शरीर के प्रत्येक अंग के संचालक, शरीर के चालक कारणभूत आग्नेय तत्त्व हैं। इनकी सत्ता से ही शरीर में गति, प्रगति, विकास आदि होते हैं। ये ज्योतियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सामान्य दृष्टि से नहीं देखी जा सकती हैं। इनको देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि विकसित करनी पड़ती है। यह सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि इनका साक्षात्कार कराने में समर्थ होती है। अन्तर्दृष्टि का आश्रय लेकर योगी इनका साक्षात्कार करते हैं और इन दिव्य ज्योतियों के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार और ब्रह्मसाक्षात्कार करते हैं। इन ज्योतियों को दिव्य अग्नि भी कहते हैं।

इन २३ ज्योतियों के नाम और स्थान ये हैं—

१. ओजस्—ब्रह्मरन्ध्र में, बुद्धिमण्डल के समीप
२. भास्वर—मनोमण्डल के समीप
३. चाक्षुष—नेत्रेन्द्रिय के समीप
४. जाठर—यकृत् (जिगर) में। यह रसों का निर्माण करती है।
५. पाचक—आमाशय और पक्वाशय में
६. रंजक—प्लीहा के निकट, आंतों के ऊपरी भाग में
७. तेजस्—हृदय में
८. विभाजक (भ्राजक)—नाभि में, मणिपूर क्षेत्र में
९. पोषक—स्वाधिष्ठान चक्र के पास
१०. विसर्जक—मूलाधार के ऊपर, मल-मूत्र-स्थान में
११. गुदा—(गुदा में) १२. उपस्थ—(मूत्रेन्द्रिय में)
१३. पाद—(पैर में) १४. हस्त—(हाथ में)

१५. वाक्—(वाणी, मुख में) १६. प्राण—(प्राणों में)
१७. रसना—(जीभ में) १८. नेत्र—(आँख में)
१९. स्पर्श—(त्वचा में) २०. कर्ण—(कान में)
२१. मन—(मनोमण्डल में) २२. बुद्धि—(बुद्धिमण्डल में)
२३. कुण्डलिनी—(मूलाधार क्षेत्र में)

स्थूल शरीर में ये २३ दिव्य ज्योतियाँ सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की होकर ६९ हो जाती हैं। सात्त्विक स्थिति में इनका स्वरूप अत्युत्तम होता है और इनकी ज्योति भी अति विलक्षण होती है। राजस स्थिति में इनका स्वरूप कुछ मन्द होता है। परन्तु उनमें सक्रियता अधिक होती है। तामस स्थिति में इनका प्रकाश बहुत मन्द होता है और इनकी सक्रियता भी अत्यन्त मन्द होती है। अतएव आगे केवल २३ सात्त्विक दिव्य ज्योतियों का ही विवरण दिया जाएगा। राजस और तामस भेदों का विवरण उसी प्रकार कुछ न्यून और अति न्यून समझें।

३. २३ दिव्य ज्योतियों का क्रियाकलाप

इन दिव्य ज्योतियों को दिव्य अग्नि भी कहा जाता है। अत: आगे इनका वर्णन दिव्य अग्नि के रूप में किया गया है।

१. दिव्य ओजस् अग्नि—दिव्य ओजस् अग्नि ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान ३ दिव्य ज्योतियों (ओजस्, भास्वर, चाक्षुष) में से एक है। यह बुद्धिमण्डल के समीप में रहती है। यह बुद्धि को ज्ञान कराने में तथा आत्मदर्शन एवं ब्रह्मदर्शन में सहायक होती है। समाधि की अवस्था में इसका दिव्य आलोक आत्मदर्शन को विशेष प्रकाशमान करता है। ओजस् अग्नि और बुद्धि का प्रकाश दोनों मिलकर शान्ति और आनन्द को दीर्घकाल तक बनाए रखते हैं। उस काल में ब्रह्मसाक्षात्कार यथार्थरूप में होता है। समाधि की अवस्था में ओजस् अग्नि जागृत रहती है और ब्रह्मरन्ध्र के पदार्थों को प्रकाशित करती है। उस अवस्था में योगी जिस पदार्थ का साक्षात्कार करना चाहता है, वह कर सकता है। सात्त्विक ओजस् अग्नि की यही विशेषता है कि वह बुद्धिमण्डल में परमात्मा के दर्शन में विशेष सहायक है।

ओजस् अग्नि योगियों, तत्त्वदर्शियों और ब्रह्मज्ञानियों में विशेष रूप से कार्य करती है। इसके उदय होने पर बुद्धि की शक्ति बढ़ जाती है। योगी प्रत्येक पदार्थ का साक्षात्कार कर सकता है। इसके विकास के कारण तत्त्वदर्शी या वैज्ञानिक नाना प्रकार के पदार्थों का निर्माण और वैज्ञानिक तत्त्वों के ज्ञान में समर्थ हो जाता है। वह बुद्धि में आत्मदर्शन की योग्यता उत्पन्न करती है। इससे बुद्धि में सूक्ष्मदर्शिता, पारदर्शिता, निर्णयकारिता आदि शक्तियाँ आ जाती हैं। इससे मस्तिष्क सदा तेजोमय, शान्त और विवेकशील बना रहता है।

२. दिव्य भास्वर अग्नि—यह मस्तिष्क के पिछले भाग में स्थित है। यह मन और इन्द्रियों को प्रकाशित करती है। यह इनमें तेजस्विता उत्पन्न करती है। योगियों में ओजस् और भास्वर ज्योतियों की प्रधानता होती है। इसके कारण ब्रह्मरन्ध्र में सदा प्रकाश विद्यमान रहता है। यह भास्वर अग्नि भी आत्मदर्शन में मन की सहायक है।

भास्वर अग्नि बुद्धि, मन और इन्द्रियों का तेज बढ़ाती है। ब्रह्मरन्ध्र में सूक्ष्म शरीर जागृत अवस्था में आलोकित होकर अपना कार्य करता रहता है। अतः ब्रह्मरन्द्र में सदा प्रकाश बना रहता है। ब्रह्मरन्ध्र में भास्वर अग्नि सदा दीपक का कार्य करती है। अतः जाग्रत्, स्वप्न और समाधि अवस्था में इसका आलोक बना रहता है। इसके कारण मस्तिष्क में तथा मुखमण्डल में आभा बनी रहती है।

वह सूक्ष्म शरीर के विशेष कार्यों का सम्पादन करती है। वह पदार्थों के प्रत्यक्ष कराने में विशेष सहायक है। सत्त्वप्रधान अवस्था में भास्वर ज्योति से समाधि की अवस्था में आत्मसाक्षात्कार होता है।

३. दिव्य चाक्षुष अग्नि—यह चाक्षुष अग्नि नेत्र के पृष्ठभाग में है। यह शरीर के अन्दर और बाहर के पदार्थों को दिखाने में सहायक होती है। यह योगियों को अन्दर के शरीर की रचना और वहाँ के पदार्थों को भी दिखाती है, योगी ध्यानावस्था में नेत्र बन्द करके अपनी दृष्टि को अन्दर की ओर मोड़ता है। तब वह ज्योति अन्दर के स्थूल शरीर की रचना को दिखाने लगती है। कुछ समय के अभ्यास से योगी में इतनी योग्यता आ जाती है कि वह शरीर के प्रत्येक अंग, अस्थि, मांसपेशी, नस-नाड़ी, रुधिर, रज-वीर्य आदि को प्रत्यक्ष देख सकता है, जैसे—एक्स-रे से।

योगी जब अभ्यासकाल में नेत्र बन्द करता है तो तब यह चाक्षुष अग्नि मस्तिष्क में प्रदीप्त होने लगती है और चारों ओर प्रकाश फैल जाता है। इसको और नेत्र की ज्योति को योगी मनोबल के द्वारा समस्त शरीर में प्रवाहित कर देता है। तब समस्त शरीर की रचना प्रत्यक्ष होने लगती है। ब्रह्मरन्ध्र के सूक्ष्म नेत्र से ज्ञानवाहक और गतिवाहक सूत्रों के द्वारा इस नेत्र का सम्बन्ध बना हुआ है।

यह चाक्षुष अग्नि भ्रूमध्य के पृष्ठभाग में निवास करती है। जब हम नेत्र बन्द करके ध्यान करते हैं, तब यह ज्योति के रूप में प्रकट होकर शरीर के अन्दर क्रियाशील हो जाती है। यदि इसे ध्यान के बल से इधर-उधर घुमाते हैं तो यह नेत्र की ज्योति से मिलकर स्थूल शरीर की रचना और इसके अंग प्रत्यंगों को दिखाने लगती है। यह ज्योति आत्मदर्शन में भी सहायक होती है।

यह ज्योति सर्वप्रथम ब्रह्मरन्ध्र को प्रकाशित करती है। इसके आलोक के बिना ब्रह्मरन्ध्र में किसी भी पदार्थ का ज्ञान या साक्षात्कार नहीं होता है। इस ज्योति का प्रादुर्भाव होने पर योगी या साधक में श्रद्धा, भक्ति और विश्वास बढ़ जाता है।

४. जाठर अग्नि—जाठर अग्नि का निवास यकृत् (जिगर) में है। यह मधुर, लवण आदि रसों का निर्माण करती है। ये रस पाचन आदि कार्यों को करते हैं। यह जीवनी शक्ति का संचार रसों द्वारा करने वाली सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है। अतः योगी को यकृत् ग्रन्थि का विशेष ध्यान रखना चाहिए और आहार-विहार, सोना-जागना आदि नियन्त्रित रखना चाहिए।

सत्त्व-प्रधान जाठर अग्नि से सात्त्विक रसों का निर्माण होता है। इससे शरीर, मन और बुद्धि पुष्ट होते हैं। सत्त्वप्रधान होने पर इससे प्रकाश उत्पन्न होता है और वह आत्मसाक्षात्कार कराने में समर्थ होती है।

५. पाचक अग्नि—यह आमाशय और पक्वाशय में है। यह खाए हुए पदार्थों का पाक करके विभिन्न रसों का निर्माण करती है। सत्त्वप्रधान अवस्था में संयम और समाधि के द्वारा इस अग्नि के प्रकाश को माध्यम बनाकर आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

६. रंजक अग्नि—यह रंजक अग्नि मुख्य रूप से प्लीहा (तिल्ली) में निवास करती है। यह पित्त और धूसर रस को शनैः-शनैः रक्त के रूप में परिवर्तित करती है। सत्त्वप्रधान रंजक अग्नि को बुद्धि का माध्मम बनाकर तेज के रूप में आत्मा के साथ जोड़कर योगी आत्मानुभूति करता है।

७. तेजस् अग्नि—यह हृदय में स्थित है। यह सात्त्विक अवस्था में धर्ममेघ समाधि में आत्मा को तेजोमय बना देती है। इसके द्वारा हृदय में प्रकाश बना रहता है। यह कारण शरीर को प्रकाशित करती है। जब योगाभ्यासी चित्त में प्रवेश करता है, तब उसे सर्वप्रथम इस तेजस् अग्नि का सात्त्विक प्रकाश सामने दिखाई देता है। यह आत्मदर्शन में सहायक होती है। इसका प्रकाश हृदय में सदा बना रहता है और शान्त अवस्था बनी रहती है। योगी उस काल में सुख, शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है।

८. विभाजक या भ्राजक अग्नि—यह नाभि प्रदेश में, मणिपूर चक्र के क्षेत्र में, दिव्य ज्योति के रूप में कार्य करती है। यह बड़ी और छोटी आंतों के ऊपरी भाग में कार्य करती है। सत्त्व अवस्था में इसके प्रकाश से मल-मूत्र, वीर्य आदि का विभाजन देखने में आता है। इस विभाजक अग्नि के द्वारा चेतन की अनुभूति होती है।

९. पोषक अग्नि—यह नाभि से नीचे स्वाधिष्ठान चक्र के पास स्थित है और रज-वीर्य का पोषण करती है। यह नाभि से नीचे के अवयवों को उत्तेजित करके उन्हें क्रियाशील बनाए रखती है। यह कुण्डलिनी शक्ति को भी जागृत करती है। मूलाधार में इसके संकोच-विकास से कुण्डलिनी शक्ति में प्राणोत्थान होता है। शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास से इस ज्योति का विशेष प्रभाव कुण्डलिनी एवं

दिव्य ज्योति को जागृत कर देता है। इस प्रदेश में अश्विनी मुद्रा के द्वारा भी कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। यह यहाँ के सब पदार्थों का पोषण करती है। इस अग्नि को बुद्धि का माध्यम बनाकर आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है।

१०. विसर्जक अग्नि—यह मूलाधार चक्र के ऊपर मल-मूत्र-त्याग के स्थान में स्थित है। यह रज-वीर्य मल-मूत्र आदि की गतिविधि को ठीक रखता है। इसको माध्यम बनाकर आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है।

११-१५. पाँच कमेन्द्रियों के रूप में दिव्य ज्योतियाँ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—गुदा (मलेन्द्रिय), उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय), पाद (पैर), हस्त (हाथ), वाक् (वाणी)। इन पाँचों कर्मेन्द्रियों को शक्ति देने वाली ५ दिव्य ज्योतियाँ या अग्नियाँ हैं। ये अग्नियाँ इनकी कार्यक्षमता को बढ़ाती हैं तथा इनको दूषित होने एवं विविध रोगयुक्त होने से बचाती हैं। इन पाँच ज्योतियों को माध्यम बनाकर आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है।

१६-२०. पाँच ज्ञानेन्द्रियों के रूप में दिव्य ज्योतियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—रसना (जीभ), नेत्र (आँख), घ्राण (नाक), स्पर्श (त्वचा), कर्ण (कान)। इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को शक्ति देने वाली ये पाँच दिव्य ज्योतियाँ या अग्नियाँ हैं। ये अग्नियाँ इनकी शक्ति को बढ़ाती हैं, कार्यक्षमता उन्नत करती है और इन्हें रोगादि से मुक्त रखती हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल आँख, नाक आदि की शक्ति के स्रोत सूक्ष्म शरीर में विद्यमान पंच-तन्मात्राएँ (रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा आदि) हैं, तथापि सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के माध्यम से ही मनुष्य के क्रियाकलापों का सम्पादन करता है। इन ज्ञानेन्द्रियों में सूक्ष्म दिव्य ज्योतियाँ हैं। अतएव दर्शनकार का कथन है कि—**'प्रकाशकारीणि इन्द्रियाणि'** अर्थात् ये इन्द्रियाँ प्रकाशकारक या ज्योतिरूप हैं। योगी इन ज्योतियों को माध्यम बनाकर आत्म-साक्षात्कार करते हैं।

२१. मन की दिव्य ज्योतियाँ—ब्रह्मरन्ध्र में मन दिव्य ज्योति है। यह कर्मप्रधान है और बुद्धि का सहयोगी है। यह सभी इन्द्रियों से कर्म कराता है। इसके सारे कर्म बुद्धि के आदेशानुसार होते हैं। मन बुद्धि का अनुचर है। जब मन सत्त्वप्रधान होता है, तब उसमें स्वच्छता और ज्ञान की प्रधानता होती है। ब्रह्मरन्ध्र में मन का दिव्य प्रकाश सदा बना रहता है। सत्त्वप्रधान मन में क्षोभ और चंचलता नहीं होती है। यह इन्द्रियों की भी चंचलता को शान्त रखता है। इस स्थिति में आत्मा से सम्बन्ध बनाने पर आत्मदर्शन होता है।

सत्त्वप्रधान अवस्था में मन की कर्म और ज्ञान में कुशलता बढ़ जाती है। मस्तिष्क और इन्द्रियों के सब काम विवेकपूर्वक होते हैं। शिव-संकल्प सदा बना रहता है। पदार्थों के विवेचन, ज्ञान और निर्णय में यह बुद्धि को बहुत सहयोग

देता है। इस अवस्था में मन और इन्द्रियों से इतना तीव्र प्रकाश निकलता है कि यह भूमण्डल के सभी पदार्थों को देखने में समर्थ होता है। मन में अतीन्द्रिय पदार्थों को भी दिखाने की सामर्थ्य आ जाती है।

२२. बुद्धि की दिव्य ज्योतियाँ—इनका निवास ब्रह्मरन्ध्र में है। ये स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों के कर्म और ज्ञान का आधार हैं। ये ही दोनों शरीरों में भोग और अपवर्ग का साधन हैं। यह दिव्य ज्योति ब्रह्मरन्ध्र में दिन-रात कार्य करती है। यह जाग्रत् स्वप्न और समाधि अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म शरीर के सारे कार्य करती है।

ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश में विशेष ध्यान और समाधि के द्वारा इसे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनाया जाता है। ज्यों-ज्यों यह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होती जाती है, त्यों-त्यों सूक्ष्म से सूक्ष्मतम सभी पदार्थों का ज्ञान होता जाता है। सबसे सूक्ष्मतम परमात्मा है। उसका ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा साक्षात्कार किया जाता है।

सात्त्विक अवस्था में योगी की शम, दम, तितिक्षा आदि बनी रहती है। शान्ति का साम्राज्य होता है। वह आत्मा का साक्षात्कार करता है और आत्मा का सांनिध्य प्राप्त करता है। ज्ञान और वैराग्य के द्वारा इस सात्त्विक भावना को बल मिलता है।

४. कुण्डलिनी शक्ति का जागरण

वेदों और मुख्य उपनिषदों में कुण्डलिनी शक्ति का कहीं उल्लेख नहीं है। अथर्ववेद में एक मन्त्र है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। अथर्व० १०.२.३१

इसमें ८ चक्रों का उल्लेख है। सब चक्रों का आधार मूलाधार चक्र माना जाता है। यह चक्र गुदा और उपस्थ के बीच शरीर के अन्दर स्थित है। इस चक्र के आसपास से कई नाड़ियाँ प्रारम्भ होकर चलती हैं और ये ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती हैं। इन नाड़ियों में इडा, पिंगला, सुषुम्ना और ब्रह्मनाडी मुख्य हैं। मूलाधार में सुषुम्ना के मध्य में ब्रह्मनाडी है। इसमें कुण्डलिनी शक्ति या प्राणोत्थान शक्ति पैदा होती है।

मूलाधार में ब्रह्मनाडी सर्प की तरह कुण्डली मारकर बैठी रहती है। वह एक प्रकार से गुच्छाकार नाड़ी है। जब योगी मूलाधार में शक्तिचालिनी मुद्रा, अश्विनी मुद्रा या प्राणायाम के अभ्यास से इस शक्ति को जागृत करता है, तब वह दिव्य ज्योति के रूप में ब्रह्मनाडी के मध्य में उत्पन्न होती है। तब यह ब्रह्मनाडी में से ऊपर की ओर गमन का रास्ता बनाती है। उस समय एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है।

जब इस कुण्डलिनी शक्ति में प्राण और ज्योति भर जाती है, तब वह ऊपर की ओर गमन करने लगती है। जैसे ट्यूब हवा भरने से फूलकर लम्बा हो जाता है, उसी प्रकार यह दिव्य ज्योति लम्बा आकार बनाते हुए मूलाधार से ऊपर उठती हुई स्वाधिष्ठान चक्र में, तत्पश्चात् मणिपूर चक्र में पहुँचती है। इन तीनों चक्रों में तीन प्रकार की ज्योतियाँ विद्यमान हैं। ये हैं—मूलाधार में विसर्जक, स्वाधिष्ठान में पोषक और मणिपूर में भ्राजक। जब योगी रेचक प्राणायाम करके उड्डीयान बन्ध लगाता है और मूलाधार को ऊपर की ओर आकृष्ट करता है, तब विसर्जक अग्नि से भी दिव्य ज्योति का प्रादुर्भाव होता है। वास्तव में यह विसर्जक अग्नि ही दिव्य ज्योति बनकर कुण्डलिनी के रूप में प्रदीप्त हो जाती है। इसमें तेज और प्राण का भी संमिश्रण होता है। इससे यह दिव्य रूप धारण कर लेती है।

सुषुम्ना नाड़ी के विभिन्न भागों में ये चक्र बहुत बारीक नाड़ियों के सूक्ष्म गुच्छों के रूप में विद्यमान हैं। सुषुम्ना के मार्ग में कुण्डलिनी शक्ति का जो प्रकाश चलता है, वह इन गुच्छकों से निकलकर बाहर प्रकाश फेंकता है। नाड़ियों के गुच्छकों से जो प्रकाश निकलता है, वह पुष्पों या कमल का सा प्रतीत होता है। यह प्रकाश त्रिकोणीय, चतुष्कोणीय या कमल के तुल्य भिन्न-भिन्न आकार का होता है। इनको ही चक्र या कमल आदि नाम दिए गए हैं।

सुषुम्ना नाड़ी भी ट्यूब की तरह प्रकाशयुक्त होती है और वह अव्यक्त प्रकाश फेंकती है। इसका प्रकाश नाड़ियों के गुच्छकों से निकलकर चक्रों के रूप में प्रकाशित होता है। यह भौतिक अग्नि ही है, और कुछ नहीं। जिस प्रकार कारण-स्वरूप प्रकृति में प्राण और तेज (वायु और अग्नि) उत्पन्न होकर साथ-साथ चलते हैं, उसी प्रकार हमारे शरीर में भौतिक अग्नि और भौतिक वायु कुण्डलिनी शक्ति के रूप में प्रकट हुए हैं।

योगियों को साधना के समय जलता हुआ तार या ट्यूब के तुल्य एक प्रकाश मूलाधार से लेकर कण्ठ तक दृष्टिगोचर होता है। यह प्रकाश तेज और प्राण का संयुक्त रूप है। यह प्रकाश मूलाधार से चलकर मस्तिष्क में पहुँचता है। कुण्डलिनी पहले स्थूल शरीर को दिखाती है। यह दिव्य तेजोमय कुण्डलिनी सुषुम्ना के अन्दर ऊपर सरकती हुई सब पदार्थों को दिखाती चलती है। यह चक्रों के साथ ही अन्दर के सभी पदार्थों को दिखाती है। इस ज्योति के साथ प्राण का संयोग होने पर वह प्राण को भी ज्योति का रूप दे देती है। कुण्डलिनी शक्ति विसर्जक अग्नि का ही सात्त्विक परिणाम है।

कुण्डलिनी शक्ति के तीन रूप होते हैं। जब यह सत्त्वप्रधान होती है, तब सूर्य के तुल्य तीव्र प्रकाश देती है। जब यह रजोगुण प्रधान होती है, तब प्राण और ज्योति में कुछ कम्पन्न होता है और इसमें चकाचौंध करने वाली कुछ

विशेष चमक होती है। जब यह तमोगुण प्रधान होती है, तब धुंधला-सा मध्यम प्रकाश होता है। इस दिव्य ज्योति को लेकर ब्रह्मरन्ध्र या हृदय में, जहाँ भी प्रवेश करेंगे, वहाँ ब्रह्मदर्शन और आत्मसाक्षात्कार हो जाएगा। यह दिव्य शक्ति इन्द्रिय, मन और बुद्धि को असाधारण शक्ति एवं सामर्थ्य प्रदान करती है।

(ख) सूक्ष्म शरीर

५. सूक्ष्म शरीर की ६६ दिव्य ज्योतियाँ

तीन शरीर—यह स्थूल शरीर ३ शरीरों का समन्वित रूप है। ३ शरीर हैं—

१. स्थूल शरीर—यह स्थूल दिखाई पड़ने वाला शरीर है। यह अन्नमय कोश और प्राणमय कोश का संघात है। यह ऊपर का मोटा ढाँचा है। यह कर्म करता है और फल भोगता है। मृत्यु होने पर इस मोटे ढाँचे का ही नाश होता है। यह '**भस्मान्तं शरीरम्**' है।

२. सूक्ष्म शरीर—यह स्थूल शरीर का कारण है। स्थूल शरीर को यही शक्ति देता है। यह शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। इसका ही पुनर्जन्म होता है। इस सूक्ष्म शरीर के दो कार्यक्षेत्र हैं—१. स्थूल शरीर में रहकर स्थूल जगत् के भोगों को भोगता है। २. स्थूल शरीर और स्थूल जगत् को त्यागकर सूक्ष्म जगत् में पुनर्जन्म धारण करने के लिए घूमता है या सूक्ष्म जगत् में स्थायी रूप से रहकर मोक्ष का सुख भोगता है। इसमें मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश हैं।

३. कारण शरीर—यह स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों से सूक्ष्म है। यह इन दोनों को शक्ति प्रदान करता है। यह आनन्दमय कोश है। इसमें चित्त, अहंकार और आत्मतत्त्व हैं।

सूक्ष्म शरीर की ६६ दिव्य ज्योतियाँ—स्थूल शरीर में ६९ दिव्य ज्योतियाँ (२३ × ३ = ६९) हैं। स्थूल शरीर की कुण्डलिनी नामक ज्योति सूक्ष्म शरीर में नहीं है। अतः सूक्ष्म शरीर में ६६ दिव्य ज्योतियाँ (२२ × ३ = ६६) हैं। ये सभी ज्योतियाँ सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की हैं, अतः २२ ज्योतियाँ ही तिगुना होने से ६६ प्रकार की हो जाती हैं।

सूक्ष्म शरीर में २२ दिव्य ज्योतियाँ ये हैं—

१. ओजस्,	२. भास्वर,	३. चाक्षुष,	४. जाठर,
५. पाचक,	६. रंजक,	७. तेजस,	८. विभाजक,
९. पोषक	१०. विसर्जक,	११-१५ पाँच कर्मेन्द्रियाँ	
१६-२० पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ,	२१. मन,	२२. बुद्धि।	

इनके स्थान और कार्य आदि स्थूल शरीर में विद्यमान दिव्य ज्योतियों के तुल्य ही समझें। अन्तर केवल इतना है कि सूक्ष्म शरीर में ये दिव्य ज्योतियाँ

अधिक तेजोमय और अधिक शक्तिशाली हैं। इनके दर्शन आदि की प्रक्रिया पूर्ववत् है।

(ग) कारण शरीर

६. कारण शरीर की ७ दिव्य ज्योतियाँ

कारण शरीर—कारण शरीर सूक्ष्मतम शरीर है। यह स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों की शक्ति का स्रोत है। इसकी शक्ति से ही दोनों शरीरों में शक्ति है। इसमें ७ दिव्य ज्योतियाँ हैं। ये हैं—१. चित्त (३ भेद), २. अहंकार (३ भेद), ३. आत्मा। चित्त और अहंकार के सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन भेद हैं, अत: ये ६ हैं। सप्तम आत्मा या जीवात्मा है।

ये सातों दिव्य ज्योतियाँ ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हैं। वहीं इनका दर्शन होता है और इनके द्वारा आत्म-साक्षात्कार होता है।

(घ) समष्टि जगत् या ब्रह्माण्ड

७. समष्टि जगत् की १२ दिव्य ज्योतियाँ

ब्रह्माण्ड में समष्टि रूप में ये १२ दिव्य ज्योतियाँ हैं—

१. समष्टि अहंकार	४. समष्टि महत् (सत्त्व)	७. समष्टि दिशा	१०. समष्टि प्राण
२. '' बुद्धि	५. '' '' (रजस्)	८. '' काल	११. '' शब्द
३. '' चित्त	६. '' '' (तमस्)	९. '' आकाश	१२. '' प्रकृति

व्यष्टि अहंकार आदि का उपादान कारण यह समष्टि ब्रह्माण्ड है। ये १२ दिव्य ज्योतियाँ विश्वव्यापी ज्योतियाँ हैं। इनको माध्यम बनाकर ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है।

यहाँ तक स्थूल शरीर में ६९, सूक्ष्म शरीर में ६६, कारण शरीर में ७ और ब्रह्माण्ड में १२ ज्योतियों अर्थात् १५४ दिव्य ज्योतियों का उल्लेख किया गया है। सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म इन सभी ज्योतियों को ज्योति और गति दे रहा है, उसको मिलाकर १५५ दिव्य ज्योतियाँ होती हैं। ये १५४ ज्योतियाँ सूर्य के समक्ष दीपक के तुल्य है। मानव के उद्धार के लिए ये १५४ ज्योतियाँ सहायक हैं, साधन हैं और लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार के लिए रामबाण हैं।

❑

अध्याय १०

योग और रोग-निवारण

यहाँ पर साधकों के लिए कुछ उपयोगी एवं अनुभूत प्रयोग विविध रोगों के निवारण के लिए दिए जा रहे हैं। इनमें आसन, प्राणायाम और ध्यान के अतिरिक्त भी कुछ प्रयोग सम्मिलित किए गए हैं।

१. नीरोग रहने के कुछ रहस्य (गुर)

१. गीता में नीरोग रहने के लिए निर्देश है कि—

युक्ताहार-विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त-स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता ६.१७

अर्थात् नीरोग रहने के साधन हैं—१. नियमित और संतुलित भोजन एवं भ्रमण आदि, २. नियमित दिनचर्या, ३. नियमित सोने और जागने का समय।

२. **सूर्यकिरण-चिकित्सा**—उदय होते हुए सूर्य के सामने १५ से ३० मिनट तक बैठना या खड़े रहना, जिससे सूर्य की अवरक्त किरणें सीधे छाती पर पड़ें। इससे सिर और हृदय की सारी बीमारियाँ तथा खून की कमी आदि अनेक बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। यह विधि आजीवन रोग-मुक्ति का सरलतम उपाय है। ऋग्वेद का कथन है कि अवरक्त सूर्य की किरणें हृदयरोग, शिरोरोग और रक्ताल्पता आदि की चिकित्सा है।

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन् उत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥ ऋग्० १.५०.१०

३. प्रातः प्रतिदिन कम से कम आधा घंटा समय भ्रमण, व्यायाम या तैरने में लगावें। आधा घंटा समय आसन, प्राणायाम और ध्यान में लगावें तथा आधा घंटा ओम्, गायत्री मंत्र का जप एवं ईश्वरोपासना (प्रभुभक्ति) में लगावें।

४. **'हितभुक्, मितभुक्, ऋतभुक्'**—कम खावें, पथ्य भोजन करें और ईमानदारी का ही अन्न खावें।

५. प्रत्येक प्रकार के असंयम, दुर्व्यसन, अभक्ष्य-भोजन एवं नशे से दूर रहें।

६. दुर्गुण और दुर्विचारों को स्थान न दें।

७. **'चरैवेति, चरैवेति'** परिश्रमी जीवन बितावें। हिम्मत न हारें। निराशा और अनुत्साह कभी मन में न आने दें।

८. ईश्वर-भक्ति, ईश्वर-विश्वास और दृढ़ इच्छाशक्ति रोगाणुओं को समूल नष्ट करते हैं।

९. **उषःपान**—प्रतिदिन प्रातः उठते ही २ या ३ गिलास (एक या डेढ़ लीटर) पानी अवश्य पीवें। इससे अनेक रोग दूर होते हैं।

१०. **उपवास**—सप्ताह में एक दिन या कम से कम एक समय भोजन न करें। जल लें। मेवा और फल ले सकते हैं। इससे पाचन शक्ति ठीक रहती है।

कतिपय सामान्य निर्देश

१. आसन, प्राणायाम और मुद्राओं की विधि के लिए उनसे संबद्ध अध्यायों को देखें।

२. जहाँ कई आसन, प्राणायाम आदि दिए गए हैं, उनमें से कोई एक या दो आसन आदि प्रतिदिन नियमित रूप से करें।

३. नियमित दैनिक भ्रमण, व्यायाम, आसन आदि करना सभी रोगों के लिए लाभप्रद है।

४. योगासन आदि के अतिरिक्त कुछ अन्य विधियाँ भी उपयोगी होने के कारण दी गई हैं।

५. पेट से संबद्ध सभी रोगों में नीबू और सलाद का सेवन लाभप्रद है।

६. यहाँ दिए गए नुस्खों में अधिकांश अनुभूत प्रयोग हैं।

२. रोग और उपचार

१. अजीर्ण (कब्ज, मन्दाग्नि, कोष्ठबद्धता, Constipation)

(क) अग्निसार क्रिया सर्वोत्तम है। कम से कम २० बार करें।

(ख) पवनमुक्त आसन, भुजंगासन, सर्वांग आसन लाभप्रद हैं।

(ग) ताजे पानी में शहद २ चम्मच, १ कागजी नीबू का रस डालकर १०-१५ दिन लगातार पीने से पुराना कब्ज ठीक हो जाता है।

(घ) दो छोटी हरड़ रात्रि में आधे कप पानी में भिगो दें, प्रातः नाश्ते में या उससे पूर्व प्रति दिन लें। इससे कब्ज नहीं होगा।

(ङ) प्रातः उठते ही २ या ३ गिलास पानी पीएँ। इससे कभी कब्ज नहीं होगा।

२. अनिद्रा, नींद न आना (Insomnia, Sleeplessness)

(क) पश्चिमोत्तान, सर्वांग आसन और शवासन प्रतिदिन ५ मिनट करें।

(ख) रात्रि में सोते समय सिर और पैर के तलवे में सरसों के तेल की मालिश करें।

(ग) सोने के पूर्व हाथ-पैर धोवें। गुलाबी फिटकिरी से 'आई कप' से आँख धोवें।

(घ) सोते समय गायत्री मंत्र का जप करते हुए सोवें।

३. अम्लपित्त (Acidity)

(क) पश्चिमोत्तान, पवनमुक्तासन, सर्वांग आसन ५ मिनट अवश्य करें।

(ख) सप्ताह में एक बार कुंजल क्रिया अवश्य करें।

(ग) प्रतिदिन प्रातः तुलसी के ५-७ पत्ते खावें।

(घ) उषःपान- प्रतिदिन उठते ही २-३ गिलास पानी पीवें।

(ङ) रात्रि में पैर में सरसों का तेल लगावें।

(च) भोजन के बाद कम से कम १० मिनट वज्रासन पर बैठें।

४. आन्त्रपुच्छ शोथ (एपेन्डिसाइटिस, Appendicitis)

(क) प्रतिदिन बैठकर पश्चिमोत्तान आसन प्रातः ८ या १० बार करें। सिर को घुटने से लगाने का प्रयत्न करें। १०-१५ दिन में रोग ठीक हो जाएगा। आपरेशन की आवश्यकता नहीं होगी।

(ख) प्रतिदिन भोजन से पूर्व अदरक, नीबू पर थोड़ा सेंधा नमक डालकर सेवन करें। यह आंत्रपुच्छ प्रदाह में लाभप्रद है।

(ग) दर्द वाले स्थान पर चिकनी मिट्टी की लोई सी बनाकर पट्टी रखें। एक घंटे बाद दूसरी मिट्टी की पट्टी रखें। दिन में दो-तीन बार ऐसा करें। दिन भर में ४ या ६ घंटे पट्टी ३-४ दिन रखें। रोगी को ६-७ दिन केवल मूँग की दाल का पानी दें। सात दिन बाद सामान्य हलका भोजन दें। फिर यह रोग नहीं होगा।

५. एन्जाइना (Angina) (रक्तवाहिनी नसों में सूजन, दर्द)

(क) एक लौकी (घिया) को प्रतिदिन मिक्सी में पीस कर उसका रस निकाल लें। मिक्सी में लौकी के साथ तुलसी और पुदीना के आठ-आठ पत्ते भी डाल दें। छान कर निकाले हुए रस में स्वाद के लिए थोड़ा सा सेंधा नमक डाल दें। थोड़ा पानी भी मिला दें। प्रतिदिन प्रातः और सायं इसका पान कम से कम १० दिन करें। यह अनुभूत प्रयोग है। आगे भी लौकी का प्रयोग जारी रखें। इन दिनों कोई खट्टी चीज न लें।

(ख) प्रतिनिद कम से कम २ किलोमीटर अवश्य भ्रमण करें।

६. कंठरोग (गर्दन में अकड़न, सूजन आदि)

(क) प्रतिदिन प्रातः ब्रह्ममुद्रा ५ मिनट करें। ब्रह्ममुद्रा के नियमित अभ्यास से कंठ के सभी रोगों में लाभ होता है और कंठ के रोग नहीं होने पाते।

७. कान बहना (कान में पीब या मवाद)

(क) नीबू का रस एक या दो बूँद कान में डालें और २-३ बूँद पड़ा हुआ रूई का फाहा कान में लगा दें। कान के चारों ओर भी नीबू रगड़ दें। ऐसा दो-तीन दिन करें। कान बहना बन्द हो जाएगा।

(ख) गेंदे के फूल का रस निकालकर एक शीशी में रख लें। उसकी दो या तीन बूँद तीन-चार दिन कान में डालें।

८. कान के सामान्य रोग (कान का दर्द आदि) (Earache)

(क) अदरक का रस निकाल कर एक शीशी में रख लें। उसकी दो या तीन बूँद कान में डालने से कान का दर्द, कान बन्द होना एवं बहरापन ठीक होता है।

(ख) १०० ग्राम सरसों के तेल में तुलसी की ८-१० बत्ती डालकर धीमी आँच पर पका लें। पत्ते जल जाने पर उतार कर छान लें। शीशी में रख लें। प्रतिदिन दोनों कान में २ बूँद डालने से कान दर्द आदि में लाभ होता है।

(ग) प्रतिदिन सरसों के तेल की एक-एक बूँद दोनों कान में डालने से कानों की श्रवणशक्ति बनी रहती है। कान के रोग नहीं होने पाते।

९. खाँसी (Cough)

(क) भस्त्रिका प्राणायाम प्रतिदिन ५ मिनट करना बहुत लाभप्रद है।

(ख) तीन मुनक्का बीज निकाल कर तवे पर गर्म कर लें। उसमें जरा सी पिसी काली मिर्च डालकर चूसें। दिन में तीन या चार बार लें। खाँसी उग्र होने पर अधिक बार भी ले सकते हैं। बहुत लाभप्रद है।

(ग) अदरक का रस १० ग्राम में शहद १० ग्राम मिलाकर प्रतिदिन लें। इससे दमे वाली खाँसी भी ठीक होती है।

(घ) खाँसी में ये आसन लाभप्रद हैं—पश्चिमोत्तान, कोणासन, धनुरासन।

(ङ) सितोपलादि चूर्ण एक ग्राम शहद मिलाकर दिन में ३-४ बार लें।

(च) गाजर का रस तीन-चार घूँट गुनगुना गर्म करके लें। दिन में दो बार ले सकते हैं।

१०. गर्दन का दर्द, स्पोन्डिलाइटिस (Spondylitis)

(क) ब्रह्ममुद्रा का अभ्यास तीन या पाँच मिनट प्रतिदिन करें। बहुत लाभप्रद है।

(ख) भुजंगासन और शलभासन पाँच-पाँच मिनट प्रतिदिन करें। बहुत लाभप्रद है।

(ग) ये आसन भी उपयोगी हैं—वज्रासन, कोणासन, धनुरासन और शवासन।

(घ) सरसों या अरण्डी के तेल की मालिश रीढ़ की हड्डी पर ऊपर से नीचे की ओर १५-२० दिन करवावें।

(ङ) नाड़ी-शोधन प्राणायाम और अग्निसार क्रिया भी उपयोगी हैं।

११. गलग्रन्थि, टॉन्सिल बढ़ना (Tonsillitis)

(क) उज्जायी प्राणायाम प्रतिदिन नियम से दो मिनट करें।

(ख) ये आसन उपयोगी हैं—पश्चिमोत्तान, त्रिकोणासन, सर्वांग और शवासन।

(ग) गर्म पानी में नमक डालकर गरारे करें।

(घ) गुनगुने पानी में थोड़ा सेंधा नमक डालकर उससे जलनेति करें।

(ङ) तीन-चार दिन केवल फलों का रस लें और उबली हुई सब्जी एवं उसका रस लें।

१२. चर्मरोग (Skin Diseases)

(क) प्रतिवर्ष अप्रैल-मई में नीम की १५-२० कोंपल या पत्तों का रस ४० से ६० दिन प्रातः पी लें। इससे वर्ष भर चर्मरोग की शिकायत नहीं होगी।

(ख) नीम के १०० ग्राम पत्ते एक बाल्टी पानी में रात्रि में भिगो दें। उस पानी से स्नान करें। इस प्रकार पाँच या सात दिन करने से चर्मरोग की सभी शिकायत दूर होगी।

(ग) खाज, खुजली (Itching, Pruritus) में आँवले के २ ग्राम चूर्ण को एक लीटर पानी में भिगोकर रख दें। उस पानी को दिन में ३-४ बार खाज वाले स्थान पर लगावें और उस पानी को दिन में प्यास लगने पर पीने से लाभ होता है।

(घ) **दाद (Ring Worm)**

१. दाद और खाज पर पुदीने का रस लगाने से लाभ होता है।

२. तुलसी की ८-१० पत्तियों को नीबू के रस में पीस लें। इस रस को दाद और खाज वाले स्थान पर लगाने से दाद-खाज ठीक हो जाते हैं।

(ङ) **रक्त-विकार**

एक गिलास पानी में १०-१२ काले मुनक्के रात को भिगो दें। प्रातः उसे मसलकर बीज निकाल दें और उसमें एक छोटी चम्मच भर त्रिफला का चूर्ण मिलाकर उस पानी को पी लें। सात दिन ऐसा करें। इससे रक्तविकार, कब्ज और पित्त-दोष दूर हो जाते हैं।

१३. चोट, मोच (Injury, sprain)

(क) एक छोटी चम्मच पिसी हल्दी मुँह में डालकर ऊपर से गर्म दूध लें। दिन में दो बार ले सकते हैं। इससे खून जमने नहीं पाता।

(ख) हल्दी और खाने का चूना एक साथ पीसकर गर्म करके चोट वाले स्थान पर लेप करें। इससे सूजन उतरती है।

(ग) इमली के पत्तों को उबालकर पीस कर चोट-मोच के स्थान पर बाँधने से सूजन उतर जाती है।

(घ) बबूल के बीजों का चूर्ण एक या दो ग्राम शहद के साथ तीन दिन लेने से टूटी हुई हड्डी जुड़ जाती है।

(ङ) बड़ के कोमल पत्तों पर शहद लगाकर बाँधने से चोट-मोच के कारण जमा खून या गाँठ फटकर ठीक हो जाता है।

१४. जलना (Burns)

(क) जले हुए स्थान पर कच्चा आलू पीस कर लगावें। लाभप्रद है।

(ख) हल्दी पीसकर उसका पानी जले हुए स्थान पर लगावें।

(ग) जले स्थान पर अमृतधारा लगाना लाभप्रद है।

(घ) जले स्थान पर नारियल के तेल में हरड़ का चूर्ण लगाने से घाव शीघ्र ठीक होता है।

१५. जुकाम, सर्दी (Catarrh)

(क) गर्म पानी में चुटकी भर नमक डालकर दिन में २-३ बार गरारा करने से लाभ होता है।

(ख) तुलसी के ८-१० पत्ते के रस में उतना ही अदरक का रस मिला लें। उसमें एक चम्मच शहद मिलाकर दिन में २-३ बार लें।

(ग) रात में प्रतिदिन सरसों का तेल गुनगुना गर्म करके १ या २ बूँद नाक में डालें। इससे नजला-जुकाम नहीं होता।

१६. ज्वर (बुखार, Fever)

(क) सोंठ, काली मिर्च पिसी एवं तुलसी के ८-१० पत्ते २ कप पानी में उबाल कर छान लें। उसमें चीनी मिला लें और आधे नीबू का रस निचोड़ कर पीवें। ऐसा दिन में दो या तीन बार करें। सामान्य बुखार उतर जाता है।

(ख) सितोपलादि चूर्ण में एक चम्मच शहद मिलाकर दिन में २ या ३ बार चाटें।

(ग) तुलसी की पत्ती का रस १० ग्राम और अदरक का रस ५ ग्राम मिलाकर गुनगुना करके पीने से मलेरिया ज्वर में लाभ होता है।

(घ) भुट्टा (मक्का) के ऊपर के दाढ़ीनुमा पतले बाल ले लें। उन्हें १०० ग्राम पानी में उबालकर छान लें और चीनी मिलाकर पीवें। ऐसा दिन में ३-४ बार करें। यह मलेरिया बुखार की उत्तम ओषधि है।

(ङ) अदरक और पुदीने के ८-१० पत्ते उबालकर छान लें। इसमें चीनी

मिला लें। इस गर्म काढ़े को देने से शीघ्र पसीना आता है और ज्वर उतर जाता है। यह शीत ज्वर में लाभप्रद है।

१७. तनाव (Tension, Stress, Strain)

(क) शवासन १०-१५ मिनट प्रतिदिन करें। शरीर पूरा ढीला छोड़ दें। मन ही मन 'ओम्' का जप करते रहें। १०-१५ दिन में पूर्ण लाभ होगा।

(ख) प्रतिदिन प्रातः सूर्योदय से पूर्व और रात्रि में सोने से पूर्व शान्त चित्त होकर १५ मिनट ध्यान करें। भ्रूमध्य में अपना ध्यान केन्द्रित करें।

(ग) लम्बे श्वास-प्रश्वास, अनुलोम-विलोम प्राणायाम, शीतली प्राणायाम तनाव दूर करने के लिए विशेष उपयोगी हैं।

(घ) प्रतिदिन पश्चिमोत्तान, भुजंगासन और सर्वांग आसन करें।

(ङ) मन में कोई चिन्ता की बात न आने दें। १५ मिनट खुलकर जोर से हँसें।

१८. थकान (Fatigue)

(क) शवासन ३ से ५ मिनट करें। थकान दूर करने के लिए रामबाण है।

(ख) नियमित रूप से प्रातः ५ से १० मिनट ध्यान करें।

(ग) प्रातः खुली हवा में २० या २५ बार लम्बे श्वास लें।

(घ) जब भी थकान मालूम चले, काम रोककर २ मिनट विश्राम कर लें।

१९. दंश (Sting, Bite) (ततैया, कीड़ा, बर्र, बिच्छू आदि का काटना)

(क) विषैले कीड़े के काटे हुए स्थान पर नीबू का रस मलें।

(ख) अमृतधारा ४-५ बूँद रुई में लेकर लगावें।

(ग़) थोड़े से जल में इमली का बीज घिसें। इमली के उस रस को काटे हुए स्थान पर लगा दें और उस पर इमली का बीज चिपका दें। इमली का बीज पूरा विष खींच लेगा। यह बिच्छू के काटे का भी इलाज है।

२०. दमा (Asthma)

(क) खुली हवा में खड़े होकर या बैठकर श्वास भरें और 'ओम्' बोलते हुए सिर झुकाते हुए अपनी ठोडी को कंठकूप में लगावें और ओम् बोलते रहें। इसी प्रकार २० या २५ बार करें। यह पुराने दमा को भी ठीक कर देता है।

(ख) तीन से पाँच मिनट प्रतिदिन शंख बजावें।

(ग) प्रतिदिन जलनेति करें। सप्ताह में दो बार कुंजल क्रिया करें।

(घ) खुली हवा में प्रतिदिन २५-३० गहरे लम्बे साँस लें।

(ङ) पश्चिमोत्तान, मत्स्यासन और शवासन प्रतिदिन ५ मिनट करें।

(च) प्रयत्न करके दिन में दायाँ स्वर अधिक समय चालू करें।

(छ) प्रातः सूर्योदय के समय १५ मिनट सूर्य की किरणें छाती पर लें।

(ज) भस्त्रिका और कपालभाति प्राणायाम ५ मिनट करें। बहुत लाभप्रद हैं।

२१. दर्द (घुटना आदि में)

(क) घुटने में दर्द या सूजन होने पर आधा नीबू लेकर उसे घुटने पर खूब रगड़ें। शरीर में किसी भी स्थान पर दर्द या सूजन हो तो नीबू को छिलके सहित खूब रगड़ें। आवश्यकतानुसार दिन में तीन-चार बार नीबू रगड़ें। सूजन और दर्द दूर होगा।

(ख) इच्छाशक्ति प्रबल करके घुटने आदि को २५-५० बार उठावें-रखें। जितना उस अंग को चलाएंगे, उतना लाभ होगा।

(ग) एक्यूप्रेसर (Acupressure) विधि से दर्द वाले स्थान को अंगूठे से जोर से ३०-४० बार दबावें-छोड़ें। दर्द तुरन्त कम होता है।

२२. दस्त (Diarrhea)

(क) अमृतधारा २ या ३ बूँद पानी, बताशा या चीनी में दिन में ३-४ बार लें। आवश्यकता होने पर आधे-आधे घंटे पर भी ले सकते हैं। अत्यन्त लाभप्रद है।

(ख) अर्क-पुदीना पानी में ५-६ बूँद दिन में ३-४ बार लें।

(ग) पुदीना के हरे-पत्ते का रस जरा सा पिसा काला नमक मिलाकर एक या दो चम्मच दिन में ३-४ बार लें। शीशम के पत्ते का रस भी इसी प्रकार लें। लाभप्रद है।

(घ) रोगी को पानी में आधा नीबू का रस, जरा सा नमक और थोड़ी चीनी मिलाकर एक-एक घंटे पर दें।

(ङ) गाजर का रस पीने से पुराने दस्त और आंव भी ठीक हो जाते हैं।

(च) दस्त में उड्डीयान बन्ध लगाना लाभप्रद है।

(छ) सौंफ और जीरा समभाग लेकर तवे पर भून कर पीस लें। दिन में ३-४ बार तीन-तीन ग्राम पानी से लें।

(ज) जामुन के २०-३० पत्ते लेकर पीस लें। उसमें थोड़ा-सा सेंधा नमक मिलाकर उसकी गोली बना लें। उसकी १-१ गोली प्रातः और सायं पानी से लें। इससे तेज दस्त भी बन्द हो जाते हैं।

२३. दाँत के रोग (Toothache)

(क) **दाढ़ का दर्द**—कपूर की गोली दाढ़ के नीचे रखें। लौंग के तेल में भिगोया हुआ रूई का फाहा भी लाभप्रद है।

(ख) **दाँत की सफाई**—नीबू के छिलके पर थोड़ा-सा सरसों का तेल डालकर दाँत और मसूड़ों पर रगड़ें। दाँत और मसूड़े मजबूत होंगे।

(ग) **पायरिया**—(१) दाँत और मसूड़ों पर प्रातः और सोने से पूर्व नीबू का टुकड़ा लेकर उसे रगड़ें। (२) सरसों के तेल में सेंधा नमक पिसा हुआ मिलाकर दाँतों पर रगड़ें। इससे रक्त निकलना बन्द होगा और पायरिया समूल नष्ट होगा।

२४. नाक के रोग (Nose)

(क) प्रतिदिन नियमित रूप से जलनेति करें।

(ख) प्रतिदिन नाक के दोनों छिद्रों में सरसों का तेल दो-दो बूँद डालें। नाक के रोगों से मुक्ति होगी।

२५. नेत्र रोग (Eye-diseases)

(क) प्रतिदिन गुलाबी फिटकरी का पानी आई-कप (Eye-wash glass) में तैयार करके क्रमशः दोनों आँखों को ८-१० बार उस जल में खोलें और बन्द करें। इससे कोई नेत्ररोग नहीं होगा।

(ख) प्रतिदिन सोने से पूर्व पैर के तलबे में सरसों के तेल की मालिश करें। नहाने से पूर्व पैर के अँगूठे में पूरी तरह सरसों का तेल लगावें। कोई नेत्ररोग नहीं होगा।

(ग) प्रतिदिन जल-नेति करें।

२६. पथरी (अश्मरी, Gall-stone)

(क) वरुण की छाल १०० ग्राम लेकर कूटकर छोटा कर लें। लगभग ४०० ग्राम पानी में उसे रात्रि में भिगो दें। प्रातः छाल सहित उस पानी को उबालकर काढ़ा बना लें। जब पानी आधे से कम रह जावे, तब उतार कर छान लें। उस पानी को पी जावें। स्वाद अच्छा नहीं होता, अतः ऊपर से साफ पानी पी लें। २०-२५ दिन ऐसा करने पर पथरी स्वयं गलकर पेशाब के रास्ते निकल जाती है।

(ख) नीबू के रस में सेंधा नमक डालकर नियमित रूप से २०-२५ दिन पीने से पथरी गलकर निकल जाती है।

(ग) प्रतिदिन २५ ग्राम कच्चे आलू के रस और २५ ग्राम गाजर के रस में ५० ग्राम पानी मिलाकर पी लें। इससे पित्ताशय पथरी एक मास में निकल जाती हैं।

(घ) गुर्दे की पथरी के लिए दो दिन केवल नारियल का पानी लें। दर्द उठने पर १५-२० मिनट क्रमशः गर्म पानी और ठंडे पानी से सेक करें। इससे पथरी गल कर पेशाब के रास्ते निकलती है। १५-२० दिन खान-पान में पूरा परहेज रखें।

२७. पसली का दर्द (Ribs)

(क) पसली का दर्द दूर करने के लिए नियमित रूप से कोणासन करें।

२८. पांडुरोग, पीलिया (Jaundice)

(क) **सूर्यकिरण-चिकित्सा**—रोगी को प्रातः २-३ घंटे धूप में लिटा दें। धूप सारे अंगों पर पड़े। १०-१२ दिन में पूर्ण नोरोगता प्राप्त होगी।

(ख) शहद के साथ ४ ग्राम त्रिफला चूर्ण २०-२५ दिन प्रतिदिन २ बार लें। एक मास में रोग पूर्णतया नष्ट होगा।

(ग) पके केले का छिलका जरा सा हटा कर उस पर भीगा हुआ चूना १ चने के बराबर लगा दें। रात में उसे ओस में रखें। प्रातः उस केले को खिला दें। १५-२० दिन में लाभ होगा।

२९. पीठ का दर्द (Backache)

(क) भुजंगासन प्रतिदिन १०-१२ बार करें। बहुत लाभप्रद है।

(ख) शलभासन ५-६ बार करें। पेट के बल लेटकर श्वास भरकर पहले बारी से एक-एक पैर ऊपर उठावें, फिर दोनों पैर ५-६ बार उठावें। २०-२५ दिन में रोग दूर हो जाएगा।

(ग) सरसों के तेल की मालिश रीढ़ की हड्डी पर ऊपर से नीचे ५ मिनट करें।

(घ) नाड़ीशोधन प्राणायाम और अग्निसार क्रिया भी लाभप्रद हैं।

३०. पेट के रोग (Abdomen)

(क) बैठकर पश्चिमोत्तान आसन दो मिनट प्रतिदिन करें।

(ख) भोजन से पूर्व आधे नीबू को एक गिलास पानी में निचोड़ लें और उसमें थोड़ा सा सेंधा नमक डालकर पी लें। अजीर्ण, मन्दाग्नि दूर होगी।

(ग) भोजन के समय थोड़ी दही में भुना-पिसा जीरा, काली मिर्च और सेंधा नमक डालकर लें। इससे अपच दूर होगा।

(घ) बच्चों के पेट-दर्द में हींग को पानी में घिसकर पेट पर लगावें। जरा सी हींग पानी के साथ लेने से पेट-दर्द दूर होगा।

(ङ) प्रातः एक गिलास पानी में १०-१५ बूँद पुदीने का रस या अर्क और १५-२० ग्राम शहद मिलाकर पीने से गैस की बीमारी दूर होती है।

(च) पेट-दर्द में हर्र का आधा चम्मच चूर्ण पानी के साथ लें।

३१. पौरुष ग्रंथि बढ़ना, पेशाब रुकना (Prostate Glands)

(क) कद्दू के बीज (कच्चे या पक्के) ५ या ६ प्रतिदिन दोबार पानी से लें। १५-२० दिन में रोग नियन्त्रण में आ जाता है।

(ख) होम्यो० ओषधि लाइकोपोडियम 1 M. सप्ताह में एक बार पाँच बूँद पानी में डालकर लें। केन्थरिस २०० और नक्सवामिका २०० प्रतिदिन तीन बार ५-५ बूँद पानी में लें। इससे एक मास में मूत्र रुकने का कष्ट दूर हो जाता है।

३२. फोड़ा, फुंसी (Boils, Eruptions)

(क) बायोकेमिक ओषधि-सिलिसिया 6 X दो गोली दिन में ३ बार गर्म पानी से लेने से फोड़ा पकता है। बैठना होगा तो बैठ जाएगा। सिलिसिया 200 X और कल्केरिया सल्फ 200 X दोनों बारी-बारी से २-२ गोली दिन में ३ बार लें। ये दोनों फोड़ा सुखाने के लिए हैं। ये दोनों नासूर तक को ठीक कर देती हैं।

(ख) सुहागा पीस कर लगाने से रक्त बहना तुरन्त बन्द हो जाता है और घाव शीघ्र भर जाता है।

(ग) त्रिफला के पानी से घाव धोने पर घाव शीघ्र ठीक होता है।

(घ) गेहूँ के आटे में नमक और पानी डालकर कड़ा घोल बना लें। उसे गर्म करके पुल्टिस बना लें। यह पुल्टिस फोड़े पर लगाने से फोड़ा शीघ्र पककर फूट जाता है।

३३. बवासीर, अर्श, मस्से (Piles, Haemorrhoids)

(क) नारियल के ऊपर की जटा (दाढ़ी नुमा) को आग में जला लें। उसे कपड़छन करके डिब्बे में रख लें। दही (अधिक खट्टी न हो) १०० ग्राम में २५ ग्राम के लगभग वह नारियल के छाल की राख डालकर प्रातः पी लें। डेढ़ घंटे बाद नाश्ता आदि करें। ३ या ४ दिन ऐसा करने से सभी प्रकार की बवासीर ठीक हो जाती है। यह बहुत अनुभूत नुस्खा है।

(ख) अश्विनी मुद्रा और मूलबन्ध २०-२० बार करें। लाभ होता है।

(ग) दो लीटर ताजी छाछ (तक्र, मट्ठा) लेकर उसमें भुना-पिसा जीरा ५० ग्राम और थोड़ा सा नमक मिला दें। पूरे दिन पानी की जगह यही मट्ठा पीएँ। ४ दिन ऐसा करने से मस्से ठीक हो जाएँगे। मट्ठा ७ दिन पीना अधिक लाभप्रद है।

३४. बेड सोर (Bed-sore) पीठ के नीचे घाव

(क) **सूर्यकिरण चिकित्सा**—रोगी को प्रातः बिस्तर पर धूप में लिटा दें। एक बड़ा शीशा रोगी के पास इस प्रकार रखें की सूर्य की किरणें शीशे से परावर्तित होकर सीधे घाव पर पड़ें। लगभग २ घंटा इस प्रकार एक सप्ताह तक प्रतिदिन प्रातः सूर्य-स्नान करावें। एक सप्ताह में ही घाव पूरा ठीक हो जाएगा। यह अनुभूत नुस्खा है। अन्य घावों में भी यह विधि अपनाने से पूरा लाभ होगा।

३५. मधुमेह (Diabetes)

(क) ये आसन लाभ देते हैं— पश्चिमोत्तान, जानुशिरासन, उत्तानपाद, नौकासन और हलासन। इन्हें ५-५ बार करें।

(ख) भस्त्रिका प्राणायाम और उड्डीयान बंध तीन-तीन मिनट करें।

(ग) सप्ताह में दो दिन कुंजल क्रिया करें।

(घ) जामुन, नीम कड़वी, बेल और तुलसी के १००-१०० ग्राम पत्ते अलग-अलग सुखा लें। फिर इन चारों पत्तों को कूट-पीसकर इकट्ठा छान लें। इसे एक डिब्बे में रख लें। प्रतिदिन प्रात: १ चम्मच यह पाउडर (चूर्ण) पानी से लें। इससे मधुमेह सदा नियंत्रण में रहेगा। बढ़ेगा नहीं।

(ङ) दिन भर में ३-४ बार एक-एक करेले का रस लें। जामुन के हरे पत्ते ४-५ पीसकर खाना लाभप्रद है।

(च) खाना खाने के तुरन्त बाद पेशाब जाएँ। इससे मधुमेह की सम्भावना कम रहती है।

३६. मूत्ररोग (Urine troubles)

(क) मूत्र-सम्बन्धी रोगों में शहद में त्रिफला चूर्ण मिलाकर लेने से बहुत लाभ होता है।

(ख) ५० ग्राम करेले के पत्तों के रस में थोड़ा सा हींग मिलाकर देने से पेशाब खुलकर होता है।

(ग) १०० ग्राम चावल को १ लीटर पानी में पकावें और उसका मांड पीवें। इससे मूत्ररोग में लाभ होता है।

३७. मोटापा (Fatness)

(क) पश्चिमोत्तान आसन बैठकर और खड़े होकर १०-१२ बार करें। पैर का अंगूठा पकड़ने का प्रयत्न करें। सिर घुटने से लगाने का प्रयास करें। घुटने न मुड़ें।

(ख) एक गिलास गुनगुने पानी में एक चम्मच शहद मिलाकर दिन में २-३ बार पीवें। एक मास ऐसा करने से मोटापा कम जो जाएगा।

(ग) भस्त्रिका प्राणायाम और बाह्य कुंभक ८-१० बार प्रतिदिन करें। मोटापा कम होगा।

(घ) सादा खाना खावें। तली-भुनी और चिनाई की चीजें न लें।

३८. यकृत् (जिगर) और प्लीहा (तिल्ली) के रोग (Liver and Spleen ailments)

(क) अग्निसार क्रिया ३ से ५ मिनट प्रतिदिन करें।

(ख) योगमुद्रा ८ या १० बार प्रतिदिन करें।

(ग) सप्ताह में दो दिन कुंजल क्रिया करें।

(घ) नाड़ी-शोधन प्राणायाम, विपरीतकरणी मुद्रा और हलासन तीन-तीन बार करें। शवासन ५ मिनट करें।

(ङ) नीबू को बीच में से काटकर दो टुकड़े कर लें। उसे तवे पर गर्म कर लें और उसमें थोड़ा काला नमक मिलाकर चूसें। इससे बढ़ी हुई तिल्ली ठीक हो जाती है। ऐसा करने से पीलिया भी ठीक हो जाता है।

(च) प्रतिदिन प्रातः खाली पेट साबुत चावल के १०-१२ दाने पानी से निगल जाएँ। इससे जिगर के रोगी को आराम मिलता है।

३९. रक्तचाप (Blood-pressure)

(क) उच्च रक्तचाप (High Blood-pressure)

१. प्रतिदिन ८ से १० बार शीतली प्राणायाम प्रतिदिन करें।

२. प्रातः और सायं शवासन ५ मिनट अवश्य करें। बहुत लाभप्रद है।

३. क्रोध और मानसिक चिन्ता से सर्वथा बचें।

४. दो चम्मच त्रिफला का चूर्ण सोते समय रात्रि में पानी से लें।

५. प्रतिदिन १०-१५ मिनट 'ओम् शान्तिः शान्तिः' का जप करें।

(ख) निम्न रक्तचाप (Low Blood-pressure)

१. भस्त्रिका प्राणायाम ३ से ५ मिनट प्रतिदिन करें।

२. शलभासन, पश्चिमोत्तान, पवन-मुक्तासन और विपरीतकरणी मुद्रा ३ से ५ बार प्रतिदिन करें।

३. शवासन दिन में दो या तीन बार ५-५ मिनट करें।

४. कपालभाति और अनुलोम-विलोम प्राणायाम ५-५ मिनट करें।

५. प्रातः उदय होते हुए सूर्य की किरणें १०-१५ मिनट छाती पर लें।

६. रात्रि में २०-२५ दाने किशमिश के पानी में भिगो दें। प्रातः इन्हें खा लें।

४०. रक्ताल्पता, खून की कमी (Anaemia)

(क) प्रतिदिन प्रातः उदय होते हुए सूर्य की किरणें १५-२० मिनट छाती पर लें। यह अति लाभप्रद प्रयोग है।

(ख) पश्चिमोत्तान आसन, भुजंगासन और सर्वांग आसन कम से कम ३-३ बार करें।

(ग) प्रातः खुली हवा में २०-२५ लम्बे श्वास प्रतिदिन अवश्य लें।

(घ) गाजर या पालक का रस १ गिलास प्रतिदिन अवश्य लें।

(ङ) रात्रि में २०-२५ दाने किशमिश के पानी में भिगो दें। प्रातः खा लें और पानी पी लें।

४१. वायु-विकार (Gas Troubles)

(क) कुंजल क्रिया सप्ताह में दो दिन अवश्य करें। इसके लिए जल गुनगुना लें और उसमें थोड़ा नमक डाल लें।

(ख) अग्निसार क्रिया ३ से ५ मिनट करें।

(ग) भुजंगासन, शलभासन और पवनमुक्तासन ३-३ बार करें।

(घ) प्रातः एक गिलास पानी में आधा नीबू का रस डालकर पीवें।

(ङ) गैस के कारण सिरदर्द हो तो पेट पर थोड़ा हींग पानी में घिसकर नाभि और उसके चारों ओर लेप करें।

(च) रात्रि में एक कप पानी में दो हरें भिगो दें। प्रातः उस पानी को पी लें।

(छ) तीन घंटे के अन्तर से ही हलका भोजन करें। उससे पहले नहीं।

४२. वातरोग (Gout, Arthritis)

(क) वज्रासन ५ या १० मिनट प्रतिदिन करें।

(ख) एक किलो मेथी सुखाकर भून लें। उसे पीस कर कपड़छन करके डिब्बे में रख लें। प्रतिदिन एक चम्मच वह चूर्ण पानी से प्रातः और सायं लें। यह घुटने के वातरोग में भी लाभ देता है।

(ग) एक गिलास पानी में पिसी हुई सोंठ एक या डेढ़ चम्मच डालकर उबाल लें। जब पानी आधा रह जाए तो छानकर उसमें एक चम्मच अरण्डी का तेल डालकर सोने के समय एक सप्ताह लें। यह प्रयोग सायटिका और लकवे में भी लाभप्रद है।

(घ) कमर के वातरोग में उत्तानपाद आसन, धनुरासन, और भुजंगासन लाभप्रद हैं।

(ङ) सायटिका में पीड़ित भाग पर अरण्डी का तेल लगाकर उसके ऊपर गर्म किए हुए अरण्डी के पत्ते रखकर बाँधने से लाभ होता है।

४३. विष-चिकित्सा (Anti-poison)

(क) विषैले कीड़े, ततैया, बर्रे आदि के काटने पर आधा नीबू लेकर उस स्थान पर दो मिनट रगड़ें। विष उतर जाएगा।

(ख) इमली का बीज पत्थर पर २-४ बूँद पानी डालकर घिसें। बिच्छू आदि के काटे स्थान पर इमली के उस घिसे पदार्थ को लगा दें और वह घिसा हुआ इमली का बीज भी वहीं चिपका दें। दो-चार मिनट में बिच्छू का विष उतर जाएगा।

(ग) किसी केमिस्ट के यहाँ से पोटेशियम-परमैंगनेट (Patassium permanganate) और साइट्रिक एसिड (Citric Acid) लेकर अलग-अलग शीशी

में उनका पाउडर रखें। बिच्छू के डंक वाले स्थान पर दोनों का मूंग की दाल के बराबर पाउडर डालें और उसके ऊपर एक या दो बूँद पानी डालें। तुरन्त वहाँ उबाल आएगा और विष उतर जाएगा। यह अनुभूत दवा है।

४४. संधिवात, जोड़ों का दर्द (Rheumatic Pain)

(क) ये आसन लाभप्रद हैं—पश्चिमोत्तान, भुजंग, उत्तानपाद, पवनमुक्त, हल और सर्वांग। इनमें से कोई दो या तीन आसन प्रतिदिन ४-४ बार करें।

(ख) भस्त्रिका, कपालभाति और अग्निसार प्राणायाम लाभकारी हैं। कोई दो प्राणायाम प्रतिदिन ५ मिनट करें।

(ग) सप्ताह में दो बार कुंजल क्रिया करें।

(घ) गाजर का रस विशेष लाभकर है। गरिष्ठ भोजन न करें।

४५. सायटिका (Sciatica)

(क) भुजंगासन, शलभासन, वज्रासन, पश्चिमोत्तान, पादोत्तान आसन और शवासन ५ से १० मिनट प्रतिदिन करें।

(ख) रात्रि में अरण्डी का तेल गर्म करके पीड़ित भाग पर लगावें और अरण्डी के पत्ते गर्म करके उस स्थान पर रखकर पट्टी बाँध दें। प्रातः पट्टी खोल दें। इससे लाभ होता है।

(ग) लहसुन की १० कलियों को १०० ग्राम दूध में थोड़ा पानी डालकर पकावें। पानी जल जाने पर उतार लें। लहसुन खा लें और ऊपर से दूध पी लें। इससे सायटिका में लाभ होता है।

४६. सिर-दर्द (Headache)

(क) प्रातः एक गिलास सादा पानी नाक से पीना बहुत लाभप्रद है। जाड़े के दिनों में पानी गुनगुना कर लें और उसमें थोड़ा सा सेंधा नमक मिलाकर नाक से पीवें।

(ख) प्रतिदिन नाक के दोनों छिद्रों में सरसों का तेल दो-दो बूँद डालकर तेल को ऊपर खींचे। इससे सिरदर्द नहीं होने पाता।

(ग) सिरदर्द में ये आसन लाभकारी हैं—पश्चिमोत्तान, योगमुद्रा, भुजंगासन, हलासन, सर्वांग आसन और पवनमुक्तासन। इनमें से कोई भी दो आसन ५ से १० मिनट करें।

(घ) कपालभाति और अग्निसार क्रिया ३-३ मिनट करें।

४७. सिर की रूसी (Dandruff)

(क) नहाने से पूर्व नीबू का रस पूरे सिर में लगा लें। १० मिनट बाद स्नान करें। सप्ताह में एक या दो बार ऐसा करें। रूसी समाप्त होगी।

(ख) आधी कटोरी दही में दो चम्मच बेसन मिलाकर सिर में अच्छी तरह लगा दें। २० मिनट बाद स्नान करें। सप्ताह में एक या दो बार ऐसा करें।

(ग) एक कटोरी छाछ (मट्ठा) में १० ग्राम गुड़ डालकर सिर धोवें। रूसी दूर होगी।

(घ) एक कटोरी दही में पिसी हुई ८-१० काली मिर्च मिला लें। इससे सिर धोने से रूसी नष्ट होती है और बाल नहीं झड़ते।

४८. स्नायु-दुर्बलता (Nervous debility)

(क) **सूर्यकिरण चिकित्सा**—उदय होते हुए सूर्य की किरणें १५ मिनट छाती पर लें। शरीर पर हल्का वस्त्र रखें। खड़े या बैठकर दोनों प्रकार से कर सकते हैं।

(ख) पश्चिमोत्तान, वज्रासन, शलभासन, भुजंगासन, उत्तानपाद, जानु-शिरासन, सर्वांग में से कोई २ या ३ आसन प्रतिदिन १० मिनट करें। सभी लाभप्रद हैं।

(ग) प्राणायाम, अग्निसार क्रिया, त्रिबन्ध १० से १५ मिनट करें।

(घ) त्राटक का अभ्यास ५ से १० मिनट करें।

(ङ) रीढ़ की हड्डी पर सरसों के तेल की मालिश ऊपर से नीचे की ओर १० मिनट करावें।

४९. हृदय रोग (Heart diseases)

(क) हृदय की सभी बीमारियों के लिए सूर्यकिरण-चिकित्सा अनिवार्य है। उदय होते हुए सूर्य की अवरक्त किरणें कम से कम १५ मिनट छाती पर लें। इसे आधा घंटा कर सकते हैं। इससे सारे हृदय रोग दूर होंगे।

(ख) रोग के दिनों में दिन में तीन बार ५-५ मिनट शवासन करें।

(ग) कम से कम १० मिनट शान्त बैठकर प्रात: 'ओम्' का ध्यान करें।

(घ) दिन में दो बार गाजर, मूली, पालक या टमाटर का रस १ या २ कप पीवें।

(ङ) लौकी का रायता भोजन में लें। भोजन अत्यन्त सादा एवं सात्त्विक करें।

(च) दिल घबराता हो तो एक गिलास गुनगुने पानी में एक चम्मच शहद मिलाकर पी लें।

(छ) खुली हवा में कम से कम आधा घंटा घूमें।

(ज) योगमुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, पवनमुक्तासन एवं सामान्य प्राणायाम १० से १५ मिनट करें।

(झ) एक गिलास गुनगुने पानी में एक नीबू निचोड़ दें और उसमें थोड़ी मिश्री मिला कर पीवें। ऐसा दिन में दो बार करें। इससे हृदय की धड़कन सामान्य होती है।

५०. हृदय-आघात (Heart Attack)

हृदय-आघात की सर्वोत्तम चिकित्सा 'अपान मुद्रा' है। तर्जनी को अंगूठे की जड़ (मूल) में लगावें और मध्यमा एवं अनामिका (नं० २ और ३ अंगुली) को अंगूठे के अग्रभाग में लगावें। कनी अंगुली को सर्वथा अलग रखें। यह अपान मुद्रा है। यदि इसे प्रतिदिन १५-२० मिनट करते रहें तो हार्ट-अटैक की शिकायत ही नहीं आएगी। यदि हार्ट अटैक हो गया है तो तुरन्त इसे आधा या एक घंटा करें। यदि तीव्र हृदय-आघात है तो अपान मुद्रा बिस्तर में पड़े हुए दोनों हाथों से २ से ३ घंटे करने पर पूर्ण आराम होगा। हृदय के रोगी को यह क्रिया प्रतिदिन २० से ३० मिनट नियमित रूप से करनी चाहिए। यह अनुभूत प्रयोग है।

❑

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. ऋग्वेद संहिता—श्री सातवलेकर, औंध, १९४०
२. यजुर्वेद संहिता—श्री सातवलेकर, औंध, १९४३
३. अर्थवेद संहिता—श्री सातवलेकर, पारड़ी, १९४६
४. सामवेद संहिता—श्री सातवलेकर, पारड़ी, १९५६
५. १०८ उपनिषद—व्यास प्रकाशन, वाराणसी, १९८३
६. पातञ्जल योग दर्शन—भाष्य स्वामी हरीहरानन्द, लखनऊ, १९५६
७. पातञ्जल योग प्रदीप—स्वामी ओमानन्द, गीता प्रेस, गोरखपुर, २०००
८. हठप्रदीपिका—स्वात्माराम, कैवल्प धाम, पूना, १९८०
९. घेरण्ड संहिता—घेरण्ड, कैवल्प धाम, पूना, १९७८
१०. योगवासिष्ठ—अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९७६
११. महाभारत शान्तिपर्व—गीता प्रेस, गोरखपुर, २००१
१२. राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, नागपुर, १९६१
१३. योगरहस्य—महात्मा नारायण स्वामी, दिल्ली, १९८९
१४. आसन—श्री दामोदर सातवलेकर, पारड़ी, १९५३
१५. योगसाधन की तैयारी—श्री दामोदर सातवलेकर, पारड़ी, १९५१
१६. आत्मविज्ञान—श्री स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती, दिल्ली १९८१
१७. बहिरंग योग—श्री स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती, ऋषिकेश, १९८५
१८. दिव्य ज्योति विज्ञान—श्री स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती, ऋषिकेश, १९८०
१९. योग-प्रदीप—श्री अरविन्द, पांडिचेरी, १९८१
२०. शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी—श्री गोपीनाथ कविराज, वाराणसी, २०००
२१. साधना से सिद्धि भाग १—आचार्य श्रीराम शर्मा, मथुरा, १९९८
२२. साधना से सिद्धि भाग २—आचार्य श्रीराम शर्मा, मथुरा, १९९८
२३. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्च स्तरीय साधनाएँ—आचार्य श्रीराम शर्मा, मथुरा, १९९८
२४. योग से रोगनिवारण—स्वामी शिवानन्द सरस्वती, कलकत्ता, १९६५
२५. ओमानन्द योगसाधना—स्वामी ओमानन्द, खंडवा, १९७८
२६. आत्मविज्ञानम्—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, ज्ञानपुर, १९९४
२७. आसन-प्राणायाम—डॉ० देवव्रत आचार्य, रोहतक, १९८२
२८. प्राणायाम, कुण्डलिनी एवं हठयोग—आचार्य भगवानदेव, नई दिल्ली १९९०
२९. आसन एवं योग विज्ञान—भारतीय योग संस्थान दिल्ली, २००१
३०. योग द्वारा हृदय-रोगोपचार—भारतीय योग संस्थान, दिल्ली, २०००

३१. योग द्वारा रोगों का उपचार—भारतीय योग संस्थान, दिल्ली, १९९६
३२. दीर्घायु के रहस्य—डॉ० विनयमोहन शर्मा, वि०वि०प्र०, वाराणसी, १९९५
३३. महावीर की साधना का रहस्य—मुनि नथमल, चुरू, राज० १९७८
३४. आरोग्य निधि—आशाराम जी आश्रम, अहमदाबाद, २००१
३५. श्री अरविन्द क्यों ?—ज्ञानचन्द्र, अरविन्द चेतना समाज, दिल्ली, २०००
३६. योग साधना—दुर्गाशंकर अवस्थी, वि०वि० प्रकाशन, वाराणसी, १९९८
३७. योगरश्मि—रामेश्वरदास गुप्त, नई दिल्ली, १९८८
३८. अखण्ड ज्योति—योगसाधना अंक, मथुरा, २००१
३९. विपश्यना—श्री सत्यनारायण गोयनका
४०. पॉल ब्रंटन—गुप्त भारत की खोज, विं०वि० प्रकाशन, वाराणसी, २००१

❑

निर्देशिका (Index)

(सूचना : अंक पृष्ठबोधक हैं)

	पृष्ठ
अ, आ	
अंग	४२
अग्निप्रदीप्त प्राणायाम	११६
अग्निसार	९६
अजीर्ण	२६६
अतिमानस तत्त्व	२०३
अतिमानस योग	२०४
अनाहत चक्र	७३
अनिद्रा	२६६
अनुलोम-विलोम प्राणायाम	११६
अन्तःकरण	२११
अन्तःकरण का स्वरूप	२११
अन्तःकरण-चतुष्टय	२११
अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ	५६
अन्तर्दृष्टि का विकास	२५५
अन्तर्मुखी ध्यान	१८२
अन्नमय कोश	४१, ७५
अपान-मुद्रा	१२८
अभ्यास और वैराग्य	१३७
अम्ल पित्त	२६७
अश्विनी मुद्रा	१२५
अस्थि-संस्थान	४२
अहंकार	२२५
अहंकार के त्रिगुणात्मक भेद	२१७
अहंकार तत्त्व	२१६
आज्ञाचक्र	७३
आनन्द का केन्द्र	१९२
आन्तरिक तप	२४६
आन्तरिक तप के ६ अंग	२४७
आन्त्रपुच्छ शोथ	२६७
आसन	२८

	पृष्ठ
आसनों की उपयोगिता	७५
उ, ऊ, ऋ, ए, ओ	
उज्जायी प्राणायाम	१११
उड्डीयान बन्ध	१०९, ११९
उत्तानपाद आसन	८२
उन्मनी मुद्रा	१२४
ऊतक	४२
ऋतंभरा प्रज्ञा	२१६, २३४
एड्रीनल ग्रन्थि	६०
एन्जाइना	२६७
ओजस् अग्नि	२५७
क, ख, ग	
कंठ रोग	२६७
कपालभाति	९५
कपालभाति प्राणायाम	११७
कर्मयोग	१९, १६७
काकी मुद्रा	१२५
कान के रोग	२६८
कान का बहना	२६७
कारण शरीर की ७ ज्योतियाँ	२६४
कुंजल क्रिया	९१
कुंडलिनी का महत्त्व	२२७
कुंडलिनी क्या है ?	२२६
कुंडलिनी-जागरण	२२६
कुंडलिनी-जागरण की विधि	२२९
कुंडलिनी-जागरण के दो रूप	२२८
कुंडलिनी शक्ति का जागरण	२६१
केन्द्रीय स्नायु-संस्थान	६२
केवली कुम्भक प्राणायाम	११५
कोणासन	८०
कोशिकाएँ	४१

	पृष्ठ		पृष्ठ
कोशिका योग	२०४, २०५	तनाव	२७१
खांसी	२६८	तप के लाभ	६
खेचरी मुद्रा	१२१	तप समाधि	२४४
गर्दन का दर्द	२६८	ताडासन	८०
गलग्रन्थि	२६९	तीन शरीर	३३
ग्रन्थि-तंत्र	५६	तेजस् अग्नि	२५९
च, ज		त्राटक	९४
चक्रों का विवरण	७१	त्रिबन्ध	१९४
चर्मरोग	२६९	त्रिबन्ध मुद्रा	१२५
चाक्षुष अग्नि	२५८	थकान	२७१
चारित्र समाधि	२५२	थाइमस ग्रन्थि	६०
चित्त	२२४	थाइराइड ग्रन्थि	५८
चित्त के त्रिगुणात्मक भेद	२१८	**द, ध, न**	
चित्त तत्त्व	२१८	दंश	२७१
चेतना का केन्द्र	१९३	दन्तधौति	९१
चोट, मोच	२६९	दमा	२७१
जलनेति	९३	दर्द	२७२
जलना	२७०	दर्शन-समाधि	२४९
जल मुद्रा	१२९	दस्त	२७२
जाठर अग्नि	२५९	दांत के रोग	२७२
जानु शिरासन	८२	दिव्य ज्योतियाँ	२५५
जालन्धर बन्ध	१०९, ११९	दिव्य २३ ज्योतियाँ	२५७
जिह्वा-बन्ध	१२०	दिव्य ज्योति-दर्शन	२५५
जुकाम, सर्दी	२७०	दीर्घायु के कुछ रहस्य	३६
जैनग्रन्थों में साधना-ध्यान	१८९	धनुरासन	८७
ज्योति-धारणा	१४९	धारणा	३०
ज्वर	२७०	धारणा का अर्थ	१४४
ज्ञानमुद्रा	१२८	धारणा का महत्त्व	१४४
ज्ञानयोग	१९, १६४	धारणा की विधियाँ	१४६
ज्ञान-समाधि	२४१	धारणा के लाभ	१५३
त, थ		धारणा के लिए कर्तव्य	१५२
तडागी मुद्रा	१२६	धारणा के सात प्रकार	१४७

	पृष्ठ		पृष्ठ
धारणा के अभ्यास की विधि	१४७	पसली का दर्द	२७४
धौति क्रिया	९०	पांच कोश	३४
ध्यान	३१	पाचक अग्नि	२५९
ध्यान का अर्थ	१५५	पाचन संस्थान	४४
ध्यान का उद्देश्य	१७०	पातंजल योग, ४ प्राणायाम	१०८
ध्यान का स्वरूप	१८०	पादहस्तासन	८०
ध्यानयोग की त्रिवेणी	१५८	पादोत्तान आसन	८४
ध्यान की प्रक्रियाएँ	१९६	पायरिया	२७३
ध्यान की विधि	१७८	पार्थिव धारणा	१४६
ध्यान के दो भेद	१८०	पिट्यूटरी, पीयूष ग्रन्थि	५८
ध्यान के पाँच प्रकार	१८६	पीठ का दर्द	२७४
ध्यान कैसे सार्थक बनता है	१७२	पीनियल ग्रन्थि	५६
ध्यान योग	२१, १५९	पीलिया, पांडुरोग	२७४
ध्यानयोग की आवश्यकता	१५७	पूर्णयोग का लक्ष्य	२००
ध्यानयोग के आधार १२ योग	१५६	पृथ्वी मुद्रा	१२९
ध्यानविधि के तीन सोपान	१८७	पेट के रोग	२७४
ध्यान-साधना की उपयोगिता	१७४	पैराथाइराइड ग्रन्थि	५९
ध्यान-साधना के प्रयोजन	१९५	पोषक अग्नि	२५९
नाक के रोग	२७३	पौरुष ग्रन्थि बढ़ना	२७४
नाडीशुद्धि प्राणायाम	१०५	प्रच्छर्दन प्राणायाम	११७
नाडीशोधन प्राणायाम	११६	प्रजनन तंत्र	६१
नियम	२५	प्रणाली, तंत्र	४२
नेति क्रिया	९३	प्रत्याहार	३०
नेत्र धौति	९२	प्रत्याहार का व्यापक रूप	१३४
नेत्र रोग	२७३	प्रत्याहार का स्वरूप	१३२, १३४
नौकासन	८३, ८६	प्रत्याहार की साधना	१४२
नौलि क्रिया	९५	प्रत्याहार देवासुर-संग्राम	१३५
प, फ		प्रत्याहार मनोनिग्रह की कला	१३६
पथरी	२७३	प्रत्याहार-साधना के विघ्न	१३७
पद्मासन	७८	प्राण और उपप्राण	९९
पवनमुक्तासन	८३	प्राण का केन्द्र	१९३
पश्चिमोत्तान आसन	८१	प्राण का विराट् रूप	९८

	पृष्ठ		पृष्ठ
प्राण का स्वरूप	९७	भस्त्रिका प्राणायाम	११२
प्राण के उपकेन्द्र	१९३	भास्वर अग्नि	२५८
प्राण क्या है?	९७	भुजंगासन	८६
प्राण-नियन्त्रण के उपाय	१९३	भ्रामरी प्राणायाम	११३
प्राणमय कोश	९७	भ्रूमध्य धारणा	१५०
प्राणमुद्रा	१३०	मणिपूर चक्र	७२
प्राणायाम	२८, ९७	मधुमेह	२७६
प्राणायाम का अर्थ	९८	मन	२२३
प्राणायाम का महत्त्व	१००	मन:चक्र (हृदय कमल)	१९७
प्राणायाम के प्रकार	१०४	मन और प्राण का संबन्ध	१३०
प्राणायाम के भेद	९८	मन का महत्त्व	२२२
प्राणायाम के लाभ	१०१	मन का व्यापक रूप	२२१
प्रान्तस्थ स्नायु-संस्थान	६९	मन की ज्योतियाँ	२६०
प्रायश्चित्त	२४६	मन के त्रिगुणात्मक भेद	२१२
प्लाविनी प्राणायाम	११४	मन मर्कटतुल्य है	१३५
फोड़ा, फुंसी	२७५	मनस्तत्त्व, कर्मप्रधान	२१२
ब, भ, म		मनोनिरोध के उपाय	१३७, १९३
बन्ध और मुद्राएँ	११८	मनोमय कोश	१३२
बवासीर, अर्श	२७५	मयूरासन	८८
बस्ति क्रिया	९२	मस्तिष्क	६२
बहिर्मुखी ध्यान	१७९, १८२	महाबन्ध	१२०
बाह्य तप	२४५	महामुद्रा	१२१
बाह्य धारणा के ५ प्रकार	१४६	महावेध मुद्रा	१२१
बिन्दु-धारणा	१४७	मांसपेशी संस्थान	४३
बुद्धि का महत्त्व	२२३	मातंगिनी मुद्रा	१२६
बुद्धि की ज्योतियाँ	२६१	मानव शरीर के संघटक	४१
बुद्धि के त्रिगुणात्मक भेद	२१५	मानसिक ध्यान की ४ अवस्थाएँ	१९९
बुद्धितत्त्व, ज्ञानप्रधान	२१४	मूत्ररोग	२७६
बेड सोर	२७५	मूर्च्छा प्राणायाम	११४
बौद्ध साधना में ध्यान	१८६	मूलबन्ध	१०९, ११८
ब्रह्म मुद्रा	१२७	मूलाधार चक्र	७२
भक्ति योग	२०, १६१	मेरुरज्जु	६४
		मोटापा	२७६

पृष्ठ

य, र, ल, व

यकृत्, प्लीहा २७६
यम २३
योग और रोगनिवारण २६५
योग का अर्थ १
योग की उपयोगिता १
योग की विभिन्न विधियाँ १८
योग के आठ अंग २३
योग क्या है? १
योग मुद्रा १२८
योगवासिष्ठ में अन्तःकरण-चतुष्टय २२०
योगासन ७५
योनिमुद्रा १२३
रंजक अग्नि २५९
रक्तचाप २७७
रक्त-संचार-संस्थान ४९
रक्ताल्पता २७७
राजयोग १८
लिंग मुद्रा १३०
वज्रासन ७९
वज्रोलि मुद्रा १२३
वमन धौति ९१
वस्त्र धौति ९१
वायु मुद्रा १२९
वात रोग २७८
वायु-विकार २७८
विनय-समाधि २३९
विपरीतकरणी आसन ८५
विपरीतकरणी मुद्रा १२२
विपश्यना साधना १८६
विभाजक अग्नि २५९

पृष्ठ

विशुद्ध चक्र ७३
विष-चिकित्सा २७८
विसर्जक अग्नि २६०
विसर्जन तंत्र ५५
वेदों में योग-विज्ञान १५

श, स, ह

शक्ति का केन्द्र १९२
शक्ति के केन्द्र १८३
शक्तिचालिनी मुद्रा १२३
शरीर में शक्ति के केन्द्र १९७
शरीर-संस्थान ४१
शलभासन ८७
शवासन ८९
शाम्भवी मुद्रा १२४
शीतली प्राणायाम ११२
शीर्षासन ८८
शुद्धि-क्रियाएँ, षट्कर्म ९०
शून्य मुद्रा १३०
श्री अरविन्द का समग्रयोग २०४
श्री अरविन्द की मान्यताएँ २०२
श्री अरविन्द की साधना पद्धति २००
श्री अरविन्द के योग का क्रियापक्ष २०७
श्रेय और प्रेय १३२
श्वसन-संस्थान ४७
श्वास-धारणा १५१
संधिवात २७९
संवेदी तन्त्र ६९
सत्यं शिवं सुन्दरम् १४०
समर्पण २१०
समर्पण योग २०६
समष्टि जगत् की १२ ज्योतियाँ २६४

	पृष्ठ		पृष्ठ
समाधि	३२	सिरदर्द	२७९
समाधि, असंप्रज्ञात	२३५	सिद्धासन	७७
समाधि का अर्थ	२३१	सहस्रार चक्र	७४
समाधि का स्वरूप	२३१	सीत्कारी प्राणायाम	१११
समाधि के भेद, उपभेद	२३२	सुखासन	७९
समाधि के ६ भेद	२३६	सूक्ष्म नाडीशोधन प्राणायाम	११७
समाधि, धर्ममेघ	२३५	सूक्ष्म शरीर की ६६ ज्योतियाँ	२६३
समाधि, निर्बीज	२३६	सूत्रनेति	९४
समाधि, निर्विचार	२३४	सूर्यभेदन प्राणायाम	१११
समाधि, निर्वितर्क	२३३	सूर्यमुद्रा	१२९
समाधि, सविचार	२३३	सौर धारणा	१५१
समाधि, सवितर्क	२३२	स्थूल शरीर	४१
सर्वांग आसन	८४	स्थूल शरीर में ६९ ज्योतियाँ	२५६
सहसंवेदी तंत्र	७१	स्नायु-दुर्बलता	२८०
सहित कुंभक प्राणायाम	११५	स्नायु-संस्थान	६१
साधक के कर्तव्य	९	स्वतंत्र स्नायु-संस्थान	६९
साधना का उद्देश्य	३	स्वस्तिक आसन	७८
साधना का स्वरूप	२, १८९	स्वाधिष्ठान चक्र	७२
साधना की विधि	६	हठयोग	२२
साधना के आधार	६	हठयोग, ८ कुंभक प्राणायाम	१०८, ११०
साधना के दो पक्ष	४	हलासन	८५
साधना के विघ्न	१२	हाइपोथलमस	६३
साधनात्रयी	२०९	हृदय	४९
सामयिक समाधि	२३६	हृदय-आघात	२८१
सायटिका	२७९	हृदय-रोग	२८०
सिर की रूसी	२७९		

❑

अध्यात्म, योग एवं जीवन-चरित

स्वामी दयानन्द जीवनगाथा	डॉ० भवानीलाल भारतीय
भारतीय मनीषा के अग्रदूत : पं० मदनमोहन मालवीय	सं० डॉ० चन्द्रकला पाडिया
शिवस्वरूप बाबा हैड़ाखान	सद्गुरुप्रसाद श्रीवास्तव
करुणामूर्ति बुद्ध	डॉ० गुणवन्त शाह
महामानव महावीर	डॉ० गुणवन्त शाह
नीब करौरी के बाबा	डॉ० बदरीनाथ कपूर
उत्तराखण्ड की सन्त परम्परा	डॉ० गिरिराज शाह
सोमबारी महाराज (उत्तराखण्ड की अनन्य विभूति)	हरिश्चन्द्र मिश्र
सन्त रैदास	श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन	नन्दलाल गुप्त
पुराण पुरुष योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी	सत्यचरण लाहिड़ी
Purana Purusha Yogiraj Sri Shayama Charan Lahiree	*Dr. Ashok Kumar Chatterjee*
योग एवं एक गृहस्थ योगी : योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी (पौत्र : महायोगी लाहिड़ी महाशय)	शिवनारायण लाल
योगिराज तैलंग स्वामी	विश्वनाथ मुखर्जी
ब्रह्मर्षि देवराहा-दर्शन	डॉ० अर्जुन तिवारी
भारत के महान योगी, भाग 1-10 (5 जिल्द में)	विश्वनाथ मुखर्जी
भारत की महान साधिकाएँ	विश्वनाथ मुखर्जी
महाराष्ट्र के संत-महात्मा	ना०वि० सप्रे
शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
महात्मा बनादास : जीवन और साहित्य	डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
पूर्वांचल के संत-महात्मा	परागकुमार मोदी
गङ्गा : पावन गङ्गा	डॉ० शुकदेव सिंह

कथा त्रिदेव की	रामनगीना सिंह
उत्तिष्ठ कौन्तेय	डॉ० डेविड फ्रॉली, अनु. केशवप्रसाद कार्यां
सब कुछ और कुछ नहीं	मेहेर बाबा
सृष्टि और उसका प्रयोजन	मेहेर बाबा
वाग्विभव	प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
वाग्दोह	प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
गुप्त भारत की खोज	पॉल ब्रंटन
मारण पात्र (सत्य घटनाओं पर आधारित योग तांत्रिक कथा प्रसंग)	अरुणकुमार शर्मा
वह रहस्यमय कापालिक मठ	अरुणकुमार शर्मा
तिब्बत की वह रहस्यमयी घाटी	अरुणकुमार शर्मा
मृतात्माओं से सम्पर्क	अरुणकुमार शर्मा
तीसरा नेत्र (दो खण्ड)	अरुणकुमार शर्मा
मरणोत्तर जीवन का रहस्य	अरुणकुमार शर्मा
परलोक विज्ञान	अरुणकुमार शर्मा
कुण्डलिनी शक्ति	अरुणकुमार शर्मा
जपसूत्रम (दो खण्ड)	स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
सोमतत्त्व	सं० प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
वेद व विज्ञान	स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
श्रीकृष्ण : कर्म दर्शन (अद्‌भुत लीला प्रसंग)	शारदाप्रसाद सिंह
रावण की सत्यकथा	रामनगीना सिंह
कृष्ण और मानव सम्बन्ध (गीता)	हरीन्द्र दवे
कृष्ण का जीवन संगीत (गीता)	डॉ० गुणवन्त शाह
हिन्दी ज्ञानेश्वरी	(अनु०) ना०वि० सप्रे
श्रीमद्भगवद्गीता (3 खण्डों में)	श्री श्यामाचरण लाहिड़ी
संत कबीर और भगताही पंथ	डॉ० शुकदेव सिंह
कथा राम कै गूढ़ (तुलसी)	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
संतो राह दुओ हम दीठा (कबीर)	सं० डॉ० भगवानदेव पाण्डेय

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

द्विवेदी

परिषद्

०

ज्वालापुर
विश्वविद्यालय
, डी०फिल्०
(वाराणसी),
फ्रेंच, रूसी
ा।

एवं प्राचार्य,
ाय, ज्ञानपुर
स्नातकोत्तर
ी)। (३)
ज्वालापुर

ण्ड, जर्मनी,
स, सुरीनाम,
की १९७६,
ें यात्रा की।

व्याकरण-
संस्कृति,
थर्ववेद का
न्धशतकम्,
नीतिशास्त्र,
शास्त्र एवं
ne Vedas,
vaveda

पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

निदेशक, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही), उ०प्र०

जन्मस्थान : गहमर (गाजीपुर), उ०प्र०

जन्मतिथि : १६.१२.१९१९ ई०

पिता : श्री बलरामदास जी

माता : श्रीमती वसुमती देवी

शिक्षा : गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (हरिद्वार), लाहौर एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय

उपाधियाँ : एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी), डी०फिल्० (इलाहाबाद), व्याकरणाचार्य (वाराणसी), विद्याभास्कर (हरिद्वार)। जर्मन, फ्रेंच, रूसी और चीनी भाषाओं में विशेष योग्यता।

शैक्षणिक सेवाएँ : (१) उपाचार्य एवं प्राचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर (भदोही) (२) प्राचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोपेश्वर (चमोली)। (३) कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (हरिद्वार)।

विदेश यात्रा : अमेरिका, कनाडा, इंग्लैण्ड, जर्मनी, हालैण्ड, इटली, स्विटज़रलैण्ड, फ्रांस, सुरीनाम, गुयाना, मारीशस, केनिया, तंजानिया की १९७६, १९८९, १९९०, १९९१ एवं १९९३ में यात्रा की।

प्रकाशन : ८० से अधिक ग्रन्थ।

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ : १. अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, २. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, ३. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, ४. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, ५. संस्कृत निबन्धशतकम्, ६. वेदों में आयुर्वेद, ७. वेदों में राजनीतिशास्त्र, ८. वेदों में विज्ञान, ९. वेदों में समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र, १०. The Essence of the Vedas, ११. A Cultural Study of the Atharvaveda

भाषाविद् डॉ. कपिलदेव द्विवेदी

की

अन्य प्रमुख कृतियाँ

- अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन
- संस्कृत व्याकरण और लघु-सिद्धान्तकौमुदी
- भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र
- प्रारम्भिक रचनानुवाद कौमुदी
- रचनानुवाद कौमुदी
- प्रौढ रचनानुवाद कौमुदी
- संस्कृत-निबन्ध-शतकम्
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति
- अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन
- वेदों में आयुर्वेद
- वेदों में राजनीतिशास्त्र
- वेदों में विज्ञान
- वेदों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र
- आत्मविज्ञानम् (संस्कृत महाकाव्य)
- भक्ति-कुसुमांजलिः (संस्कृत गीतिकाव्य)
- राष्ट्र-गीताञ्जलिः (संस्कृत गीतिकाव्य)
- शर्मण्याः प्राच्यविदः
- The Essence of the Vedas
- A Cultural Study of the Atharva-Veda

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी